संकेत रेखा

दत्तोपंत ठेंगड़ी

संकेत रेखा

सम्पादक

भानुप्रताप शुक्ल

प्रकाशक

जानकी प्रकाशन

१२९, साउथ एवेन्यू

नई दिल्ली-११००११

प्रकाशक :

रामदास पांडे

जानकी प्रकाशन

१२९-साउथ एवेन्यू

नई दिल्ली-११००११

वितरक :

भारतीय मजदूर संघ

"रामनरेश भवन"

तिलक गली, चूना मण्डी

पहाड़ गंज, नई दिल्ली-११००५५

द्वितीय संस्करण

डा॰ हेडगेवार जन्म दिवस

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा

अप्रैल १९९२

मूल्य : ६०/- रुपये

सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

मुद्रक :

सिया राम प्रिंटर्स

१५६२, मेन बाजार, पहाड़गंज

नई दिल्ली-११००५५

दूरभाष : ७७३५०४

विषय सूची

	संयोजन रेखा	११
१.	सूर्योदय के पूर्व	१७
२.	तिलकयुगीन नागपुर	२७
३.	तिलक युग का अन्त, गांधी युग का आरम्भ	३३
४.	तिलक और गांधी युग का नेतृत्व	३९
५.	परिवर्तित परिस्थितियां, अपरिवर्तित प्रेरणाएं	४७
६.	नित्यानित्य विवेक	५७
७.	डा॰ हेडगेवार की प्रासंगिकता	७५
८.	राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अपेक्षा	८३
९.	स्वयंपूर्ण कार्यपद्धति	९१
१०.	मानदण्ड	१०१
११.	आदर्श वीरव्रती	११९
१२.	एक सम्पूर्ण राष्ट्र की संकल्पना	१२५
१३.	यथार्थ और भ्रांतियां	१३९
१४.	राष्ट्र का आत्मविश्वास	१७५
१५.	राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार	१८५
१६.	हिन्दू परम्परा का संदर्भ	२०९
१७.	शब्द और अर्थ	२१९
१८.	समरसता और समता	२२९
१९.	पिछड़े बंधु	२६५
२०.	विमुक्त जातियों की समस्या	२७३
२१.	व्याधि और उपचार	२७७
२२.	विकल्प	२८३
२३.	व्यावसायिक प्रतिनिधत्व	२९१
२४.	भारत के क्रान्ति	२९९
२५.	अभिप्राय रेखा	३१९

केशव हृदय माधव

के श्री चरणों में समर्पित

यह

गंगाजले गंगापूजा

त्वदीयं वस्तु योगेश। तुभ्यमेव समर्पये।।

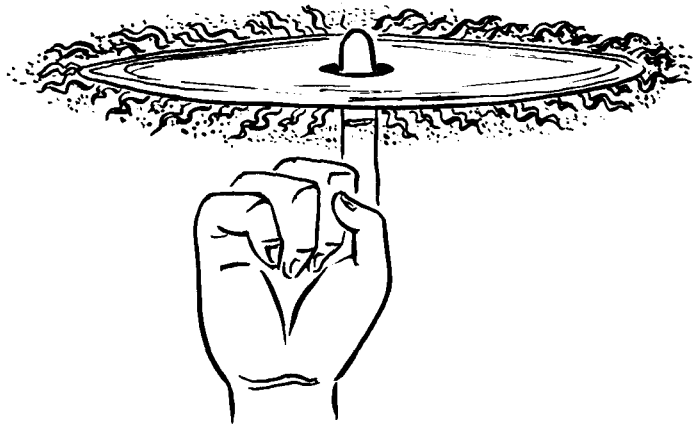

संभवामि युगेयुगे

संयोजन रेखा

प्रथमतः मैं यह स्पष्ट कर दूं कि इस पुस्तक की समस्त न्यूनताओं, त्रुटियों और दोषों का दायित्व मेरा— केवल मेरा— है। मैं नहीं चाहता कि इस दोष-दायित्व में कोई और व्यक्ति भागीदार बने।

इस पुस्तक के प्रणयन का आधार है श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी द्वारा समय-समय पर व्यक्त किए गए विचार। इनमें कुछ विचार ऐसे हैं जिनके व्यक्त किए जाने का अंतराल चौथाई शताब्दी से भी अधिक है। अनेक बार प्रयास किया कि श्री ठेंगड़ी जी यह संकलन देख लें, और तथ्यों तथा विचारों में यदि कोई असम्बद्धता-असंगतता हो तो उसे सुसम्बद्ध और सुसंगत कर दें। समय के अभाव और कार्यक्रमों के दबाव के कारण वे इसे देख नहीं सके। अनेक विषयों पर आवश्यक चर्चा भी नहीं हो पायी। मेरे प्रत्येक प्रयास का श्री ठेंगड़ी जी से एक ही उत्तर मिला : "इस विपुला पृथ्वी पर मेधावी और विचारवान व्यक्तियों की कमी नहीं है, वे भूलों को सुधार लेंगे, असम्बद्धताओं को सुसम्बद्ध कर लेंगे। अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा पर विश्वास रखिए। साधना, समर्पण और निर्माण के शब्द देवता के श्रीचरणों में अर्पित पुष्प के समान होते हैं। महत्व बोलने, लिखने और शब्दों का नहीं, आस्था का है। आस्था में शब्दों को अर्थ देने का अन्तर्भूत सामर्थ्य होता है। मैं जो कुछ बोला हूं, उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। परम्परा से प्राप्त विचार, जिन्हें अपने ऋषियों, संतों, साधकों, विचारकों की पुस्तकों में पढ़ा, परमपूजनीय स्वर्गीय श्रीगुरुजी से सुना, स्वर्गीय पंडित दीनदयाल जी उपाध्याय से चर्चा में पाया, वही सब बोला है। वही समय-समय पर बोलता रहता हूं। मेरी योग्यता इन विचारों को सुधारने या इनका भाष्य करने की नहीं है।"

श्री ठेंगड़ी जी अपनी बात कहकर मुक्त हो गए। किन्तु उनकी इस बात में सत्यांश है कि उन्होंने नया कुछ भी नहीं कहा है। इस पुस्तक में समय के संदर्भ के अतिरिक्त अपनी हिन्दू परम्परा

से प्राप्त विचारों से भिन्न नया कुछ भी नहीं है। जो कुछ नया दिखाई देगा वह अपरिवर्तनीय वैश्विक नियमों के प्रकाश में अखण्ड परिवर्तनशील समाज-रचना करते रहने के सनातन हिन्दू चिन्तन का मात्र अधुनातन प्राथमिक विचार है।

इस संकलन की प्रेरणा प्रगतिशील विचारकों और बुद्धिजीवियों को संतुष्ट करने की मानसिक विलासिता नहीं, वरन् राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कार्य में लगे सामान्य कार्यकर्ताओं को प्रथम पग के रूप में वैचारिक आधार भूमि प्रदान करना है कि "हमारी राष्ट्रीय जीवन-यात्रा का आरम्भ बिन्दु क्या था? वर्तमान में हम कहां हैं? और भविष्य में हमें कहां जाना है?" अतीत और आगत के बीच वर्तमान का यह दायित्व बोध राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रथम सीढ़ी है। इसी सीढ़ी की कुछ ईंटें यहां एकत्र की गई हैं, जिनका अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुरूप भाष्य और उपयोग करने के लिए सभी स्वतंत्र हैं। यह पुस्तक सामाजिक परिवर्तन के कार्य में लगे सामान्य कार्यकर्ताओं के लिए मात्र संकेत है, राजमार्ग नहीं।

"संकेत रेखा" की संयोजन भूमि व्यवसाय नहीं, मेरा मन है। बार-बार मना करने के बाद भी जब मन नहीं माना तो यह विचार आया कि संभवतः यह ईश्वरीय प्रेरणा हो। प्रेरणा के स्तर पर सोचने लगा तो मन भारत के तुलसी बाबा और इंग्लैण्ड के जॉन वनयन से बात करने लगा। अपने मन के ऊहापोह का मुकदमा उनकी अदालत में पेश किया तो तुलसी बाबा ने निर्णय दिया, "बिना काज दाहिने-बांए घूमते रहना जिनका स्वभाव और कार्य है, उनकी चिन्ता मत करो अपने मन के संतोष के लिए कार्य करो। स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।"

इंग्लैण्ड के जॉन वनयन ने भी कुछ इसी प्रकार कहा : "जेल के सीखचों में बैठकर लिखी गई मेरी पुस्तक "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" पढ़ लो। जिस व्यक्ति ने मेरी इस पुस्तक की पाण्डुलिपि देखी, उसने कहा यह पुस्तक क्यों लिखी है? कौन पढ़ेगा इस दार्शनिक ग्रंथ को? लोग इसे कूड़ेदान में फेंक देंगे।"

जॉन वनयन को स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने के अपराध में कैदखाने में डाल दिया गया था। उनका अपराध उनकी यह मान्यता थी कि "ईश्वर और व्यक्ति के बीच किसी बिचौलिए की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति को ईश्वर के साथ सीधा संवाद करने का जन्मजात अधिकार है। उसका यह अधिकार उससे कोई नहीं छीन सकता।"

आस्थावान जॉन वनयन को निराश करने का प्रयास अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया तो उन्होंने अपनी पुस्तक की भूमिका "अपालोजिया" में आलोचकों को उत्तर देते हुए लिखा, "मैंने यह कार्य

आत्मसंतोष के लिए किया है।" (I did it for my own self to gratify)

गोस्वामी तुलसी बाबा और जॉन वनयन के अनुभव से जुड़ा तो मेरा बहिर्मुखी मन अन्तर्मुखी हो गया। तैरना नहीं आता था तो भी चिरन्तन हिन्दू विचार-सागर में कूद पड़ा और छटपटाहट में हाथ ऊपर उठाया तो यह संकलन मेरे हाथ में था। किन्तु जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे किनारा अभी भी नहीं मिला है, मैं अभी भी सनातन हिन्दू चिन्तन के अथाह सागर में छटपटा रहा हूं।

पुस्तक की विषय वस्तु के विषय में क्या लिखूं? अपने नाम के अनुरूप सचमुच यह राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की "संकेत रेखा" ही है। आज से लगभग सड़सठ वर्ष पूर्व १९२५ की विजयादशमी के दिन एक अतिसामान्य से दिखाई देने वाले अत्यन्त असामान्य और आमतौर से अज्ञात व्यक्ति डाक्टर केशवराव बलिराम हेडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में एक सांस्कृतिक राष्ट्र यज्ञ आरम्भ किया, सनातन हिन्दू राष्ट्र जीवन का बीज भारत की धरती में पुनः बोया, अपने हृदय के रक्त को जल बनाकर उसे सींचा, साधना, समर्पण सच्चारित्र्य, अविचल निष्ठा, वज्र संकल्प, सत्कर्म एवं अन्तिम सफलता के प्रति विश्वास का अभेद्य कवच प्रदान किया और एक परमप्रतापी वैभवशाली हिन्दू राष्ट्र की जिजीविषा की अभिव्यक्ति हेतु अखण्ड साधनारत साधकों का संघ निर्माण करके जाते-जाते युग परिवर्तन और राष्ट्र के पुनर्निर्माण के इस अभिनव कार्य का दायित्व श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर "श्री गुरुजी" को मात्र यह कहकर सौंप गए कि "एक परमवैभवशाली और परंतप हिन्दू राष्ट्र की पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए हमने राष्ट्रीय स्वयंसेवक के रूप में जो यह यज्ञ आरम्भ किया है, लक्ष्य प्राप्त होने तक इसे अखण्ड और असंदिग्ध रूप में चलाते रहें।"

डा॰ हेडगेवार जी अपनी अभिलाषा का मात्र इतना ही संकेत दे पाए थे। उनके बाद श्री गुरुजी ने इस संकेत-सूत्र का भाष्य किया। तैंतीस वर्ष तक वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के माध्यम से डाक्टर जी द्वारा कल्पित परमवैभवशाली हिन्दू राष्ट्र की पुनर्प्रतिष्ठा के ध्येय और संघ के बहुआयामी कार्य के स्वरूप का भाष्य करते रहे। व्यक्ति से लेकर ब्रह्माण्ड तक का सुसूत्र विवेचन किया। सृष्टि और जीवन के सनातन सत्य से जुड़ने का उपाय बताया। डाक्टर जी द्वारा बताए गए राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मंत्र को सिद्ध करने के लिए राष्ट्र और समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय प्रतिभा का उन्मीलन करने का कार्य संघ के स्वयंसेवकों को सौंपा। धर्म, अर्थ, शिक्षा, सेवा, समाज और राजनीति आदि को शाश्वत राष्ट्रीय हिन्दू चिन्तन का आधार प्रदान करके युगानुकूल हिन्दू राष्ट्र, सर्व धर्म समभाव पर आधारित राज्य और समरसता-समतायुक्त और शोषणमुक्त समाज-संरचना का प्रयोग प्रारम्भ किया।

लक्ष्य ऊंचा और उदात्त है, कार्यपद्धति एकमेव और अद्‌भुत है, निष्ठा असंदिग्ध है, साधना में सातत्य है, समर्पण शर्तहीन है, विचार सनातन है, किंतु मार्ग कंटकाकीर्ण है। इस पथ पर चलते-चलते कभी-कभी पथिक स्वयं के लिए स्वयं ही कंटक बन जाता है। परिस्थितियों के प्रभाव के कारण कभी-कभी उसे अपने ही विचार कचोटने और कांटा बनकर चुभने लगते हैं। पथ लम्बा और पाथेय अपथ्य लगने लगता है। ऐसा "किसी एक" के साथ नहीं, "किसी एक" के अतिरिक्त अधिकांश लोगों के साथ होता है। जिस "किसी एक" के साथ ऐसा नहीं होता, वही साधना के तपोवन का दीप होता है। जिस "किसी एक" को आशा -निराशा, सफलता-असफलता और साधक-बाधक परिस्थितियां उसके ध्येय-पथ से विचलित नहीं कर पातीं, तपते मार्ग की हल्की छाया को मंजिल मानकर जो संतुष्ट नहीं होता, उस वीरव्रती की कालजयी साधना और सनातन सोच ही ध्येय पथ के पथिकों की शक्ति होती है। जितना बड़ा लक्ष्य, उतनी ही बड़ी प्रेरणा और उतना ही लम्बा पथ। छोटे रास्ते से बड़ा काम नहीं हो सकता। परिवर्तन बातों या बातें बनाने-बदलने से नहीं आता, परिवर्तन की पहली शर्त है भविष्य के प्रति पूर्ण आस्था और अपने कर्म पर भरोसा। निर्माण निहोरा देने से नहीं होता, निर्माण का प्रथम बिन्दु है साध्य का स्पष्ट ज्ञान, साधन, विधा और मार्ग पर विश्वास। वर्तमान को अतीत की दृष्टि से नहीं, अतीत को आधुनिक संदर्भ प्रदान करने से ही भविष्य युगानुकूल वर्तमान बनकर धरती पर उतरता है।

प्रकृति और परमेश्वर यथास्थिति का निषेध करते हैं। नित्य नया निर्माण प्रकृति का नियम है। किन्तु प्रकृति मूल को नहीं बदलती, मूल में से अभिनव का उन्मीलन करती है। जो कुछ अनुपयोगी और कालवाह्य हो जाता है उसका विकल्प प्रदान करती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य भी प्राकृतिक और ईश्वरीय कार्य है। संघ नवनिर्माण का पक्षधर है। वह तोड़ता नहीं, जोड़ता और बदलता है। कालवाह्य व्यवस्था, व्यवहार और विचारों को अमान्य करके युगानुकूल वैकल्पिक व्यवस्था निर्माण करने की प्रेरणा जाग्रत करता है। सनातन और शाश्वत नियमों के प्रकाश में सदा परिवर्तशील सामाजिक और राष्ट्रीय संरचना को आधुनिकतम और अनुभवसिद्ध वैज्ञानिक आधार प्रदान करता है। हिन्दू चिन्तन में काल-प्रश्नों का युगधर्मानुकूल उत्तर देने की अक्षत क्षमता है। वर्तमान के अनुभव का यह उद्‌घोष है कि हिन्दू राष्ट्र की अस्मिता-बोध के अभाव में भारत परायों की अनुकृति और प्रतिच्छाया तो बन सकता है, किंतु अपनी मौलिकता और स्वयं की प्रतिभा के आधार पर एक सर्वात्म एवं परंतप राष्ट्र के रूप में उदित नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का ध्येय और कार्य— एक सर्वात्म, समृद्ध, समर्थ,सनातन और युगानुकूल हिन्दू राष्ट्र की पुनर्प्रतिष्ठा करने के साध्य की दृष्टि से यह पुस्तक वस्तुतः एक संकेत

१. सूर्योदय से पूर्व

पच्चीस नवम्बर, १८१७ को सीताबर्डी की लड़ाई हुई। ३० दिसम्बर, १८१७ को नागपुर में भोंसलों के पुराने महल पर अंग्रेजों का यूनियन जैक लहराया गया। ६ जनवरी, १८१८ को अप्पा साहब भोंसले ने अंग्रेजों के साथ हुई संधि पर हस्ताक्षर किए। १५ मार्च, १८१८ को अप्पा साहब को अंग्रेज विरोधी षड्यंत्रकारी के रूप में कैद कर लिया गया। अंग्रेजों की सेना उन्हें प्रयाग ले जा रही थी कि १३ मई, १८१८ को रास्ते में ही अप्पा साहब अंग्रेजों के हाथ से निकल गए और गुप्त वेश में देश-भ्रमण करके विभिन्न राजाओं से सम्पर्क स्थापित करने लगे। इसी प्रयास में वे जोधपुर पहुंचे जहां उनका रहस्य खुल गया और जोधपुर के राजा ने उन्हें पकड़ लिया। किन्तु अप्पा साहब को अंग्रेजों के हवाले करने की सरकार की मांग जोधपुर के राजा ने नहीं मानी। उन्होंने जोधपुर में ही अप्पा साहब को अतिथि कैदी के रूप में सम्मानपूर्वक रखा। वहीं १८४० में उनकी मृत्यु हो गई। १३ मार्च, १८५४ को भोंसलेशाही के प्रदेश सीधे अंग्रेजी साम्राज्य में शामिल किए गए। अक्तूबर, १८५४ के अन्त में नागपुर का खजाना लूटने का काम शुरू हुआ। लूट का माल पशुओं पर लादकर ले जाने का काम एक महीने से अधिक समय तक चला। १३ जून, १८५७ को नागपुर के निकट टाकली के घुड़सवार दल ने अंग्रेजों के विरोध में विद्रोह का झंडा लहराया। किंतु उसको दबा दिया गया। इसके कुछ माह बाद चन्द्रपुर विभाग के गोंड लोगों ने अंग्रेजों को ललकारा। परन्तु उनकी लड़ाई अधिक समय तक न चल सकी। उनके नेता बापूराव गोंड तथा व्यंकट राव गोंड को पकड़ लिया गया। २० अक्तूबर, १८५८ को इन दोनों स्वातंत्र्य-वीरों को अंग्रेजों ने मार डाला। इस प्रदेश के स्वातंत्र्य युद्ध की समाप्ति इन दो गोंड सेनानियों के आत्मबलिदान से हुई। सन् १८६१ में नागपुर तथा सागर संभाग को मिलाकर "सेंट्रल प्रोविंसेज" की शासकीय इकाई बनाई गई और इस प्रदेश में अंग्रेजी राज के सुदृढ़ीकरण का काम पूरा हुआ।

हजारों मील दूर से अत्यल्प संख्या में यहां आकर साम्राज्य स्थापित करना तथा उसको टिकाना कितना कठिन होता है, इसकी कल्पना वे नहीं कर सकते जो यह मानते हैं कि सत्ता प्राप्ति के लिए सस्ती लोकप्रियता ही पर्याप्त है, जबकि इसके लिए पूर्व तैयारी, निरंतर सावधानी तथा भविष्य-दृष्टि की आवश्यकता हुआ करती है। ये कार्य कठोर परिश्रम से ही सम्पन्न होते हैं। अंग्रेज

सेंट्रल प्रोविंसेज में जब सत्ता से कोसों दूर थे, तभी से उन्होंने इस प्रदेश के विषय में सर्वंकष जानकारी एकत्रित करनी शुरू की थी। यहां की सामान्य भौगोलिक स्थिति, सामरिक दृष्टि से विभिन्न विभागों की जानकारी, भाषाएं तथा साहित्य, कला, शास्त्र, यहां की ऋतु, पशु-पक्षी, फसलें, वन तथा वन्य वस्तुएं, स्थानीय लोग, उनके विभिन्न विभाग, जातियां, उपजातियां— हर जाति तथा उपजाति का पूर्व इतिहास, धार्मिक मान्यताएं, सामाजिक रीति-रिवाज, सार्वजनिक उत्सव, विभिन्न जातियों और उपजातियों के नेताओं के नाम, उनके स्वभाव, उनके बल तथा दुर्बलताओं के बिन्दु आदि संभावित जानकारी अंग्रेजों के पास सत्ता हाथ में आने के पूर्व से ही थी। उनकी पुस्तिका—मैन्युअल— में इन सब पहलुओं के बारे में बहुत बारीकी के साथ जितनी जानकारी ग्रंथित रहती थी उतनी समग्र जानकारी स्थानीय लोगों को भी नहीं होती थी। पिछली शताब्दी के नागपुर का समग्र चित्र जितना अंग्रेजों के पास था, उतना किसी भी स्थानीय व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के पास नहीं था। इसी आधार पर साम्राज्य निर्माण करके वे उसकी नींव मजबूत बना सके। इस प्रक्रिया के लिए आवश्यक विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने व्यक्तिगत सम्बन्ध पहले से ही निर्माण किए हुए थे। वे हमारे राष्ट्र के शत्रु अवश्य थे, किन्तु यह स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए कि उनकी यह कार्यपद्धति किसी भी विजिगीषु समाज के लिए अनुकरणीय है।

नागपुर तथा आसपास के प्रदेश में गोंड लोगों की बस्ती अधिक होने के कारण उस क्षेत्र को पहले "गोंडवन" नामाभिधान प्राप्त था। आज इनके बारे में यह धारणा है कि ये पिछड़ी वनवासी जाति के लोग हैं, किंतु उस समय यह बात नहीं थी। उनके बड़े-बड़े राज्य थे। भारत के अन्य क्षत्रियों के समान गोंडों में भी क्षात्रधर्मी लोग थे। उनको राजगोंड कहा जाता था। अभी भी नागपुर में गोंड राजा का किला वास्तु जीवमान है। देश के अन्य क्षत्रियों के समान ही गोंड भी शूरमा और शौर्यवान थे। रानी दुर्गावती का पराक्रम कौन नहीं जानता। इस प्रदेश में उन दिनों जंगल बहुत थे। गोंड नगरों, ग्रामों और वनों में सर्वत्र बसे हुए थे। किंतु निवास के आधार पर कोई भेद निर्माण नहीं हुए थे। बिरादरी एक ही थी, निवास-स्थान भिन्न थे। राज्यकर्ता गोंड तथा वनों में रहने वाले गोंड एक ही बिरादरी के थे और दोनों वैसा अनुभव भी करते थे। भोंसलों की अधिसत्ता स्थापित होने के पश्चात् उन्होंने भी गोंडों की स्वायत्त रचना में कहीं भी, कोई भी हस्तक्षेप नहीं किया। भोंसलेशाही के अन्य प्रजाजनों के साथ गोंडों के सम्बन्ध अपनेपन के थे। भोंसलों की यह विशेषता रही कि सम्पूर्ण प्रजा के साथ उनके पितृवत सम्बन्ध रहें। उनका व्यवहार सभी के साथ समदृष्टि का रहा, इस कारण विभिन्न जातियों तथा सम्प्रदायों के लोगों में परस्पर सामंजस्य बना रहा।

नागपुर के प्रमुख समुदाय थे, महार, गोंड, कोष्टि, बुद्धिजीवी, देशी कारीगर आदि। इन सभी के परस्पर सम्बन्ध मधुर थे। गोंड भी सबके साथ अपनापन महसूस करते थे। मुसलमानों की संख्या नगण्य थी।

यह वस्तुस्थिति अंग्रेजों को अखरने वाली थी, क्योंकि उनकी "फूट डालो और शासन चलाओ" नीति के लिए यह स्थिति अनुकूल नहीं थी। उन्होंने धीरे-धीरे अपनी रणनीति बनाई।

भोंसलों के जमाने में जंगलों का उपयोग उनके समीपवर्ती गांवों के लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार समान रूप से करते थे। जंगल सबकी साझा सम्पत्ति थे। अब अंग्रेजों ने गोंडों को यह बताना शुरू किया कि जंगलों पर केवल तुम लोगों का ही अधिकार होना चाहिए। जंगल की लकड़ी और वहां पैदा होने वाली चीजों पर तुम्हारा अधिकार है। बाहर के लोग आकर यहां की लकड़ी और यहां उत्पन्न होने वाली वस्तुएं ले जाते हैं। यह तुम्हारे अधिकारों पर आक्रमण है। इसमें तुम्हारा नुकसान है। इस आक्रमण को रोकना तथा जंगलों की सभी चीजों को अपने लिए सुरक्षित रखना ही तुम्हारे हित में है, और अंग्रेज सरकार ऐसी व्यवस्था बना सकती है।

परिस्थितिपूर्ण नियंत्रण में आने के पश्चात् सरकार ने वनवासियों के अधिकारों में धीरे-धीरे अधिकाधिक कटौती करनी शुरू की। किंतु यह प्रक्रिया बहुत धीमी थी, इस कारण किसी भी स्तर पर किसी को भी एकदम चुभने वाली नहीं थी। यह रेगमाल प्रक्रिया (सैण्ड पेपर ट्रीटमेंट) लम्बी देर तक चलने के पश्चात ही लोगों के ध्यान में आनी संभव थी। हुआ भी वैसा ही। अब तो वनवासियों के आन्दोलन इसलिए भी होने लगे हैं कि जंगलों पर उनके परम्परागत अधिकार वापस होने चाहिएं। किन्तु सवा सौ, डेढ़ सौ साल के पूर्व हालत दूसरी थी। अंग्रेजों की बात उन्हें आकर्षक लगी। फूट के बीज बोने में अंग्रेज सफल हुए।

नागपुर के समाज में प्रमुख स्थान रखने वाली जातियों में महार और कोष्टि (बुनकर) की गिनती होती थी। महार लोगों को भोंसलों की सेना में संख्या तथा पद, दोनों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। महाराष्ट्र के महारों का पराक्रम हिन्दू साम्राज्य के संवर्धन में सहायक रहा है। इसी कारण पेशवाओं की सेना में भी उनको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। भोंसलों के पूर्व दिग्विजय के दौरान महारों ने अच्छा कार्य किया था। विजय प्राप्त होने के पश्चात प्रशासन कायम करने के समय नागपुर से उड़ीसा तथा नागपुर से बंगाल तक जो सैनिक चौकियां बनाई गईं, वे प्रमुख रूप से महारों के ही हाथ में थीं। भोंसलों का व्यवहार उनके प्रति सम्मानपूर्ण होने के कारण उनके मन में स्वाभिमान, स्वामिनिष्ठा तथा समाज के विषय में आत्मीयता थी। अंग्रेजी शासन ने उनको महत्व तो नहीं दिया, किन्तु उनके स्वाभिमान को चोट न पहुंचे, यह सावधानी अवश्य बरती।

नागपुर के सूती तथा रेशमी वस्त्रों की मिस्र तथा यूरोप के बाजारों में बहुत मांग थी। इसके निर्माता कोष्टि (बुनकर) थे। इस उद्योग को राजाश्रय प्राप्त होने के कारण इसे सभी आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हुआ करती थीं। अब राजाश्रय समाप्त हुआ। देशी दस्तकारियों को समाप्त करना अंग्रेजों की नीति रही। इंग्लैण्ड में मशीनों पर बुने कपड़ों को कर मुक्त करके उन्होंने भारत लाना शुरू कर दिया। परिणामतः कोष्टि लोगों का व्यवसाय गिरने लगा और उनकी पहले की आर्थिक समृद्धि कम होने लगी। इस कारण इस समाज में असंतोष तो पैदा हुआ किन्तु वह उस सीमा तक नहीं पहुंचा कि उनके मन में विद्रोह की इच्छा का निर्माण हो।

सम्पूर्ण देश की तरह नागपुर प्रदेश में भी किसानों की संख्या बहुत थी। भोंसलों के राज में किसानों से लगान वसूल करने की पद्धति सरल तथा मानवीय थी। किसान के पास उसके परिवार के पोषण के लिए पर्याप्त अनाज रहे तथा अगली फसल निकालने की हैसियत भी रहे, इसकी

चिन्ता करते हुए लगान वसूल किया जाता था। शासक तथा किसान के बीच व्यक्तिगत स्तर के सम्बन्ध थे। अंग्रेजों ने इस व्यक्तिगत स्तर का स्वरूप बदलकर अवैयक्तिक बना दिया। उन्होंने गांवों में जमींदार तथा मालगुजार वर्ग का निर्माण किया और उनको सम्पत्ति के पूर्ण अधिकार प्रदान किया जो कि हिन्दू परम्परा के प्रतिकूल था— हिन्दू परम्परा में भूमि पर निजी मालकियत के लिए स्थान नहीं था। यह घड़ी ग्रामीण अपक्रान्ति की थी। इस नए वर्ग, जमींदार तथा मालगुजार, में लगान के रूप में अधिकाधिक धन वसूल करने की प्रवृत्ति बढ़ने के कारण किसानों पर जुल्म-जबर्दस्ती करने की इच्छा भी बढ़ने लगी। शोषित-पीड़ित किसानों द्वारा आवाज उठाने का प्रयास करने पर सरकार पूरी शक्ति के साथ उत्पीड़न करने वाले इस नए वर्ग का समर्थन करने के लिए सामने आती थी। इस कारण नागपुर प्रदेश के किसानों में घोर असहायता का भाव व्याप्त हुआ।

औद्योगिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ तो हुई थी किन्तु नियमित अर्थ में मजदूर वर्ग का निर्माण तब तक नहीं हुआ था। प्रदेश में यातायात के साधनों की कमी थी। नागपुर में पहली रेलवे सन् १८६७ में आई। उसके बाद इस शताब्दी के प्रारम्भ तक चार रेलवे लाइनें और आईं। नागपुर से पांच प्रमुख केन्द्रों को जोड़ने वाले पांच पक्के रास्ते बने; तो भी यातायात के साधनों की कितनी कमी थी, इसका अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १९०८ तक नागपुर को वर्धा या विदर्भ से जोड़ने वाला अच्छा रास्ता नहीं बना था। सन १८७० में नागपुर में मॉडल मिल की स्थापना हुई। १८७७ में एम्प्रेस मिल का निर्माण हुआ। दोनों मिलों में काम करने वाले मजदूरों में आज के अर्थ में मजदूर भाव नहीं था। व्यक्तिगत अपमान की प्रतिक्रिया के रूप में एकाध संगठन था लेकिन नेतृत्व के नाते वह मान्य अर्थ में ट्रेड यूनियनवाद का परिणाम नहीं था। देश में भी तब तक ट्रेड यूनियनवाद का जन्म नहीं हुआ था।

भोंसलों के समय प्रदेश की स्थानीय जनता में स्थानीय मुसलमानों का स्थान उल्लेखनीय नहीं था। यह सही है कि भोंसलों तथा उनके कुछ सरदारों, मनभट पंडित जैसों के पास अरब सैनिकों की पलटनें थीं और उनका कार्यकलाप भी संतोषजनक था। २५ नवम्बर, १८१७ को सीताबर्डी की लड़ाई में हिन्दुओं के साथ अरब सैनिकों ने भी पराक्रम किया था। किन्तु वे स्थानीय नहीं थे। स्थानीय मुसलमानों की संख्या नगण्य थी तो भी अंग्रेजों ने पुलिस विभाग तथा अन्य अधिकार वाले पदों पर पचास प्रतिशत से अधिक स्थानों पर मुसलमानों की नियुक्ति की । ८ जुलाई, १८७९ के 'बरार मित्र' के सम्पादकीय ने सवाल किया था कि "क्यों केवल मुसलमानों को ही तहसीलदार के पद नियुक्त किया जाता है?" पुलिस तथा अफसरशाही के मन में यह भाव स्पष्ट रूप से निर्माण किया गया कि तुम स्थानीय जनता से श्रेष्ठ हो, उन पर नियंत्रण रखने का काम तुम्हारे हाथ में है। इन दोनों को आम नागरिकों के विरोध में खड़ा कर दिया गया।

उन दिनों ईसाइयों की स्थिति ध्यान देने लायक नहीं थी। सन् १८४५ में यहां स्टीफन हिस्लॉप ने स्काटिश मिशन की स्थापना की। उसके पश्चात यहां मिशनरियों का कार्य प्रारम्भ हुआ। किन्तु उस समय नागपुर वाले "प्रगतिशील" तथा "उदारवादी" नहीं, "दकियानूसी" थे। एक मिशनरी

मिस्टर वॉस की उन्होंने अच्छी पिटाई की तो इस कारण मिशनरी कुछ दब गए। किन्तु सन् १८५४ के पश्चात उनका हौसला बढ़ा। फिर भी इस नए क्षेत्र में अपना शासन मजबूत होने तक अंग्रेज कोई भी नया बखेड़ा मोल लेना नहीं चाहते थे। इस कारण १८८९ तक स्थानीय स्तर पर ईसाइयों के अस्तित्व की अनुभूति नहीं होती थी।

भोंसले विद्वत्ता तथा शास्त्रकला के आश्रयदाता थे। उनकी यह कीर्ति नागपुर के बाहर भी फैली हुई थी। इस कारण बाहर से भी अच्छे लोग नागपुर की तरफ आकृष्ट होते थे। तेलंगाना से उन दिनों कई विद्वान तैलंग ब्राह्मण नागपुर प्रदेश में आकर बसे। ज्ञानकोशकार डा॰ श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने लिखा है कि तैलंग ब्राह्मण प्रकृत्या क्रोधी थे किन्तु भोंसलेशाही में सामाजिक सामंजस्य का वायुमण्डल इतना प्रभावी था कि ये "परदेशी" ब्राह्मण आसानी से स्थानीय जनता में धुलमिल गए। अंग्रेजी शासन में पश्चिम महाराष्ट्र से भी नौकरियों के लिए ब्राह्मण लोग नागपुर आए। वे स्थानीय जनता में घुलमिल न जाएं, यह चिन्ता अंग्रेजों को थी। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार उस समय विशेष रूप से दो जातियों— ब्राह्मण तथा चान्द्रसेनीय कायस्थों— में था। इसलिए नौकरियों में इनका प्रमुख स्थान था। अंग्रेजों ने सूक्ष्म पद्धति से स्थानीय तथा बाहर के लोगों के मन में अलगाव की भावना पैदा की। पश्चिम महाराष्ट्र से आए हुए कोंकणस्थ ब्राह्मणों के मन में यह भाव जाग्रत किया गया कि वे स्थानीय लोगों से श्रेष्ठ हैं, इसीलिए तो बाहर से आकर वे प्रशासनिक पद संभाल रहे हैं। स्थानीय ब्राह्मणों के मन में यह भाव जाग्रत किया गया कि स्थानीय नौकरियों पर वास्तव में स्थानीय लोगों का ही अधिकार है। ये कोंकणस्थ लोग बाहर से आकर उनके अधिकार पर आक्रमण कर रहे हैं। भोंसलेशाही का सामाजिक समरसता का वायुमण्डल और अंग्रेजों की नीति के कारण निर्माण होने वाले विभेद में कितना अन्तर था, यह तेलंग ब्राह्मणों तथा कोंकणस्थ ब्राह्मणों के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

"ब्राह्मण" शब्द जातिवाचक है। किन्तु ब्रिटिश प्रशासन-पद्धति की विशेषता ने जनमानस में "ब्राह्मण" की प्रतिमा को अधिक विस्तृत कर दिया। उस प्रतिमा में ऐसी भी कुछ थोड़ी अब्राह्मण जातियां शामिल की गईं जिनके पास जीविकोपार्जन के लिए न तो पर्याप्त जमीन थी और न ही कोई धनोत्पादक आनुवांशिक धंधा। इन जातियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। आजकल ऐसे लोगों को "मध्यमवर्गी" कहा जाता है। उन दिनों मध्यमवर्ग संज्ञा प्रचलित नहीं थी। यद्यपि वर्ग के रूप में मध्यमवर्ग का उदय हो रहा था। वह समाज की एक अलग इकाई बन गया था। अस्पष्टता के इस संधिकाल में जनमानस में ब्राह्मण और मध्यमवर्गीय में अभेद निर्माण होना स्वाभाविक था। ब्राह्मण शब्द के उच्चारण से लोगों में सम्पूर्ण मध्यमवर्ग का बोध होता था। यह वर्ग सुशिक्षित था, जाग्रत था और इनमें से बहुत से लोग ऊंचे पदों पर थे। इस कारण ऐसा प्रतीत होने लगा कि यही वर्ग जाग्रत नागपुर का प्रतिनिधि और नेता है। इस वर्ग का वायुमण्डल अर्थात नागपुर का वायुमण्डल; इनकी गतिविधियां अर्थात् नागपुर की गतिविधियां। साहित्यकार जब नागपुर के मानस के बारे में लिखते थे तब उनके मन में यह मध्यमवर्गीय मानस ही रहता था।

डॉक्टर केतकर ने नागपुर के मध्यमवर्ग का व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन, उसको प्रभावित करने वाले व्यक्ति, उनके विशिष्ट स्वभाव, जीवन-मूल्य और अंग्रेज अफसरों के पीछे चक्कर काटने वाले देशज लोगों की रीति-नीति आदि बातों का वास्तविक विवरण बहुत अच्छे तथा मनोरंजक ढंग से किया है। नागपुर का अध्ययन करने वाले सभी जिज्ञासुओं के लिए उस काल के मध्यमवर्ग पर लिखा उनका उपन्यास "गोंड वनातील प्रियम्बदा" कादम्बरी कथा साहित्य होते हुए भी एक प्रामाणिक सामाजिक दस्तावेज है। उसके कथानक का प्रारंभ सन् १८९३-९४ से होता है।

हाथ की उंगलियों पर गिनने लायक कुछ बंगाली परिवार भी प्रशासनिक कारणों से नागपुर में थे। यद्यपि माना जाता है कि उन दिनों नागपुर "पूर्व दृष्टि" (छत्तीसगढ़, छोटानागपुर, उड़ीसा और बंगाल) था।

नए प्रशासन के लिए नई तरह के लोगों की आवश्यकता थी। प्रशासन की सुविधा एवं लोगों के अंग्रेजीकरण की दृष्टि से संस्कृत विद्या का स्थान अंग्रेजी को देना आवश्यक था। सन् १८५३ के बाद संस्कृत को योजनापूर्वक गौण स्थान दिया जाने लगा। सेंट्रल प्रोविंसेज (मध्य प्रान्त) में अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात सागर में हुआ। उसके बाद अंग्रेजी नागपुर में आई। सागर में आंग्ल विद्याभूषित पहले सज्जन श्री कृष्ण राव रिंगे थे। नागपुर में एम॰ ए॰ की परीक्षा सर्वप्रथम पास करने वाले विद्यार्थी श्री किनखेड़े को हाथी पर बिठाकर शोभा-यात्रा निकाली गई थी। कई जिला केन्द्रों में अंग्रेजी शिक्षा के केन्द्र खोले गए। यह सब होते हुए भी सन् १८८९ तक अंग्रेजीकरण में सफलता नगण्य ही थी। मध्य प्रान्त में सर्वप्रथम भारतीय कालेज में प्रिंसिपल के नाते काम करते समय श्री केशव गोपाल उपाख्य बापूजी तामन मॉरिस कालेज में परम्परागत हिन्दू वेशभूषा में ही रहते थे और नागपुर के पठिक वैदिकों में उनकी गिनती होती थी।

एक विद्वान साहित्यिक ने लिखा है कि अंग्रेजों ने देशजों को काले अंग्रेज बनाने के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया। सामान्यजनों पर उनके संस्कारों का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया। किन्तु अंग्रेजों के लिए अनपेक्षित बात यह हुई कि इसी शिक्षा प्रणाली से पश्चिम महाराष्ट्र में वासुदेव बलवन्त फड़के, रानडे, तिलक, गोखले, परांजपे आदि देशभक्त भी पैदा हुए। मध्य प्रान्त में भी यही हुआ। इस दृष्टि से मनश्चक्षु के सामने आने वाले प्रमुख व्यक्ति हैं दादासाहब खापर्डे, डॉ॰ मुंजे, लोकनायक अणे, तपस्वी बाबासाहब परांजपे, अच्युत बलवंत कोल्हटकर, डॉ॰ परांजपे, 'हरिकिशोर' कार, पृथ्वीगीर गोसावी और शामराव दादा देशपाण्डे आदि। किन्तु यह सब पर्याप्त अंतराल के पश्चात हुआ। सन् १८८९ तक इन देशभक्तों का सक्रिय जीवन आरम्भ नहीं हुआ था। लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ॰ हडेगेवारजी के जन्म के थोड़े ही साल पूर्व जिन महापुरुष के कार्यकलाप ने नागपुर प्रदेश को हिला दिया था, वे भी आंग्ल विद्याविभूषित थे। किन्तु वे नागपुर प्रदेश के नहीं थे। उनका नाम था अण्णा साहब पटवर्धन।

महापुरुष अण्णा साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी, कट्टर देशभक्त तथा अलौकिक व्यक्ति थे। उनका विचार था कि परकीय सत्ता के विरोध में कोई भी षड्यंत्र तब तक सफल नहीं हो सकता

जब तक कोई न कोई, छोटा सा ही क्यों न हो, भूप्रदेश पूर्णरूपेण षड्यंत्रकारियों के कब्जे में न हो। उनके अनेक विश्वासपात्र साथियों को भी यह विचार एक अव्यावहारिक दिवास्वप्न मात्र प्रतीत होता था, किन्तु अण्णा साहब निराश नहीं थे। वे सोचते थे कि अनुकूल स्थिति कभी-न-कभी आ सकती है।

सन् १८५३ में अंग्रेजों का कर्जा वापस करने में निजाम की असमर्थता के कारण लार्ड डलहौजी ने कर्ज के पैसों की एवज में निजाम का विदर्भ प्रदेश अंग्रेजी राज में शामिल कर लिया था। सन् १८५७ में निजाम की अंग्रेज निष्ठा के पारितोषिक के रूप में दक्षिण विदर्भ उनको वापस किया गया। उत्तर विदर्भ सन् १९०३ तक अंग्रेजों के हाथों में था। सन् १८८० में अण्णा साहब को खबर मिली कि निजाम के दीवान सालारजंग के मन में अंग्रेजों के विषय में अप्रीति है और वे अंग्रेजों के कब्जे से विदर्भ वापस लेना चाहते हैं। किन्तु अर्थाभाव के कारण वे अपनी इच्छा पूरी नहीं कर सकते थे। अण्णा साहब ने अपने वकीलों के माध्यम से सालारजंग के सामने एक योजना रखी कि कर्जे की पूरी राशि अण्णा साहब हैदराबाद की फ्रेंच बैंक जमा करेंगे, सालारजंग वह पैसा लेकर अंग्रेजों से विदर्भ वापस लेंगे और फिर उसे अण्णा साहब को सौंप देंगे। इस तरह विदर्भ खरीदने की योजना थी।

यह योजना सुनकर सालारजंग दंग रह गए। उनके सामने प्रश्न यह था कि क्या कोई व्यक्ति इस तरह प्रदेश को खरीदने की हैसियत रख सकता है? साथ ही यह विचार भी आया कि इसके परिणामस्वरूप विदर्भ अंग्रेजों से वापस लेने की उनकी इच्छा पूरी हो सकती है। किन्तु उनको भी यह एक दिवास्वप्न प्रतीत हुआ कि क्या एक सामान्य व्यक्ति वास्तव में इतनी बड़ी रकम जमा कर सकेगा। परन्तु सोचा कि इस दृष्टि से अण्णा साहब की परीक्षा लेकर देखनी चाहिए। यदि वे परीक्षा में पास होते हैं तो अगला कदम उठाया जाएगा। सालारजंग को लगता था कि इस परीक्षा में अण्णा साहब के पास होने की कोई भी संभावना नहीं है। उन्होंने अण्णा साहब के वकीलों को कहा कि पहले उनके मालिक सालारजंग को एक दिन के लिए दो करोड़ रुपए देने का काम तुरंत करके दिखाएं, बाद में बातचीत होगी। सालारजंग तब खुद पर विश्वास नहीं कर सके जब अण्णा साहब के वकीलों ने नियत समय के अन्दर दो करोड़ रुपयों की धनराशि उनके सामने रख दी। यह एक अभूतपूर्व घटना थी। सालारजंग के मन में अण्णा साहब के विषय में विश्वास निर्माण हुआ, और अगली बात करने के लिए वे तैयार हो गए। सन् १८८० के अक्तूबर में सालारजंग ने संदेश दिया कि इस योजना को वे मोटेतौर पर स्वीकार करते हैं। इसकी तफसील और इसे बारीकी के साथ तय करने के लिए पहले दोनों की गुप्त बैठक यथाशीघ्र हो। ऐसा सोचा गया कि अण्णा साहब के मद्रास से वापस आते समय यह मुलाकात हो सकती है। किन्तु नियति का विचार कुछ और ही था। अण्णा साहब मद्रास में ही थे तभी उनको यह समाचार मिला कि सालारजंग की मृत्यु हो गई। इस वज्राघात को उस महर्षि ने किस तरह सहन किया होगा यह सोच पाना कठिन है। किन्तु एक कठोर वास्तविकता सामने आई कि एक ओर यह महान योजना असफल हुई और दूसरी ओर इस बड़ी राशि का बड़ा ब्याज वापस

लौटाने का काम अण्णा साहब को जीवन के अन्त तक करना पड़ा। लेकिन "दन्तच्छेदो हि नागानाम् श्लाध्यो गिरिविदारणे।"

योजना तो असफल हो गई किन्तु उसकी वार्ता धीरे-धीरे बाहर फैलते ही नागपुर प्रदेश के जनमानस में बिजली की तरह एक लहर सी दौड़ गई।

वैसे भी नागपुर के लोग बहादुरी के कद्रदान रहे हैं। पारतंत्र्य आने के पश्चात् भी उनके पुराने मर्दाना शौक कायम रहे। वायुमण्डल में कुश्ती, मल्लखम्ब, दण्डपट्टा आदि का प्रभाव बना रहा। सन् १८५७ में ही आयुध अधिनियम (आर्म्स एक्ट) लागू किया गया था। सन् १८७८ में उसका पुनर्नवीकरण भी हुआ। फिर भी नागपुर वालों ने दण्ड, खड्ग शूल आदि की शिक्षा जारी रखी। शिक्षा के समय असली और नकली, दोनों प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग होता था। विजयादशमी का शस्त्रपूजन तथा सीमोल्लंघन पूर्ववत् जारी रहा। शस्त्रों का संग्रह तथा शस्त्र विद्या में नैपुण्य की बातें सराहनीय मानी जाती थीं। साधना के नाते यह नैपुण्य प्राप्त करने वाले कुछ लोग नागपुर में थे। श्री दामोदर बलवन्त उपाख्य भिड़े भटजी इस प्रकार के साधकों में से एक थे। आगे चलकर उन्होंने ही श्री अण्णा सोहनी को दण्ड के युद्धयोग की शिक्षा दी। मतलब यह कि वायुमण्डल पर प्रभाव नजाकत का नहीं था, शस्त्रादि विद्या की तेजस्विता का था। इसी कारण डॉ. मुंजे जैसे व्यक्ति को नागपुर में आराम से रहते हुए पैसा कमाने के बजाय बोअर युद्ध में जाने की इच्छा हुई।

पिछली शताब्दी में जिन विभिन्न विचारधाराओं तथा कार्यप्रणालियों का देश में उदय हुआ, उन सबकी बातें और विचार नागपुर की जनता तक पहुंचते रहते थे। उस समय राजनीतिक दृष्टि से दूरगामी परिणाम करने वाली घटना थी इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना। किन्तु इस घटना ने नागपुर के जनसाधरण के मन में वह उत्सुकता या आत्मीयता के भाव का निर्माण नहीं किया जो इसके पूर्व उमाजी नाईक के विद्रोह, अठारह सौ सत्तावन के स्वातंत्र्य समर, गोभक्त रामसिंह कूका या डावरे के आत्मबलिदान, चाफेकर बंधुओं के हौतात्म्य और वासुदेव बलवंत फड़के के साहस ने किया था। साधारण आदमी ने कांग्रेस की स्थापना की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु सुशिक्षित मध्यमवर्ग में कुछ जिज्ञासा जाग्रत हुई। यह भावना मध्यमवर्गीयों के मन में पहले से ही थी कि कुछ न कुछ सार्वजनिक कार्य करना चाहिए। उनमें से श्री बोस आदि दो-चार व्यक्ति कलकत्ता में हुए कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में गए और वहां से वापस आने के बाद उन्होंने थोड़ा-बहुत कार्य शुरू किया। इसके पश्चात पुणे की सार्वजनिक सभा का अनुकरण करते हुए लोक सभा नामक संस्थान इन्हीं सुशिक्षित लोगों ने आरम्भ की, किन्तु वह अधिक दिनों तक चल नहीं सकी। लेकिन कांग्रेस का कार्य कुछ थोड़े से सुशिक्षितों ने जारी रखा। उसका दायरा बहुत सीमित था और मध्यमवर्गीयों में से भी केवल उच्च श्रेणी के लोग उस कार्य में उत्साह दिखाते थे। कांग्रेस का सातवां अधिवेशन सन् १८९१ में नागपुर में (लालबाग) में हुआ। उसकी अध्यक्षता श्री पी. आनन्दाचार्लू ने की। इसी वर्ग विशेष में कांग्रेस का कार्य आगे भी चलता रहा। नागपुर के साधारण नागरिकों के मन में वह इसलिए जड़ नहीं जमा पाया कि उस कार्य का स्वरूप नागपुर के स्वभाव के अनुकूल नहीं था। उन दिनों कांग्रेस कितनी "शाकाहारी" संस्था थी इसका यहां एक ही उदाहरण

प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा। सर शंकरन नायर की अध्यक्षता में सन् १८९७ में अमरावती में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। स्वयं दादा साहब खापर्डे उसके स्वागताध्यक्ष थे, तो भी अधिवेशन में तिलक जी की रिहाई की मांग करने वाला प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। इतना ही नहीं, अधिवेशन के सभामंडप में तिलक जी का चित्र लगाने का कुछ युवकों का प्रयास भी सफल नहीं हो सका। जबकि वास्तविकता यह है कि कांग्रेस को लोकाभिमुख करने का कार्य लोकमान्य तिलक ने ही किया था। तिलक जी ने श्री शिवरामपंत परांजपे के "काल" पत्र और आगे उससे भी अधिक मात्रा में जन-जागृति का कार्य "केसरी" के माध्यम से किया था। सम्पूर्ण मराठी भाषी क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना और केसरी शब्द पर्यायवाची माने जाते थे। देश के क्षितिज पर दो दशकीय "तिलक युग" का उदय ४ जुलाई, १८९९ के तिलक जी के केसरी में प्रकाशित **"पुनश्च हरिः ॐ"** लेख से हुआ था। किन्तु कांग्रेस पर तिलक जी की विचारधारा का प्रभाव प्रस्थापित होने में अभी कई वर्ष बाकी थे।

ब्रिटिश कालखण्ड में जो नई विचारधाराएं तथा कार्यप्रणालियां निर्माण हुईं उन सबको मिलाकर कुछ विचारक "नवजागरण" संज्ञा का प्रयोग करते हैं। इनमें थियोसाफिकल सोसायटी का नाम सन् १८८९ तक नागपुर प्रदेश तक पहुंचने का सवाल ही नहीं उठता। ब्रह्म समाज की चर्चा शेष देश के सुशिक्षित लोगों में बहुत थी। राजा राजमोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचंद्र सेन तथा ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि महापुरुषों के नाम तथा कार्य से नागपुर अवश्य परिचित था। किन्तु यहां ब्रह्म समाज की संस्था के नाते चर्चा नहीं थी, महापुरुष के नाते यहां स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद की चर्चा थी, किन्तु कार्यप्रणाली के नाते नहीं।

स्वामी दयानन्द नागपुर आए थे। उनका यहां निवास-प्रवास प्रेरणादायक रहा। उसके परिणामस्वरूप आर्य समाज का कार्य तुरन्त आरम्भ नहीं हुआ तो भी स्वामीजी की प्रेरणा से नागपुर में उसी वर्ष "गोरक्षण सभा" का निर्माण हुआ, जिसकी १८८५ के अन्त तक मध्य प्रान्त और बरार में ४९ शाखाएं खुल गई थीं। सर नारायणराव चन्दावरकर आदि के प्रार्थना समाज का नागपुर में तब तक केवल नाम पहुंचा था। पश्चिम महाराष्ट्र में लोकहितवादी रा॰ ब॰ गोपालहरि देशमुख से लेकर महात्मा ज्योतिबा फुले तक सामाजिक सुधार का जो प्रथम अध्याय प्रारम्भ हुआ था, उसकी समाप्ति महात्मा फुले की मृत्यु के साथ हुई। (महात्मा फुले की निर्वाण शताब्दी और संघ संस्थापक डॉ॰ हेडगेवार जी की जन्म-शताब्दी नजदीक-नजदीक ही आती है।) इस समाज सुधार आन्दोलन की चर्चा नागपुर प्रदेश में भी उन दिनों चलती थी, किन्तु चर्चा में रुचि लेने वालों की संख्या उच्च शिक्षित मध्यमवर्गीय लोगों तक ही सीमित थी।

महात्मा फुले प्रणीत सत्यशोधक समाज का कार्य उस समय तक पश्चिम महाराष्ट्र में काफी बढ़ चुका था। किन्तु इस आन्दोलन की विशेषता यह रही कि यह सभी मराठी भाषी लोगों के लिए था तो भी महात्मा फुले की मृत्यु तक तथा उसके पश्चात् भी इसका विस्तार केवल उन्हीं मराठी भाषी इलाकों तक ही सीमित रहा जो प्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण पेशवाओं के अधिकार में थे। भोंसलों या निजाम के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मराठी भाषी इलाकों में सत्यशोधक आन्दोलन तब तक प्रवेश नहीं कर सका था।

अंग्रेजों ने जातीयता के आधार पर फूट डालने का काम दूसरे ढंग से शुरू किया। पश्चिम महाराष्ट्र में ब्राह्मण-पेशवा राज्यकर्ता थे इसलिए उधर ब्राह्मण विरोधी वायुमण्डल बनाना आसान था। भोंसलों की सर्वसमावेशक नीति के कारण प्रजाजनों में सामंजस्य का वायुमण्डल था। भोंसले परिवार के विषय में सभी लोगों के मन में आत्मीयता का भाव था। अंग्रेजी शासन स्थापित होने के कई दशक बाद डॉ. मुंजे के पिताजी उन्हें कहते थे, "तात्या! खून कहीं भी कमा लेना, लेकिन याद रखना, तेरी हड्डी भोंसलों की है।" संघ संस्थापक डॉक्टर हेडगेवारजी को भी शैशवावस्था में सारा वायुमण्डल देखकर ऐसा लगता था कि नागपुर में अब भी भोंसलों का ही शासन है। भोंसलों की इस लोकप्रियता को ध्यान में रखकर अंग्रेजों ने यह चर्चा शुरू की कि भोंसलों का राज नष्ट होने के लिए ब्राह्मण ही जिम्मेदार थे। उन्होंने ही राजा को धोखा दिया। वास्तव में यह कथन ऐतिहासिक सत्य के एकदम विपरीत था। इस कारण ऐसे झूठे प्रचार का परिणाम उन लोगों पर होना संभव नहीं था जो स्वयं या जिनके पिता-चाचा आदि उस ऐतिहासिक घटना के प्रत्यक्षदर्शी थे। किन्तु ऐसे लोगों के इहलोक से परलोक चले जाने के बाद अंग्रेजों का ब्राह्मण विरोधी गलत प्रचार बल पकड़ने लगा। इसके आधार पर लोककथाएं, लोकगीत बनाए गए। नमूने के तौर पर यह पंक्ति देखिए, —"बड़े-बड़े हाथी थे रघुजी के पास, लेकिन कढ़ी खाऊ बमनों ने डुबा दिया राज"। लेकिन यह सब बहुत समय के पश्चात् हुआ। पिछली शताब्दी के लगभग अन्त तक ऐतिहासिक वास्तविकताओं की जानकारी लोगों में थी, इस कारण यह विघटनकारी प्रचार सन् १८८९ तक प्रभावी नहीं था। परन्तु विषवल्लरी का बीजारोपण तो हो चुका था और उसका अंकुर फूटने तथा उसको वृक्ष में विकसित होते हुए देखने का काम आने वाली पीढ़ियों को करना था।

सन् १८८९ की वर्ष प्रतिपदा के सुर्योदय के शुभमुहुर्त पर नागपुर में जब केशव बलिराम हेडगेवार के रूप में "नवभारत की संकेत रेखा" प्रकट हुई, उस समय नागपुर की यह स्थिति थी।

२. तिलकयुगीन नागपुर

किसी भी महापुरुष के कर्तृत्व का सही मूल्यांकन करने के लिए उससे सम्बन्धित कई तरह की जानकारियां प्राप्त करना आवश्यक होता है। यथा उसके आनुवांशिक गुण-दोष, जिस समूह में उसका जन्म हुआ उसकी समूहगत विशेषताएं तथा धारणाएं, जन्मारम्भ से जीवनान्त तक की वे परिस्थितियां, जिनमें से उसको गुजरना पड़ा, ऐसी घटनाएं जिनके साथ प्रत्यक्ष सहभागी या अप्रत्यक्ष साथी के नाते सम्बन्ध आया, उसके गुण विशेष , वे व्यक्ति विशेष जिनसे शत्रु या मित्र के नाते सम्बन्ध आया, आदि। विविध पहलुओं के विषय में जानकारी उपलब्ध न हुई तो उसके कर्तृत्व का ठीक-ठीक मूल्यांकन करना सम्भव नहीं हो पाता। वैसे तो हमारे "चरित्र लेखकों" की प्रवृत्ति अपने चरित्रनायक का दैवतीकरण करने की रहती है, किन्तु ऐसे मूल्यांकन सामयिक स्वरूप का ही माना जाएगा, वस्तुनिष्ठ नहीं।

ऐसे व्यक्तियों का चरित्र लिखना अति सरल हो जाता है जो या तो आत्मचरित्र लिखते हैं या फिर अपने किए हुए और न किए हुए महत्कार्यों की भी प्रसिद्धि समय-असमय स्वयं करते रहते हैं। संघ संस्थापक डॉ॰ हेडगेवारजी ने आत्मचरित्र नहीं लिखा। आत्मचरित्र के नाम पर आत्मसमर्थन तथा आत्म-प्रशंसा करने की आधुनिक कला का इतना विकास उनके जीवनकाल में नहीं हुआ था। और यदि ऐसा विकास हुआ भी होता तो भी डाक्टरजी के लिए उसका कोई उपयोग नहीं था, क्योंकि वे जन्मजात प्रसिद्धिपराङ् मुख थे। पं॰ बच्छराज जी व्यास ने उनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

"तुमने किया व्यतीत अकिंचन
लोकप्रसिद्धि पराङ्मुख जीवन।"

आधुनिक रीति के अनुसार ऐसे "प्रतिगामी" व्यक्ति के विषय में यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपनी महान उपलब्धियों की प्रसिद्धि करेंगे। ईसा मसीह ने कहा है कि "तुम्हारे दाहिने हाथ ने यदि पुण्य कार्य किया तो उसका पता तुम्हारे बायें हाथ को भी नहीं लगना चाहिए।" डॉक्टरजी स्वभावतः इस प्रवृत्ति के थे।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रमुख कार्यकर्ताओं की एक विशेषता यह भी है कि उनके लिए उस तरह का काम करने वाले व्यक्ति कभी उपलब्ध नहीं हुए जिस तरह का काम डॉ॰ जानसन के लिए बास्वेल ने, रामकृष्ण परमहंस के लिए "एम" ने , या गांधी जी के लिए महादेव भाई देसाई तथा प्यारेलाल ने किया। श्री एरिक हाफर ने "द ऑरडील ऑफ चेंज" में कहा है, "मैंने हमेशा यह अनुभव किया है कि विश्व ने अपने महापुरुषों की छोटी-छोटी बातों का संग्रह न करके काफी कुछ खोया है।"

फिर तिलक युग के अन्त तक डॉक्टर जी ने अपने हाथ में जो महत्वपूर्ण कार्य लिया था, उसका स्वरूप ही ऐसा था जिसके लिए प्रसिद्धि कुपथ्य के समान मानी जाती है। सभी क्रान्तिकारियों के लिए अन्तर्मुखी, और असंवादी स्वभाव अपरिहार्य हो जाता है। इस संदर्भ में एक घटना का स्मरण होता है जब स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी अपने विदर्भ के दौरे में आर्वी आए थे तो आर्वी के उस समय के संघचालक डॉ॰ आपटे जी के निवास स्थान पर हुई बैठक में एक पेंशनर ने कुतुहलवश उनसे पूछा, "तात्याराव, यह तो बताइए कि फ्रांस के किनारे आपने जहाज से समुद्र में छलांग लगाने के लिए किस तरकीब का उपयोग किया था?" सावरकर जी ने एक क्षण प्रश्नकर्ता की तरफ देखा और बोले, "क्यों? आप इस तरह का कोई साहसपूर्ण कार्य करने का विचार कर रहे हैं क्या?" और फिर उसके उत्तर की प्रतीक्षा न करते हुए आगे बोले, "यह कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है कि जिस तरकीब का मैंने उपयोग किया, उसी का फिर उपयोग करने की बारी और किसी पर नहीं आएगी?"

ऐसा प्रतीत होता है कि क्रांतिकार्य और प्रतिमा निर्माण की आवश्यकताओं में उत्तर-दक्षिण ध्रुवों के समान अंतर है।

ऐसे व्यक्ति के जीवन के विषय में विचार करते समय उपलब्ध प्रत्यक्ष जानकारी के अलावा या तो परिस्थितिजन्य प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है या उसके कार्य की फलनिष्पत्ति को देखकर "फलानुमेयाः प्रारम्भाः" के न्याय से अनुमान करना पड़ता है। चूंकि कार्य को इस तरह का फल प्राप्त हुआ है तो निश्चय ही इसके अनुकूल ही बीज का आरोपण किया गया होगा। अन्तिम फल का आविष्कार होने तक ऐसे व्यक्ति के कार्य का स्वरूप क्रमिक प्राकट्य का रहता है जिसको संस्कृत के प्राचीन न्याय में "संवेष्टित प्रसारित पटन्याय" की संज्ञा दी गई है।

(डाक्टर जी के जन्म के समय नागपुर तथा नागपुर प्रदेश की स्थिति का विवरण इसके पूर्व लेख में दिया गया है।)

जन्मकाल से ही मनुष्य की मूल सहज प्रवृत्तियां और बाह्य परिस्थितियां एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती हैं और इस तरह बाह्य आकलन के लिए जो प्रतिसाद मनुष्य की ओर से आता है, उसमें से उसका व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व विकसित होता है। हम जानते हैं कि डाक्टर जी का परिवार वैदिक संस्कार सम्पन्न धार्मिक, स्वाभिमानी, अक्खड़ तथा उग्र प्रकृति का था। इस तरह का आनुवांशिक गुण लेकर डॉक्टरजी आए थे यह बात ध्यान में रखी जाए तो हर

एक परिस्थिति में उनकी ओर से किस तरह का प्रतिवाद किया गया होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, बाल्यकाल में ही उनके माता-पिता का निर्वाण हो गया। इसके दोनों परिणाम हो सकते हैं— "एक, बालक के मन में असहायता का, लाचारी का भाव जाग्रत होना और दूसरा, उसका मूल स्वाभिमानी मन अधिक स्वावलम्बी, अधिक स्वाभिमानी तथा अधिक निश्चयी बनना। मूल प्रवृत्ति का पता रहा तो उसके प्रतिसाद के विषय में सही अनुमान लगाया जा सकता है।

डाक्टर जी का मनोविकास किस तरह होता गया, उनकी जीवनी से इसका अंदाजा हम कर सकते हैं। वैसे ही, परिस्थितियों ने दिन-प्रतिदिन क्या मोड़ लिया, यह ध्यान में रहा तो परिस्थितिजन्य प्रभावों के सहारे हम उनकी मनःस्थिति के अधिक निकट पहुंच सकते हैं।

तिलक युग का स्वागत दो प्राकृतिक प्रकोपों ने किया— पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में बम्बई प्रेसिडेन्सी में प्रादुर्भूत भीषण अकाल, जिसमें सत्तर हजार वर्गमील प्रदेश के दो करोड़ लोग प्रभावित हुए, और उस अवधि तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जगह-जगह फैले हुए प्लेग का भीषण उपद्रव। नागपुर प्रदेश भी इन नैसर्गिक आपदाओं से संत्रस्त था। ऐसे समय में सरकार द्वारा निर्लज्जतापूर्वक इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया के राज्यारोहण की हीरक जयन्ती का समारोह सम्पन्न कराया गया, जिससे सर्वसाधारण जनता को भी साम्राज्य सत्ता की अमानुष उदासीनता तथा अत्याचारी वृत्ति का पता चला। इसी कि प्रतिक्रियास्वरूप पूना में रैंड साहब का वध हुआ था। इस पृष्ठभूमि में नागपुर प्रदेश की जनता को स्वराज्य— भोंसलों के सर्वजन सुखाय कारोबार — का उत्कटता से स्मरण होना स्वाभाविक था। छत्रपति शिवाजी का आर्दश जनमानस में फिर से प्रज्ज्वलित होना इसका सहज परिणाम था।

स्वातंत्र्य के लिए आत्मसमर्पण करने वाले वीर पुरुषों के विषय में नागपुर वालों के मन में आत्मीयता का भाव बढ़ता गया। सीताबर्डी की लड़ाई, अप्पा साहब भोंसले का असफल षड्यंत्र, शनिवारवाड़ा पर यूनियन जैक का लहराना, बाबा साहब नरगुंदकर तथा उमाजी नाईक के विद्रोह, सन् १८५७ के स्वातंत्र्य समर के सैनिकों-सेनानियों का आत्मबलिदान, चन्द्रपुर के बापूराव तथा व्यंकटराव गौड़ का सशस्त्र प्रयास, अण्णा साहब पटवर्धन के विफल प्रयास, चाफेकर बंधुओं का आत्मबलिदान, वासुदेव बलवंत फड़के का साहसपूर्ण प्रयत्न आदि घटनाओं के विषय में नागपुर में जानकारी आती ही रहती थी।

उस समय यातायात के साधनों तथा प्रचार माध्यमों की कमी थी तो भी दूर-दूर के समाचार नागपुर वालों को देर-सबेर मिल ही जाते थे। वे जानते थे कि अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक दिनों में अंग्रेजों के विरोध में जितने छोटे-बड़े सशस्त्र संघर्ष हुए, उनका एकमात्र और अन्तिम उद्देश्य अंग्रेजों को भारत से हटाना था। देश के विभिन्न क्षेत्रों में वनवासियों और किसानों द्वारा समय-समय पर किए गए संघर्ष तथा आगे चलकर महाराष्ट्र में तण्टया भील का कार्यकलाप आदि की प्रेरणा प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक स्वरूप की थी, किन्तु उनका अन्तिम लक्ष्य स्वातंत्र्य प्राप्ति ही था। स्थान-स्थान पर जिन क्रान्तिकारियों ने फांसी का फंदा या मृत्यु को चूमा, उनके विषय में नागपुर के युवकों

के मन में अतीव आत्मीयता रहती थी। तिलक युग के अस्त तक इस तरह आत्मबलिदान करने वालों में प्रमुख थे रामसिंह कूका (१८८५), खुदीराम बोस (१९०८), मदनलाल धींगरा (१९०९), अनंत कान्हेरे (१९१०), वंची अय्यर (१९११) अवध बिहारी, गोविन्दलाल, अमीर चन्द्र हुकुमचन्द, विष्णु गणेश पिंगले, साराभाई बागी, तथा करतार सिंह; सभी (१९१५), सोहनलाल पाठक (१९१६) और भाई बंटा सिंह तथा सूफी अम्बा प्रसाद (१९१७) आदि। इनके पराक्रम के समाचार युवकों के लिए प्रेरणादायक थे। स्वामी विवेकानन्द की दिग्विजय भी उनका हौसला बढ़ा रही थी।

उन दिनों देशभक्त पत्रकारों ने राष्ट्रीय जागरण की दिशा में बहुत बड़ा योगदान किया था। "केसरी", "काल", "भाला" तथा "देश सेवक" समाचार पत्र नागपुर प्रदेश में जागृति उत्पन्न कर रहे थे। पत्रकार के नाते तिलकजी, शिवाराम महादेव परांजपे, "बिहारी" के तीन सम्पादक, मुम्बई के "हिन्द स्वराज्य" के दो सम्पादक, मुम्बई के "राष्ट्रमुख" के बा॰ रा॰ पालवणकर, कोल्हापुर के "विश्ववृत" के सम्पादक, उपसम्पादक, मुद्रक; मुम्बई के "अरुणोदय" के सम्पादक घोडोनाथ फड़के आदि पत्रकारों को सरकार द्वारा दी गई कारावास की सजाएं यहां की जनता को उत्तेजित करती थीं। "अभिनव भारत समाज" के संस्थापक श्री गणेश दामोदर सावरकर द्वारा अप्रैल, १९०७ में "मैझिनी" के मराठी भाषान्तर की बीस हजार प्रतियों का मुद्रण-वितरण, "मैझिनी" के अलावा स्वातंत्र्य वीर सावरकर की "भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम"; "जोन ऑफ आर्क"; आदि कृतियां; अंडमान से भेजे हुए पत्र तथा उनकी कविताएं; नासिक के कवि गोविन्द की कविताएं; सखाराम गणेश देउसकर की "देशेर कथा"; सन् १९०३ के अन्त में हिन्दुस्तान रिव्यु के अंक में 'शस्त्र को आह्वान" (A call to arms) शीर्षक से छपा लेख; ह्यूम, वेडरबर्न, दादाभाई नौरोजी और डब्ल्यू॰ सी॰ बनर्जी का कांग्रेस आन्दोलन की विफलता पर प्रकाश डालने वाला लेख, बंकिमचन्द्र का "आनंदमठ" उपन्यास; श्री समर्थ रामदास का "दासबोध"; (इटली में पैदा हुए रामदास को "मैझिनी" कहते हैं) और हिन्दुस्थान में पैदा हुए मैझिनी को रामदास कहते हैं, इति सावरकर, दादाभाई नौरोजी, आर. सी. दत्त तथा दिन्शा बाच्छा द्वारा प्रकाशित "इंग्लैण्ड द्वारा भारत के भीषण आर्थिक शोषण का चित्र"; तिलक जी का "गीता रहस्य" आदि साहित्य युवकों को प्रेरणा प्रदान कर रहा था।

नागपुर प्रदेश में प्रारम्भ से ही बलोपासना का प्रचार रहा है। आगे चलकर उसका आविष्कार अण्णा खोत की " नागपुर व्यायामशाला" तथा दत्तोपंत मारूडकर की "भारत व्यायामशाला" के रूप में हुआ। बलोपासना की तीव्र लालसा उन दिनों युवकों को स्थान-स्थान पर अखाड़े तथा व्यायामशालाएं संघटिक करने के लिए प्रोत्साहित करती थीं। देशभक्तिपूर्ण कीर्तन, प्रवचन, भजन मण्डलियां, युवक मंडल आदि गतिविधियां भी चलती रहती थीं। तिलक जी द्वारा जन जागरण हेतु प्रारम्भ किए गए गणेश उत्सव, शिव जयन्ती उत्सव एवं रामनवमी आदि पर्वों पर सवश्री दादा साहब खापर्डे बापूजी अणे, अच्युत बलवन्त कोलहटकर एवं तपस्वी बाबासाहब परांजपे आदि लोकाग्रणियों के भाषण युवकों के मन पर देशभक्ति के संस्कार अंकित करते थे। इस इतस्ततः बिखरे हुए परिवेश के नागपुर में किसी एक स्थान पर केन्द्रीकरण होना आवश्यक

था। अफ्रीका के बोअर युद्ध से वापस लौटने के बाद डा॰ बालकृष्ण शिवराम मुंजे ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। उस समय विशेषतः विदेशों में स्थित प्रवासी भारतीयों की दशा से वे अतीव पीड़ित थे और उन्होंने अपनी यह वेदना दिसम्बर, १९०५ के कांग्रेस अधिवेशन में प्रकट भी की थी। लोकमान्य तिलक जी से प्रेरणा प्राप्त करके उनके सभी उपक्रमों को नागपुर प्रदेश में लाने का काम डॉक्टर मुंजे ने किया और उन्होंने स्थानीय युवकों का सम्बन्ध बंगाल की अनुशीलन समिति के साथ जोड़ा।

सन् १८९६ में अडोबा की लड़ाई में अबिसिनिया द्वारा इटली की पराजय और उसके पश्चात् सन् १९०५ में जापान द्वारा यूरोपियन रूस का पराभव, सभी श्वेततर लोगों के स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास को जाग्रत करने वाला सिद्ध हुआ। इन घटनाओं के पश्चात यूरोप में क्रांतिकारी सूत्रों द्वारा रूस तथा इटली के सम्राटों की हत्या, वैसे ही आस्ट्रिया की सम्राज्ञी एलिजाबेथ, स्पेन के प्रधानमंत्री, फ्रांस के राष्ट्रपति कारनाट, रूस के गृहमंत्री तथा फिनलैंड के गर्वनर जनरल की राजनीतिक हत्याएं; २९ सितम्बर, १९०५ को अंग्रेज सरकार द्वारा बंगभंग की घोषणा; "वंदेमातरम्" मंत्र का जागरण, अगले वर्ष कलकत्ता कांग्रेस में दादाभाई नौरोजी द्वारा "स्वराज्य" का समर्थन तथा इसमें स्वीकृत की गई, "स्वराज्य", "स्वदेशी", "बहिष्कार" तथा "राष्ट्रीय शिक्षण" की चतुःसूत्री आदि घटनाओं का नागपुर के युवकों के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसी कारण कांग्रेस के १९०७ के सूरत के अधिवेशन में तिलक जी का समर्थन करने के लिए नागपुर के युवक बड़ी संख्या में वहां पहुंचे। कांग्रेस के मंच पर जब तिलक जी पर आक्रमण हुआ तो उस समय उनको संरक्षण देने के लिए मंच पर चढ़ने वालों में नागपुर के डा॰ मुंजे और डा॰ गद्रे भी थे। तिलक को सजा देकर मण्डाले जेल भेजा जाने के परिणामस्वरूप नागपुर का वायुमण्डल बहुत गरम हो गया था। तात्कालिक प्रतिक्रिया के लिए विद्यार्थियों ने एक बड़ा जुलूस निकाला और प्रदर्शनकारी छात्रों ने मारिस कालेज पर पत्थरबाजी भी की। १९ अगस्त, १९०८ को व्यंकटेश थिएटर के सामने बहुत बड़ी सार्वजनिक निषेध सभा हुई। उसी वर्ष कस्तूरचन्द पार्क में औद्योगिक प्रदर्शनी लगी थी। उस अवधि में महाराज बाग में स्थित महारानी विक्टोरिया के पुतले को कोलतार पोतकर विद्रूप कर दिए जाने के आरोप में नारायण परांजपे को गिरफ्तार किया गया। बाद में अच्युत बलवन्त कोलहटकर को भी गिरफ्तार किया गया। इस तरह "तिलक युग" में नागपुर के देशभक्त युवक पूरे जोश के साथ तिलक जी का समर्थन करने के लिए कटिबद्ध थे। बाल-किशोर अवस्था लांघकर युवावस्था में प्रवेश करने जा रहे जन्मजात प्रखर देशभक्त केशव के मन पर इन सब घटनाओं का क्या परिणाम हुआ होगा, इसका अनुमान हम लगा सकते हैं।

३. तिलक युग का अन्त, गांधी युग का आरम्भ

चूंकि नागपुर के युवक तिलक जी को ही प्रेरणा स्रोत, मार्गदर्शक और आदर्श नेता मानते थे, इसलिए राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो विचार तिलक जी के थे वही उन्होंने भी ग्रहण किए थे। आर्थिक क्षेत्र में तिलक जी बहिष्कार और स्वदेशी के प्रचार के साथ नए उद्योगों को प्रोत्साहित करके स्वदेशी औद्योगिकरण को बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। विद्या के क्षेत्र में, अपने प्राचीन शास्त्रों का अन्वेषण करते हुए आधुनिक पाश्चिमात्य विद्या आत्मसात करके शोध के आधार पर अपनी राष्ट्रीय श्रेष्ठता प्रस्थापित करने के पक्ष में थे। धार्मिक क्षेत्र में अपने सभी श्रद्धा केन्द्रों को मजबूत रखते हुए सामान्य जन की धर्म-श्रद्धा को धक्का न लगे, उनमें बुद्धिभेद उत्पन्न न हो, इस सतर्कता के साथ इस क्षेत्र में वे युगानुकूल सुधार लाने के पक्षधर थे।

महाराष्ट्र में उन दिनों समाज सुधारकों का प्रबल प्रचार चल रहा था। तिलक जी समाज सुधार के पक्ष में थे, किन्तु प्रथम राजकीय या प्रथम सामाजिक सुधार इस विवाद में प्राथमिकता के प्रश्न पर वे "प्रथम राजकीय" सुधार के पक्ष में थे। उनका विचार था कि समाज में विविध सुधार अवश्य लाने चाहिएं, किन्तु सुधार लाते समय विवेकपूर्ण सतर्कता की आवश्यकता है। उनका मत था कि सुधार केवल पाश्चिमात्यों का अंधानुकरण न हो और उनकी प्रचार-प्रक्रिया के कारण समाज में अपने विषय में न्यूनता और विदेशियों के विषय में श्रेष्ठता का भाव निर्माण होकर समाज की श्रद्धा को आघात न लगे, उनका तेजोभंग न हो। सभी को साथ लेकर चलने की दृष्टि से धीरज के साथ, जनमानस को प्रशिक्षित करते हुए सर्वसाधारण व्यक्ति पच सके यह सतर्कता रखते हुए नई बातें प्रविष्ट की जाएं। विदेशी सरकार को सामाजिक व्यवहारों में हस्तक्षेप करने का अवसर न हो। इस दृष्टि से कानून के द्वारा नहीं, हृदय परिवर्तन द्वारा उपयुक्त सामाजिक सुधार हों। " सामाजिक परिषद् " के कार्य को कांग्रेस से पृथक मंच से चलाया जाए ताकि कांग्रेस के मंच पर सुधारवादी तथा सुधार विरोधी, सभी तरह के लोगों को एकत्रित करके एक सर्वसंग्राहक ब्रिटिश विरोधी मोर्चा खड़ा करने में बाधा निर्माण न हो।

राजनीतिक कार्य को वे प्राथमिकता देते थे। वे कहते थे कि हमारे समाज सुधारक जिन सुधारों की चर्चा कर रहे हैं वे सारे सुधार ब्रह्म देश के बौद्ध समाज में अंग्रेजों के वहां जाने के पूर्व से ही

विद्यमान थे। किन्तु इसके कारण ऐसा दिखाई नहीं दिया कि अंग्रेजों का प्रतिकार करने की प्रखर देशभक्ति की भावना उन लोगों में जागृत हुई। आज भी ब्रह्मदेश का समाज इन सभी सुधारों से युक्त है किन्तु इसके कारण अंग्रेजों के खिलाफ स्वातंत्र्य संग्राम छेड़ने की राष्ट्रीय चेतना और उनके अन्दर दिखाई नहीं देती। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मदेश और श्रीलंका के बौद्ध समाज के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय चेतना की जागृति और सामाजिक सुधार में अनिवार्य रूप से कार्य-करण सम्बन्ध नहीं होता।

तिलक युग के सभी तेजस्वी देशभक्त हिन्दुत्वनिष्ठ थे। उनके युग में चलाए गए महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब तथा मद्रास के आन्दोलन, सशस्त्र तथा निःशस्त्र, आन्दोलनों की प्रेरणा का स्रोत हिन्दुत्व ही था।

भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन "The Nationalist Movement in India" के लेखक श्री वी.डी. महाजन लिखते हैं : " वे क्रान्तिकारी एक ओर बम और पिस्तौल, तो दूसरी और गीता के दर्शन में विश्वास रखते थे।" क्रान्तिकारी अनुशीलन समिति का स्पष्ट निर्देश था कि "ऐसे व्यक्ति को प्रवेश नहीं दिया जायेगा, जो अहिन्दू है या हिन्दुओं के प्रति किसी भी प्रकार का विद्वेष रखता है।"

तिलक जी के विषय में "तिलक और गोखले" पुस्तक में वोलपर्ट लिखते हैं : " उन्होंने हिन्दू धार्मिक चेतना के पुनरुत्थान को प्रेरित किया था।"

एक सेकुलर विचारक डा॰ के. सी. व्यास अपनी पुस्तक "भारत में सामाजिक पुनर्जागरण" (Social Renaissance in India) में लिखते हैं : "धार्मिक पुनरुत्थान एवं राष्ट्रीय चेतना के विकास ने एक दूसरे को प्रभावित किया। अरविन्द घोष और विपिनचन्द्र पाल के नेतृत्व में विकसित हुए नव राष्ट्रवादी आन्दोलन विवेकानन्द के हिन्दू पुनरुत्थानवाद की विचारधारा पर आधारित था, वास्तविकता यह है कि कई प्रसंगों में दोनों आन्दोलन, विवेकानन्द का पुनरुत्थानवाद और विपिनचन्द्र पाल का राष्ट्रवाद तथा आन्दोलन एक हो गए।"

"भारतीय उग्र राष्ट्रवाद का उदय और विकास" "Rise and Growth of Indian Militant Nationalism" के विद्वान लेखक डॉ॰ एम॰ ए॰ बूच लिखते हैं : "बंगाली राष्ट्रवादियों द्वारा स्वराज्य आन्दोलन को अपने अन्तर्मन की गहराई में निहित आध्यात्मिक परम ब्रह्म की खोज के उपनिषदीय आदर्श पर आधारित करने का प्रयास किया गया। मातृशक्ति की उपासना का भी यही कारण था— देश को काली मां का प्रतीक मान लिया गया।"

होम रूल लीग की संस्थापक डा॰ एनी बिसेंट ने घोषणा की, "यदि हिन्दू ही हिन्दुत्व को कायम नहीं रखेंगे तो उसे कौन बचाएगा? यदि भारत की अपनी ही संतान हिन्दुत्व में आस्था नहीं रखेगी तो उसका संरक्षण कौन करेगा? केवल भारत ही भारत को बचा सकता है और भारत एवं हिन्दुत्व एक ही हैं।"

लाल-बाल-पाल की त्रिमूर्ति में से एक, लाला लाजपतराय, ने कहा, "एक हिन्दू के नाते मेरी

यह भक्तिपूर्ण प्रार्थना है कि मैं वेदों की इस धरती पर जन्म लेकर राष्ट्र के सामूहिक "कर्म" में अपने कर्म का योगदान दूं।"

विजिगीषु तिलक जी ने द्रष्टा के नाते कहा, " ...एक समय ऐसा आएगा जब हम देखेंगे कि हमारे उपदेशक पूरे विश्व में सनातन धर्म का उपदेश रहे हैं। पवित्र भगवद्गीता के विरल वायुमण्डल में दंडसंहिता से ऊपर उठो।"

श्री विपिनचन्द्र पाल ने बताया, "स्वराज्य का जो आर्दश हमारे सम्मुख प्रकट हुआ है वह दैवी लोकतंत्र का ही आदर्श है। वर्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन का आध्यात्मिक पक्ष पूर्णतः वेदांतिक विचारों से लिया गया है।"

श्री बारीन्द्र कुमार घोष ने लिखा, "श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि जब-जब भी धर्म की ग्लानि और अधर्म का उदय होता है तो अधर्मियों के विनाश एवं धर्म की पुनर्स्थापना हेतु ईश्वर स्वयं अवतार लेते हैं। वर्तमान समय से भारत में धर्म का पतन और अधर्म की वृद्धि हो रही है।

...ईश्वर निष्क्रिय नहीं रहेंगे। वे अपना वचन निभाएंगे। भगवान के वचनों पर दृढ़ विश्वास रखो और उसकी शक्ति का आह्वान करो।"

योगी अरविन्द ने कहा, "राष्ट्रवाद वह धर्म है जो हमें ईश्वर से मिला है। जब यह कहा जाता है कि भारत का उदय होगा तो इसका अर्थ है कि सनातन धर्म का उदय होगा, जब यह कहा जाता है कि भारत महान बनेगा तो इसका अर्थ है कि सनातन धर्म महान होगा, जब यह कहा जाता है कि भारत स्वयं को व्यापक और विस्तृत करेगा, तो इसका अर्थ है कि सनातन धर्म विश्व में विस्तृत और व्यापक होगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही वृहदाकार भारत का अस्तित्व है। धर्म को वृहदाकार करने का अर्थ है देश को वृहदाकार करना।"

अपने सुप्रसिद्ध उत्तरपाड़ा भाषण में योगी अरविन्द ने असंदिग्ध शब्दों में घोषणा की : "मैं केवल आज ही नहीं कह रहा हूं कि राष्ट्रवाद एक आस्था है, यह एक धर्म है, बल्कि मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सनातन धर्म तो स्वयं ही हमारे लिए राष्ट्रवाद है। हिन्दू राष्ट्र का जन्म सनातन धर्म के साथ हुआ था, यह धर्म के साथ आता है और धर्म के साथ विकसित होता है। जब सनातन धर्म का अधःपतन होता है तो यह राष्ट्र भी अधःपतित होता है और यदि धर्म प्राणहीन होता है तो राष्ट्र भी प्राणहीन हो जाता है। सनातन धर्म राष्ट्रवाद है।"

तिलकयुगीन नागपुर का वैचारिक प्रवास इसी दिशा में हो रहा था। वहां के सभी राजनीतिक, सामाजिक, सार्वजनिक कार्य इसी वैचारिक वायुमण्डल में चल रहे थे।

राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय चतुःसूत्री के क्रियान्वयन से लेकर होम रूल लीग के संदेश के प्रचार तक के सभी कार्य हिन्दुत्व निष्ठा पर आधारित थे, किन्तु ये सभी कार्यक्रम शाकाहारी थे।

माणिकतल्ला बम काण्ड के पश्चात् नागपुर के देशभक्तों के मन में यह विचार उभरकर आया कि देश के क्रांतिकार्य में नागपुर का भी महत्वपूर्ण और उचित सहभाग होना चाहिए। किन्तु इस

तरह के शस्त्र संघर्ष का संचालन करना बहुत कठिन कार्य था। इसके लिए इस प्रकार के व्यक्ति की आवश्यकता थी कि जिसके हृदय में धधकती ज्वाला और मस्तिष्क बर्फ जैसा शीतल हो। जोश और होश का यह समन्वय असाधारण बात है। फिर भी नागपुर के देशभक्तों को संचालक का चयन करने में देर नहीं लगी। ज्येष्ठ नेताओं तथा युवा कार्यकर्ताओं ने एकमत से अविलम्ब चयन किया केशव बलिराम हेडगेवार का।

कार्य का दायित्व स्वीकार करने के पश्चात् डॉक्टर जी की गतिविधियां क्या रहीं, इस विषय में अंग्रेज सरकार द्वारा अपने सूत्रों से प्राप्त की हुई जानकारी के आधार पर सरकारी दस्तावेज (State Gazetteer) में निम्नलिखित उल्लेख पाया जाता है :

"नागपुर के क्रान्तिकारी आन्दोलन के मस्तिष्क हेडगेवार, तिलक से विचार-विमर्श के लिए पूना गए थे। उन्होंने किस प्रकार का सुझाव प्राप्त किया, इसके बारे में कुछ भी मालूम नहीं है। भाऊजी कावरे, हेडगेवार के एक विश्वस्त साथी थे। दोनों ही बाहर से पिस्तौल और गोला-बारूद प्राप्त करते थे। दादासाहब बख्शी पुरानी पिस्तौलों को सुधारकर उन्हें इस्तेमाल करने योग्य बना लेते थे। हेडगेवार ने एक बार गोआ से हथियार और गोला-बारूद प्राप्त करने की असफल कोशिश की थी। इस आन्दोलन के लिए धन एकत्र किया गया था और इसकी बैठक सामान्य पहुंच से दूर बारद्वारी, तुलसीबाग, सोनेगांव, कर्नलबाग, इंदौरा और मोहिते वाड़ा जैसे स्थानों पर होती थी। मैझिनी का जीवन, बंगाल के क्रान्तिकारियों की गाथाएं, अलीपुर और मानिकतल्ला के बमकाण्ड और सावरकर द्वारा लिखित "भारतीय स्वतंत्रता संग्राम" ग्रन्थ क्रान्तिकारियों की मानसिक चिन्तन की दिशा देने के लिए व्यापक तौर पर बांटा जाता था। हेडगेवार ने अपने विश्वस्त व्यक्तियों को क्रान्तिकारियों से सम्पर्क बनाए रखने के लिए पंजाब भेजा था। गंगा प्रसाद नाम के एक व्यक्ति इस गुप्त प्रतिनिधि मण्डल के मुख्य व्यक्ति थे। उनके साथ वर्धा के अप्पाजी जोशी और नागपुर के नानाजी पुराणिक एवं बाबूराव हरकरे थे। ये क्रान्तिकारी गतिविधियां १९१६ से शुरू होकर तीन साल तक चलीं। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के समय हेडगेवार को लगा कि आन्दोलन अपनी गतिशीलता और दमनकारी शक्ति खो रहा है, इसकी सफलता की सभावनाएं बहुत कम हैं। इसलिए उन्होंने अपने साथियों को वापस बुला लिया और आन्दोलन को योजनाबद्ध रूप से खत्म कर दिया। इसके बाद वे कांग्रेस में चले गए।"

यह सब कार्य करने वाले डॉक्टर जी के व्यक्तित्व का सरकारी मूल्यांकन उसी सरकारी दस्तावेज (State Gazetteer) में निम्नलिखित प्रकार से दिया गया है :

" वे (हेडगेवार) हिन्दुत्व के सिद्धान्तों और आदर्शों के कट्टर पोषक थे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अन्य मजहबों और आस्थाओं के विरोधी थे। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ नामक संगठन की स्थापना के प्रमुख नायक थे।"

दिनांक १७ जून, १९१४ को तिलक जी मण्डाले जेल से मुक्त हुए। मण्डाले जेल से तिलक जी के वापस आने के पश्चात राजनीतिक क्षेत्र में एक बार फिर उत्साह की लहर दौड़ गई। वैसे तो सन् १९१७ में डा॰ एनी बिसेंट ने सी॰ पी॰ और बरार का दौरा किया था, किन्तु होम रूल लीग

का संदेश जनता तक पहुंचाने के लिए तिलक जी द्वारा इस प्रदेश का दौरा अत्यधिक प्रभावी रहा। प्रदेश के सभी देशभक्त इस दौरे को यशस्वी बनाने के लिए काम में जुट गए थे। इस दौरे में तिलक जी ने जनमानस को स्वराज्य संग्राम के लिए तैयार किया। इसी कारण उसके पश्चात रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग काण्ड के विरोध तथा अमृसर कांग्रेस के संदेश का प्रचार करने के लिए प्रदेश में जगह-जगह सभाएं और जनजागरण के कार्यक्रम सफलतापूर्वक सम्पन्न हो सके । किसी ने ठीक ही कहा है कि आगे चलकर गांधी जी ने स्वतंत्रता आन्दोलन को जो व्यापक स्वरूप दिया, उसकी पूर्व तैयारी तिलक जी ने अपने निधन के पूर्व अच्छी तरह से कर दी थी।

चार जुलाई, १८९९ को प्रारम्भ हुआ तिलक युग १ अगस्त, १९२० को समाप्त हुआ। आजीवन अथक परिश्रम करके तिलक जी ने महानिर्वाण के समय राष्ट्रीय जनजागरण की जो महान विरासत अपने पीछे छोड़ी थी उसकी पृष्ठभूमि पर १६ दिसम्बर,१९२४ को नागपुर के कांग्रेस नगर में सम्पन्न हुए कांग्रेस के अखिल भारतीय अधिवेशन के अवसर पर गांधी युग ने भारत में पदार्पण किया।

४. तिलक और गांधी युग का नेतृत्व

सन् १९२० के पश्चात जिसको साम्प्रदायिकता की समस्या की संज्ञा दी गई, उसका वास्तविक स्वरूप "हिन्दू विरुद्ध मुसलमान" न होते हुए "राष्ट्रीय विरुद्ध अराष्ट्रीय" है। सैद्धान्तिक स्तर पर इसका विवरण यहां अभिप्रेत नहीं है। व्यावहारिक स्तर पर इस समस्या को सुलझाने में सफलता को राष्ट्रीय नेतृत्व की कार्यकुशलता का परिचालक मापदण्ड माना जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि कोई भी साम्राज्य सत्ता अपने उपनिवेश में "बांटो और राज्य करो" की भेदनीति पर अमल करेगी ही। "हिन्दू और मुसलमान भारत की दो आंखें हैं और इनमें से किसी एक के बिना मां का चेहरा विकृत ही होगा" का उद्घोष करने वाले सर सैयद अहमद खां को घोर मुस्लिम साम्प्रदायिक बनाना ब्रिटिश भेदनीति की विजय थी। यह भी स्वाभाविक है कि इस भेदनीति के कारण बढ़ावा मिलने से जिन नेताओं का निहित स्वार्थ सिद्ध होता था, वे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन का विरोध तथा साम्राज्य सत्ता का समर्थन करने के लिए अपने प्रभाव क्षेत्र में आने वाले लोगों को उकसाते ।

ये दोनों पहलू हमेशा रहने ही वाले हैं। राष्ट्रीय नेतृत्व की कुशलता इसमें है कि इन सब परिस्थितियों में वे अपना मानसिक संतुलन कायम रखें, सत्ताधारियों द्वारा गुमराह तथा विभक्त किए जा रहे जनसमूह में से सद्भावनायुक्त, समझदार तथा सक्षम व्यक्तियों का चयन करके उनको मुख्य राष्ट्रीय प्रवाह में शामिल करके सक्रिय करें तथा उन्हीं को मान्यता-प्रतिष्ठा देकर उनके समूह पर उनका प्रभाव बढ़ाने में सहायता करें। इस समस्या को सुलझाने का यही एकमेव मार्ग है। तिलक युग में इसी मार्ग को सफलतापूर्वक अपनाया गया।

जिस तरह अहिंसा का समर्थन करने वाले देशभक्तों में दो वर्ग थे, एक वर्ग सिद्धान्त के नाते अहिंसा का समर्थक था और दूसरा वर्ग रणनीति के नाते उसका समर्थन करने वालों का था, उसी तरह अंग्रेज सरकार की चालबाजी का प्रत्युत्तर देने के लिए मुसलमानों के साथ वार्ता करने वालों में भी दो वर्ग थे। वार्ता की प्रक्रिया को सिद्धान्त का अंग मानने वाले और रणनीति का अंग मानने वाले। तिलक युग में लखनऊ कांग्रेस के समय हुई वार्ता, रणनीति केअंग के नाते थी। इसलिए इसमें हिन्दुओं के आत्मसमर्पण की भावना नहीं थी।

सभी इस निर्विवाद तथ्य को जानते थे कि मोर्ले-मिन्टो योजना के पीछे जाना किसी के लिए सम्भव नहीं था, तो भी समझौता वार्ता के लिए ऐसे ही मुसलमानों को चुना गया जो कांग्रेस की राष्ट्रीयता के अनुकूल थे और तिलक जी को मानने वाले थे। गांधी युग की नीति इसके बिल्कुल विपरीत थी। उस युग में कांग्रेस के अन्दर रहते हुए राष्ट्रीयता की बात करने वाले मुसलमान नेताओं को दुर्लक्षित किया गया तथा उनको महत्वहीन समझकर मुसलमानों के प्रतिनिधि के नाते वार्ता के लिए ऐसे लोगों को चुना गया जो कट्टर साम्प्रदायिक, राष्ट्रीयता विरोधी और कांग्रेस विरोधी थे। तिलक जी ने यह सावधानी रखी थी तो भी इस संदेह से कि कहीं वार्ता की परिणति मुस्लिम तुष्टीकरण में न हो, पं० मदन मोहन मालवीय ने अधिवेशन में यह प्रकट घोषणा की थी कि यदि मुस्लिम तुष्टीकरण का प्रयास किया गया तो वे विद्रोह का झण्डा खड़ा करेंगे। इस समझौते की प्रकृति का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि पंडित मदन मोहन मालवीय जी ने भी लखनऊ समझौते को स्वीकार योग्य माना। यह तिलक जी की क्षमता का प्रमाण है। सभी हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों के समान मालवीय जी भी चाहते थे कि मुसलमानों के विषय में कांग्रेस की नीति न पुरस्कार की हो न बहिष्कार की अपितु परिष्कार की रहनी चाहिए।

तिलक जी कभी भी तुष्टीकरण की नीति के पक्षधर नहीं थे। उनके मन में सर्वधर्मसमभाव था, तो यह संतुलन भी था कि उसकी परिणति तुष्टीकरण की नीति में न हो। उनकी यह मान्यता थी कि मुसलमानों, हिन्दुओं तथा सभी मतावलम्बियों को अपने धर्म-मत के अनुसार काम करने का पूरा अधिकार रहे। इस विषय में उनके विचारों की प्रतिबद्धता हर समय प्रकट होती थी। उदाहरणार्थ वे यह अवश्य चाहते थे कि खिलाफत के मामले में मुसलमानों के साथ न्याय हो किन्तु इस सम्बन्ध में तिलक जी का अनुपात-बोध डा० पट्टाभि सीतारमैया के इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि "इस आन्दोलन (खिलाफत) के प्रति लोकमान्य की पूर्ण हृदय से सहानुभूति नहीं थी, किन्तु उन्होंने इसका विरोध नहीं किया।"

अन्य विषयों में तिलक जी का यह संतुलन अद्‌भुत था। जीवन के अन्तिम चरण में गांधी जी के प्रस्तावित असहयोग आन्दोलन के बारे में लितक जी ने गांधी जी को कहा था, "मुझे कार्यक्रम काफी पसन्द है किन्तु मुझे सन्देह है कि लोगों के सामने असहयोग द्वारा प्रस्तुत किए गए इस आत्म-निषेध के अध्यादेश का पूरा देश साथ देगा। मैं इस आन्दोलन की प्रगति में कोई बाधा नहीं खड़ी करूंगा, मैं आपकी सफलता की कामना करता हूं और यदि आपको लोकप्रियता मिली तो मुझे आप एक उत्साही समर्थक के रूप में पाएंगे।"

तिलक जी द्वारा जनमानस का किया गया यह आकलन कितना वास्तविकतावादी था, यह चौरीचौरा काण्ड से स्पष्ट हुआ।

यह जानकर कोई लोगों को आश्चर्य होगा कि तिलक युग में कांग्रेस के समान मुस्लिम लीग ने भी भारत के स्वराज्य को अपने लक्ष्य के नाते स्वीकार किया था।

सन् १८८८ में ही पूर्वी प्रान्तों के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर आकलैंड कालविन द्वारा भेदनीति का सक्रिय सूत्रपात हो चुका था। उन्होंने यह प्रयास किया था कि मुसलमान कांग्रेस के साथ न रहें।

यह स्वाभाविक था कि निहित स्वार्थ वाले कुछ सुशिक्षित मुसलमान अंग्रेजों की इस नीति का शिकार बनते। किन्तु दूसरा पक्ष भी उन दिनों सक्रिय था। इलाहाबाद में हुए कांग्रेस के चौथे अधिवेशन में, अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए मि॰ यूल के नाम का समर्थन करते समय शेख रज़ा हुसैन खां ने प्रतिनिधियों के सामने लखनऊ के सुन्नी मुसलमानों के धार्मिक नेता का, कांग्रेस का समर्थन करने वाला फतवा प्रस्तुत किया था कहा था, "कांग्रेस के विरोध में मुसलमान नहीं, अपितु उनके मालिक हैं।"

मोर्ले-मिन्टो योजना ने पृथक मतदाता संघ का विष-बीज बोया था। प्रारम्भ में मुसलमान भी इसके पक्षधर नहीं थे। १९१० में हुए कांग्रेस के २५ वें इलाहाबाद अधिवेशन में बैरिस्टर जिन्ना ने प्रतिनिधियों के सामने मुसलमानों को दिए गए साम्प्रादायिक प्रतिनिधित्व की निन्दा करने वाला प्रस्ताव रखा और मौलवी मजहर-उल-हक ने उसका अनुमोदन किया। मोर्ले-मिन्टो सुधार के अन्तर्गत जब मुसलमानों के लिए विधान-परिषद (लेजिस्लेटिव कांउसिल) में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व देने की योजना प्रथम बार अमल में आ रही थी, ऐसे समय जिन्ना और मजहर-उल-हक द्वारा सार्वजनिक रूप से मुसलमानों को मिले इस विशेष अधिकार की निन्दा करना अत्यन्त साहस का काम था। इस विषय में गांधीवाद के एक प्रवक्ता कहते हैं : "अपनी उपलब्धियों से फूले न समा रहे मुसलमानों को लक्ष्य के प्रति एकान्तिक निष्ठा और विश्वासजनित साहस के बल पर ही कोई मजहर-उल-हक की तरह यह कह सकता था कि उनकी सफलता वस्तुतः दोनों महान समुदायों के समान हितों को क्षति पहुंचाने वाली थी और देश असल में यह चाहता है कि वे एक साथ रहें न कि अलग-अलग अभेद्य खण्डों में। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि इस प्रस्ताव के प्रस्तावक बैरिस्टर जिन्ना थे।

सन् १९१३ में कांग्रेस के कराची अधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए नवाब सैयद महमूद बहादुर ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों से अपील की थी कि वे दोनों मातृभूति की सेवा के लिए एकता कायम करें। कांग्रेस के इसी अधिवेशन में, मुस्लिम लीग ने "ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य" की कल्पना को स्वीकार किया तो इसके लिए आनन्द व्यक्त किया गया और मुस्लिम लीग के इस आह्वान का स्वागत किया गया कि हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर सहकार्य कायम होना चाहिए। कांग्रेस अधिवेशन ने मुस्लिम लीग द्वारा व्यक्त की गई निम्नलिखित आशा का भी स्वागत किया—

"मुस्लिम लीग यह आशा करती है कि विभिन्न समुदायों का नेतृत्व एक ऐसी कार्यपद्धति को खोजेगा जिससे राष्ट्रहित के मुद्दों पर सबका समन्वित और प्रबल प्रयास हो सके । वह सभी वर्गों से प्रार्थना करती है कि राष्ट्रहित के इस कार्य में सहयोग दें।"

सन् १९१६-१७ में डॉ॰ ऐनी बिसेंट ने अपने होम रूल लीग के प्रचार के लिए विस्तृत दौरा किया। सरकार ने उनको नजरबन्द किया। ऐनी बिसेंट की नजरबन्दी के विरोध में समूचे देश में तीव्र असंतोष की लहर निर्माण हुई। ऐनी बिसेंट की नजरबन्दी के विरोध में अपना समर्थन प्रकट करने के लिए बैरिस्टर जिन्ना ने तुरन्त उनकी होम रूल लीग की सदस्यता स्वीकार कर ली।

२८ जुलाई, १९१७ को आल इण्डिया कांग्रेसे कमेटी और अ० भा० मुस्लिम लीग की संयुक्त सभा हुई जिसमें होम रूल लीग के कार्य की प्रशंसा की गई और सरकारी दमनशाही का विरोध किया गया।

बम्बई के गवर्नर ने होम रूल लीग के प्रतिनिधियों के साथ वार्ता करने के लिए बुलाई गई एक विशेष बैठक में लोकमान्य तिलक जी का अपमान किया। इसका विरोध करने के लिए १६ जून, १९१८ को बम्बई के शान्ताराम चाल में एक बड़ा प्रदर्शन किया गया। शाम को गांधी जी की अध्यक्षता में विशाल सार्वजनिक सभा हुई जिसमें बैरिस्टर जिन्ना ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि सरकारी आश्वासनों की ईमानदारी पर उन्हें सन्देह है।

मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट जून, १९१८ में प्रकाशित होने के पश्चात दि० २९ अगस्त, १९१८ को बम्बई में श्री हसन हमाम की अध्यक्षता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। ठीक उसी समय महमूदाबाद के नवाब की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग का भी विशेष अधिवेशन हुआ। मुस्लिम लीग के अधिवेशन में भी कांग्रेस अधिवेशन जैसा ही प्रस्ताव पारित किया गया।

सन् १९१९ में कांग्रेस अधिवेशन ने जहां खिलाफत के प्रश्न की ओर ध्यान दिया, वहीं यह प्रस्ताव भी पारित किया कि "बकरीद के पूव पर गोहत्या न करने के अनुरोध के लिए कांग्रेस मुसलमानों को धन्यवाद देती है।"

अपने छह साल का विजनवास समाप्त कर लाला लाजपत राय जब २० फरवरी, १९२० को बम्बई पहुंचे तब भारत के राष्ट्रभक्तों की ओर से उनका स्वागत करने वाले नेता थे लोकमान्य तिलक, बैरिस्टर जिन्ना और ऐनी बिसेंट।

२ जून, १९२० की इलाहाबाद की सर्वदलीय सभा में कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन विषयक निर्णय का ७ दिसम्बर १९२० को कलकत्ता के मुस्लिम लीग के सम्मेलन में समर्थन किया गया था।

तिलक युग के मनोवैज्ञानिक वायुमण्डल का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि अमृतसर कांग्रेस के समय छिन्दवाड़ा जेल से मुक्त हुए शौकत अली और मुहम्मद अली बीच में कहीं और न जाते हुए सीधे अमृतसर के अधिवेशन में पहुंचे। वहां जाकर दोनों ने तिलक जी के वंदन और कांग्रेस की भूमिका का सार्वजनिक रूप से समर्थन किया।

बैरिस्टर जिन्ना और अली बन्धु आदि के तिलकयुगीन व्यवहार और उनके गांधी युगीन व्यवहार की तुलना करें तो दोनों युगों के कांग्रेस के नेतृत्व की तुलनात्मक क्षमता के बारे में अलग से भाष्य करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

तिलक जी के विचार और व्यवहार का संस्कार नागपुर की तिलक भक्त युवा पीढ़ी पर हो रहा था। स्पष्ट है कि इस संस्कार से संघ संस्थापक डॉक्टर हेडगेवार भी अछूते नहीं थे।

स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए किए जा रहे सशस्त्र प्रयासों के बारे में तिलक जी का दृष्टिकोण क्या था, इसकी सम्यक् जानकारी अंग्रेज सरकार को थी। इसी कारण रेण्ड हत्याकाण्ड से लेकर अन्त तक जहां कहीं ऐसे प्रयास सशस्त्र होते थे वहां तिलक जी का सहभाग नहीं तो, सहायता, और

नहीं तो कम से कम उनकी सहानुभूति तो होगी ही, यह संदेह सरकार के मन में रहता था। पत्रकार के नाते इसी प्रकार की भावना का प्रकटीकरण करने के कारण उनको सजाएं भुगतनी पड़ी थीं। अफजल खां-वध के विषय में बोलते समय वे निर्भय वृत्ति से कहते थे, "If thieves enter in our house and we have no strength to drive them out, should we not, without hesitation, shut them in and burn them alive? God has conferred on the Mlechhas (foreigners) no grant of Hindustan incribed on imperishable brass." "यदि चोर हमारे घर में घुस आएं और हममें उन्हें निकालने की ताकत न हो तो क्या हमें बिना संकोच उन्हें घर में बन्द करके जिन्दा जला नहीं देना चाहिए? ईश्वर ने म्लेच्छों (विदेशियों) को हिन्दुस्तान का अमर पट्टा लिख कर नहीं दिया है।"

शपथ

हुतात्मा श्री दामोदर चाफेकर की इस भावना से वे सहमत थे कि"Let us take a pledge to fight till the last breath and die bravely but not without tainting the earth red with English blood.... Is it not shameful that we call our country Hindustan (the land of Hindus) but let it be ruled over by English men?"

आओ हम शपथ लें कि अन्तिम श्वास तक लड़ेंगे और बहादुरी से मरेंगे लेकिन पृथ्वी को अंग्रेजों के खून से लाल रंगे बिना नहीं। ....क्या यह शर्मनाक नहीं कि हम अपने देश को हिन्दुस्तान कहते हैं (हिन्दुओं की भूमि) लेकिन इस पर अंग्रेजों का शासन भी चलने देते हैं? "तिलक जी का कहना था कि "If there, appeared even a 50 percent chance for the success of an armed rebellion, I would resort to it trust God to give success to the extent of the remaining half." यदि सशस्त्र विद्रोह की सफलता की पचास प्रतिशत संभावना भी हो तो भी मैं बाकी आधी सफलता के लिए ईश्वर पर विश्वास करते हुए उसे अपनाऊंगा।

तिलक युग के तेजस्वी वायुमंडल की सर्वप्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण देन है स्वातंत्र्य वीर सावरकर। उनके कर्तव्य की अमिट छाप युवकों के मन में रहती थी। वैसे भी मैडम कामा तथा श्याम जी कृष्ण वर्मा द्वारा यूरोप में किए जा रहे कार्य के समाचार भी उनको प्रेरित करते थे। सन् १९०७ में जर्मनी में सम्पन्न हुए, इन्टरनेशनल सोशलिस्ट कांफ्रेंस में सरदार सिंह राणा के साथ भाग लेकर मैडम कामा ने वहां भारत का (स्वनिर्मित) राष्ट्रीय ध्वज लहराया तो इस समाचार से भारत के युवा मन में बिजली-सी दौड़ गई थी। इन गतिविधियों की जानकारी तो अब सभी को है। किन्तु इस कालखण्ड का कांग्रेस का अधिकृत इतिहास पढ़ने से उस समय के युवा मानस की यथार्थ कल्पना नहीं आ सकती। सावरकर ने "संन्यस्त खड्ग" में जिस आत्यतिक अहिंसा का उपहास किया है, वह क्या गांधी को अभिप्रेत थी? यह प्रश्न अलग है। किन्तु उनके शिष्यों ने अहिंसा को अति हास्यास्पद बनाया। यहां तक कि पं. जवाहर लाल नेहरू ने भी इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि कांग्रेस अधिवेशनों की व्यवस्था के लिए जो स्वयं सैनिक दल बनाए जाते थे उनके बनने पर

भी कुछ गांधीवादियों ने अहिंसा के नाम पर आपत्ति उठाई। इस तरह की अहिंसा को जीवन मूल्य मानने वाले इतिहास लेखक शस्त्राचार्यों के प्रति न्याय करेंगे यह असम्भव है। किन्तु यह वास्तविकता है कि कांग्रेस की विभिन्न कार्यवाहियों की तुलना में क्रान्तिकारियों की गतिविधियां ही उस कालखण्ड की युवा पीढ़ी को अधिक आकर्षित तथा प्रभावित करती थीं। ऐसी गतिविधियों में से कुछ प्रमुख गतिविधियां ये थीं :

— दि० ६ दिसम्बर १९०७ को बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर की ट्रेन को उड़ा देने का प्रयास हुआ।

— दि० २३ दिसम्बर, १९०७ को ढाका के भूतपूर्व डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट एलन को गोली से खत्म करने का असफल प्रयास किया।

— दि० ३० अप्रैल, १९०८ को प्रेसीडेन्सी मैजिस्ट्रेट किंग्जफोर्ड पर प्रफल्ल चाकी तथा खुदीराम बोस द्वारा बम फेंका गया जिसके कारण श्रीमती तथा कुमारी कैनेडी की मृत्यु हुई।

— मई, १९०८ में माणिकतल्ला बम केस, उसके पश्चात ढाका, फरीदपुर मैमनसिंग तथा बाकरगंज क्षेत्रों में क्रान्तिकारी घटनाएं।

— दि० १ नवम्बर, १९०९ को लार्ड तथा लेडी मिन्टो पर अहमदाबाद शहर में बम फेंका गया।

— श्री वी.वी.एस. अय्यर तथा तिरूमल आचार्य के नेतृत्व में पांडिचेरी में क्रान्तिकारी गतिविधियां।

— दि० १७ जून, १९११ को तिनेवेली डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट एशे पर भी बंची अय्यर ने गोलियां चलाईं (तिनेवेली कांस्पिरेसी केस)।

— दि० २२ दिसम्बर, १९१२ को दिल्ली के चांदनी चौक में रासबिहारी बोस ने लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका (दिल्ली कांस्पिरेसी केस)।

— कनाडा के भारतीय विरोधी कानून के विरोध में सन् १९१४ का कनाडा के बाबा गुरुदित्ता सिंह का सुप्रसिद्ध "कामा गाटा मारू" (जापानी जहाज प्रकरण) जिसकी समाप्ति मेवा सिंह द्वारा कनाडा के इमिग्रेशन आफिस (उत्प्रवास कार्यालय) प्रमुख हॉपकिन्स की हत्या से हुई।

— यूनाइटेड स्टेट्स के पश्चिम किनारे पर बने हुए भारतीयों को संगठित करने का तारकनाथ दास तथा सोहन सिंह भाकना का प्रयास—उसी में से सनफ्रान्सिस्को में केन्द्र, अमरीका और अतिपूर्व में गदर पार्टी की स्थापना।

— दि० २१ जनवरी, १९१५ को अखिल भारतीय विद्रोह की गदर पार्टी की असफल योजना—बागी करतार सिंह, भाई परमानन्द, गणेश पिंगले, जगत सिंह तथा हरनाम सिंह के संचालकत्व में—जिसकी समाप्ति (अन्य सभी साथियों की फांसी तथा काले पानी के पश्चात) दि० १६ नवम्बर, १९१५ को गणेश पिंगले को फांसी हुई।

— सिंगापुर में जमादार चिस्तीखां तथा सूबेदार दण्डेखां के नेतृत्व में ५ वीं लाइट इन्फेन्ट्री के

७०० जवानों का विद्रोह।

— प्रथम महायुद्ध के दौरान लाला हरदयाल, रवीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्रनाथ दत्त तथा एम.एन. राय द्वारा जर्मनी तथा रूस में विलियम कैसर तथा लेनिन की सहायता से किए गए प्रयास तथा राजा महेन्द्र प्रताप द्वारा काबुल में स्वतंत्र भारत (Provisional Government) की स्थापना।

— सन् १९१५ में बाघा जतीन (जतीन्द्रनाथ मुखर्जी) द्वारा अपने चार साथियों के साथ सशस्त्र पुलिस की बटालियन से बालासोर (उड़ीसा) के जंगल में की हुई संस्मरणीय लड़ाई।

— इस तरह के कितने ही स्फूर्तिप्रद समाचार उस समय के युवक सुना करते थे और उनका उचित स्वागत करने की योग्य मानसिकता नागपुर के युवकों में थी। उन युवकों में युवा केशवराव का प्रमुख स्थान था।

५. परिवर्तित परिस्थितियां, अपरिवर्तित प्रेरणाएं

संघ निर्माण के पश्चात व्यक्ति विशेष के नाते संघ-नेतृत्व में दो बार परिवर्तन हुए किन्तु नेतृत्व प्रक्रिया की गुणात्मकता के नाते संघ-नेतृत्व अपरिवर्तित रहा। "शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः" न्याय संघ के तीनों सरसंघचालकों पर समान रूप से लागू होता है। इस कारण तीनों को एक-दूसरे की प्रतिच्छाया कहना सर्वथा उचित होगा।

तो भी परिस्थितियों का स्वरूप अखण्डप्रवाही होने के कारण तीनों को जिन कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा, उनका स्वरूप कुछ मात्रा में भिन्न रहना स्वाभाविक है। कुछ कठिनाइयां संघ जीवन के पूरे कालखण्ड की सामान्य विशेषताएं मानी जा सकती हैं, किन्तु कुछ कठिनाइयों का स्वरूप ऐसा है कि जिनको हर एक कालखण्ड की अपनी-अपनी विशेताएं माननी पड़ेंगी।

बीच में बहुत काल व्यतीत हो जाने के कारण डॉक्टर जी के कालखण्ड की विशेष कठिनाइयों की कल्पना करना आज की पीढ़ी के लिए कठिन है।

सन् १९२० से १९४० तक के दो दशकों में परिस्थितियों का प्रवाह कितना गतिमान रहा इसका अनुमान कई बातों से लगाया जा सकता है। उनमें से एक सूचकांक डॉ॰ मुंजे के जीवन में इस बीच आए उतार-चढ़ाव को माना जा सकता है। देश के दूसरे किसी भी प्रान्त की तुलना में सी. पी. और बरार की कांउसिल में डॉ॰ मुंजे के नेतृत्व के विधायक दल द्वारा किया गया कार्य सबसे अधिक प्रभावी रहा, यह प्रशस्ति-पत्र प्राप्त होने का क्षण उनके यश का परमोच्च बिन्दु था, तो कम्युनल अवार्ड के मुद्दे पर अण्णे-मालवीय के कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी के प्रत्याशी के नाते चुनाव लड़ने के बाद मतदान क्षेत्र अति सीमित होते हुए भी, ३२१६ मतों से हुई उनकी हार उनके सार्वजनिक जीवन का निम्नतम बिन्दु था। यद्यपि इस विषय में सही अनुमान करना समकालीनों के लिए भी कठिन ही रहा कि श्री विपिनचन्द्र पाल, श्री न॰ चिं॰ केलकर आदि की उन दिनों हुई हालत और कई प्रदेशों में प्रस्थापित जन नेतृत्व को चुनौती देते हुए जो वैकल्पिक नेतृत्व (बंगाल

में श्री जे. एम. सेनगुप्ता, विदर्भ में श्री बृजलाल बियाणी, मराठी मध्य प्रान्त में बैरिस्टर अभ्यंकर) सामने आया वह कांग्रेसी आन्दोलन के व्यापक स्वरूप का स्वाभाविक परिणाम था या किसी पूर्व नियोजित षड्यंत्र का फल।

नई परिस्थिति में कई नई शक्तियां उभरकर आ रही थीं।

मांटफोर्ड सुधार के अन्तर्गत अक्तूबर, १९२० में सम्पन्न हुए प्रथम चुनाव में कांग्रेसियों के हिस्सा लेने का कोई प्रश्न ही नहीं था। तब तक स्वराज्य पार्टी का भी गठन नहीं हुआ था। इस चुनाव ने ब्राह्मणेतर पक्ष को बढ़ावा दिया और उसे एक शक्ति के रूप में खड़ा किया। नागपुर के श्री वामनराव घोरपडे तथा बाबूराव भोंसले, बुलढाणा के श्री पंढरीनाथ पाटिल, मोर्शी के नाना साहब अमृतकर, वर्धा के रा॰ ब॰ नायडु, अमरावती के अकर्ते, चांदूर तहसील के गुलाबराव नायागांवकर इस पक्ष के प्रमुख प्रवक्ता थे।

किन्तु सन्, १९२० में नागपुर में सम्पन्न हुए अखिल भारतीय बहिष्कृत समाज परिषद के अध्यक्ष पद से बोलते हुए छत्रपति शाहू महाराज ने ब्राह्मणेतर नेताओं से सवाल किया था कि सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के स्तर पर आने की इच्छा तो आप रखते हो, किन्तु उसी तरह अस्पृश्यों को अपने बराबर बिठाने की तैयारी आपके मन की है क्या? इसके परिणामस्वरूप, और पश्चिम महाराष्ट्र में उस समय चल रही डॉ॰ बाबासाहब अम्बेडकर की गतिविधियों की वार्ताएं सुनकर नागपुर प्रदेश के अस्पृश्य समाज में भी (विशेष रूप से महार वर्ग में) नई सामाजिक चेतना तथा उसके नेतृत्व का उदय हो रहा था। श्री दशरथ पाटिल आदि दलित कार्यकर्ता उस समय युवावस्था में थे।

इस समय मजदूर क्षेत्र भी जागृत हो रहा था। इसके प्रमुख कार्यकर्ता थे श्री घुंडिराजपंत ठेंगड़ी, श्री किसन फागू तथा श्री रामभाऊ रूईकर।

इसके बिल्कुल विपरीत प्रदेश के कुछ देशभक्त मालगुजार लोग भी (विनोद में नामकरण किए हुए) "नरेन्द्र मण्डल" में बीच-बीच में एकत्रित होते थे। इसमें सर्वश्री टालाटुले, बाबासाहब तरोडेकर और समीउल्ला खां आदि शामिल थे।

कांग्रेसी चुनाव के मैदान में नहीं थे। इस कारण वहां अवांछनीय तत्वों को आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त न हो, इस बुद्धि से काम करने वाला राष्ट्रीय पक्ष कार्यरत था। इसके प्रमुख थे श्रीमान् बाबासाहब खापर्डे, बैरिस्टर रामराव देशमुख, मनोहरपंत देशपाण्डे, गोविन्दराव चरडे (वर्धा) और बलवंतराव देशमुख (चांदा) आदि।

हिन्दू महासभा भी सक्रिय थी। इसमें डॉ॰ मुंजे, डॉ॰ हेडगेवार, राजे लक्ष्मण भोसले, विश्वनाथराव केलकर, जगन्नाथ प्रसाद वर्मा, "सावधान" साप्ताहिक के सम्पादक रा॰ बा॰ मावकर तथा पु॰ भा॰ भावे आदि उसके लेखक, प्राध्यापक वि॰ घु॰ देशपाण्डे, बालशास्त्री हरदास, बिन्दु माधव पुराणिक प्रभृति क्रियाशील थे। यही लोग कम्युनल अवार्ड के प्रश्न पर निर्माण हुए कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी के भी कार्यकर्ता रहे थे।

डॉ॰ मुंजे की पकड़ शिथिल होने के बाद मराठी मध्य प्रान्त कांग्रेस कमेटी जिनके हाथ में गई वे नए नेता थे : बैरिस्टर मोरूभाऊ अभ्यंकर, श्री पूनमचन्द रांका, श्री जमनालाल बजाज, महात्मा भगवानदीन, जनरल मंचरशा आवारी, हलदे, ऊधोजी, दादा धर्माधिकारी, दीनदयाल गुप्त, नीलकंठराव देशमुख (विरूलकर), डॉ॰ ना॰ भा॰ खरे, ए. श्री. पटवर्धन, बाबूराव हरकरे, "निःस्पृह" के सम्पादक मा. ज. कानेटकर, गणपतराव टिकेकर प्रभृति। विदर्भ में बापूजी अणे तथा वीर वामनराव जोशी के साथ-साथ बृजलाल बियाणी उभरकर आ रहे थे।

"महाराष्ट्र" पत्र के सम्पादक श्री गोपालराव ओगले का भी इस कार्य में अपने ढंग का योगदान था।

महात्मा गांधी का प्रमुख केन्द्र वर्धा में रहने के कारण राष्ट्रीय स्तर के सभी राजनीतिक नेताओं के लिए नागपुर प्रदेश में बार-बार आना आवश्यक हो जाता था और वर्धा (मगनवाड़ी) में चलाए गए विविध रचनात्मक कार्यों के केन्द्र सात्विक और रचनात्मक वृत्ति के कार्यकर्ताओं के लिए आकर्षण केन्द्र बन गए थे। आगे चलकर "सर्वोदय" आन्दोलन का केन्द्र भी वर्धा के परिसर में ही रहा।

गांधी-नीति से असहमति रखने वाले तिलक पक्षीय वकील तथा बुद्धिजीवी लोग प्रदेश में जगह-जगह थे। गांधीजी की अहिंसा को स्वीकार न करने वाले कुछ क्रान्तिकारी भी अनुकूल समय की प्रतीक्षा कर रहे थे।

वर्णाश्रम स्वराज्य संघ के श्री अप्रबुद्ध, निवृत्त न्यायाधीश पराण्डे तथा श्री गिरणीकर अपने साप्ताहिक पत्र द्वारा अपने मत का प्रचार कर रहे थे।

नागपुर प्रदेश के युवक बलोपासक होने के कारण स्थान-स्थान पर जो अखाड़े और व्यायामशालाएं चलती थीं, उनके उस्ताद तथा "नागपुर" और "भारत" व्यायामशालाओं के श्री अण्णा खोत, श्री दत्तोपंत मारूडकर और अमरावती के "हनुमान व्यायाम प्रसारक मण्डल" के डा॰ शिवाजी राव पेटवर्धन, अम्बादास पंत वैद्य, असनारे, काणे, कोकर्डेकर आदि लोग युवकों को उस दिशा में स्फूर्ति प्रदान करते थे।

अनाथ विद्यार्थी गृह, श्रद्धानन्द अनाथालय, वाचनालय, अंधविद्यालय, गोरक्षण सभाएं, भजन मण्डलियां आदि समाजसेवी संस्थाओं, धार्मिक सम्प्रदायों तथा विद्यार्थी युवक मण्डलों के संचालक "गोमांतक शुद्धि"— ख्याति के विनायक महाराज मसूरकर, "मुक्ति सेना" के संत पांचलेगांवकर महाराज तथा गुरुदेव मण्डल मोझरी के संत तुकड़ोजी महाराज आदि के शिष्य, दादाशास्त्री कायरकर के समान राष्ट्रीय कीर्तनकार आदि सभी अपनी-अपनी पद्धति से जनजागरण का कार्य कर रहे थे।

इन सबके साथ संघ संस्थापक डाक्टर जी की दलनिरपेक्ष वृत्ति से घनिष्ठ सम्पर्क तथा मधुर सम्बन्ध थे।

इनके अलावा डॉक्टरजी की सम्पर्क सीमा में सर्वश्री नारायणराव अलेकर, न्यायमूर्ति भवानीशंकर नियोगी, डी॰ लक्ष्मीनारायण, दाजी शास्त्री चांदेकर, तात्याजी वझलवार प्रभृति सर्वमान्य व्यक्ति भी थे।

ऐसे ही व्यक्तियों में डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी की गिनती थी। १९४० के नागपुर में संघ शिक्षा वर्ग के पश्चात डाक्टरजी के साथ हुई भेंट में डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने आग्रह किया कि "इसके आगे संघ को राजनीति में प्रवेश करना चाहिए।" श्यामाप्रसाद मुखर्जी का राष्ट्रजीवन में कितना महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है इसका अनुमान डाक्टरजी को था। इसी कारण संघ कार्यकर्ताओं ने कलकत्ता में उनके साथ सम्पर्क कायम रखा था, और संघ कार्य देखने के लिए उन्हें नागपुर में बुलाया गया। इस प्रकार के महत्वपूर्ण व्यक्ति के सुझाव को अस्वीकार करना बहुत ही कठिन था। उनकी भावना को कोई चोट न पहुंचाते हुए अपनी नीति उनके सामने असंदिग्ध भाषा में रखना अतीव कुशलता की बात थी। डाक्टरजी ने विनम्रतापूर्वक कहा कि "संघ प्रचलित राजनीति में भाग नहीं लेगा।" किन्तु साथ-साथ इस अस्वीकार के कारण डाक्टर मुखर्जी के मन में कोई भी विपरीत भाव पैदा न हो, इसका भी ध्यान था और पूरी बातचीत तथा वायुमण्डल का रुख भी इस तरह का था कि उन पर विपरीत परिणाम नहीं पड़ा। डाक्टर मुखर्जी भी ऊंचे स्तर के व्यक्ति थे। छोटे दिल का व्यक्ति दूसरे की बात समझने की कोशिश न करते हुए एकदम नाराज हो जाता है। डाक्टर मुखर्जी भिन्न श्रेणी के थे। उन्होंने डाक्टरजी का उत्तर उसी भाव से समझा जिस भाव से वह दिया गया था। समर्थ रामदास ने कहा कि "अन्तर्निष्ठों के संकेत अन्तर्निष्ठ ही जानते हैं।" इस संभाषण प्रसंग में बातचीत करने वाले दोनों डाक्टर अन्तर्निष्ठ थे, इस कारण गलत धारणा की सभावना भी नहीं थी। यह बात वहां उपस्थित श्रीगुरुजी के ध्यान में आई कि डाक्टरजी का मन डाक्टर मुखर्जी ने ठीक ढंग से समझ लिया है।

* * * * *

अपने खुद के प्रस्ताव के अस्वीकार होने के पश्चात स्वयं केन्द्रित व्यक्तिवादी व्यक्ति और अन्तर्निष्ठ व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर भगवान से कहते हैं, "मैंने अपने मन में प्राणपण से कई वासनाएं जतन करके रखी थीं। उन वासनाओं की पूर्ति से मुझे वंचित कर आपने मुझे बचा लिया है। आपकी यह कठोर कृपा ही मेरे सम्पूर्ण जीवन की पूंजी है। ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता की मानसिकता इसी प्रकार की हुआ करती है।

* * * * *

इस सम्पूर्ण विषय का निष्कर्ष श्री नाना पालकर द्वारा लिखित "डाक्टर हेडगेवार चरित्र" के लिए परमपूजनीय श्रीगुरुजी द्वारा लिखी गई प्रस्तावना के समारोप में इस प्रकार पाया जाता है :

"यद्यपि परिस्थिति के अनुसार उन्होंने राजनीति का अवलम्बन किया था, फिर भी राष्ट्र के उत्कर्षापकर्ष के कारणों की मीमांसा करके उन्होंने यह ध्यान में रखा कि स्पर्धा-ईर्ष्यादिपूर्ण प्रचलित राजनीति केवल अनुपयुक्त ही नहीं, अपितु यदि पूरी सतर्कता नहीं बरती गई तो हानिकारक भी सिद्ध हो सकती है। साथ ही यह सत्य पहचानकर कि राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला उसका जाग्रत अनुशासित एवं सुसंगठित सामर्थ्य ही है, उन्होंने परिस्थिति के आघात-प्रत्याघात, स्वकीयों की टीका एवं अवमानना आदि को हंसते-हंसते सहकर भी, उस

हिन्दू महासभा ने "हिन्दू मिलीशिया" नामक एक स्वयंसेवक दल का गठन करने का विचार किया था। उसका आग्रह था कि उस कार्य की जिम्मेदारी डाक्टरजी उठाएं। इस विषय पर अपनी असमर्थता तथा असहमति प्रकट करते हुए ३० सितम्बर, १९३९ को डाक्टरजी ने डा॰ मुंजे को लिखा, "अतः "हिन्दू मिलीशिया" के सम्बन्ध में आप मेरा नाम कहीं भी न डालें। नाम न होते हुए भी इस विषय में मुझसे जो सहायता सम्भव होगी, वह अवश्य करूंगा।"

इस प्रकार डाक्टरजी ने अपनी भूमिका स्पष्ट शब्दों में रखी तो भी १२ अक्तूबर के अपने पत्र में श्री श॰ रा॰ दाते ने उन्हें यह निर्णय सूचित किया कि महाराष्ट्र की "हिन्दू मिलीशिया" समिति में उनका नाम शामिल किया गया है। डाक्टरजी ने डॉ॰ मुंजे के प्रति आदर की भावना रखते हुए अत्यन्त सौजन्यता के साथ उनके (डा॰ मुंजे के) इस आग्रह को अमान्य कर दिया।

* * * * *

डाक्टरजी के जीवन में सबसे बड़ा मानसिक समर प्रसंग इनके जीवन के अन्तिम चरण में आया। श्री नाना पालकर ने इसका वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया है।

१७ मार्च, १९४० को हिन्दू महासभा की ओर से "राम सेना" नाम से एक स्वयंसेवक दल का नागपुर में प्रारम्भ हुआ। इस विषय में प्रकाशित पत्र में लिखा था कि, "... राम सेना महासभा की सेना होगी। मण्डल के अध्यक्ष डा॰ मुंजे के द्वारा जारी महासभा की सभी आज्ञाएं रामसेना को पालन करनी होंगी।" इस पत्रक में इस बात का भी स्पष्टीकरण था कि "पथक दल बनाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दुओं के सैनिक-शिक्षण के द्रोणाचार्य डा॰ हेडगेवार ने नागपुर में एक पक्षातीत संघठन प्रारम्भ किया है।"

२७ मार्च को "महाराष्ट्र" में रामसेना के पदाधिकारियों की घोषणा की गई। उसमें डा॰ हेडगेवार का भी समावेश था। राजगीर में जब डाक्टरजी को इसकी सूचना मिली तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ तथा कुछ गुस्सा भी आया। कारण, संघ एवं रामसेना दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले संगठनों में एक ही समय पदाधिकारी के रूप में रहना संगठन की दृष्टि से अहितकर था और फिर उनके स्वास्थ्य की वर्तमान अवस्था में तो यह सम्भव भी नहीं था। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी यह असमर्थता स्पष्ट एवं असंदिग्ध शब्दों में "रामसेना" के प्रवर्तकों को बार-बार विदित करा दी थी। फिर भी उनका नाम घसीटने की प्रवृत्ति उन्हें अच्छी नहीं लगी। अतः ३ अप्रैल के "महाराष्ट्र" में उन्होंने एक छोटा सा सम्पादकीय-स्पष्टीकरण प्रकाशित करवाया। उसमें कहा गया था कि "नागपुर नगर हिन्दू सभा द्वारा निर्मित रामसेना को सफल बनाने के लिए जो अपील ७ मार्च के "महाराष्ट्र" में छपी है, उस सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चालक हेडगेवार राजगीर से सूचित करते हैं कि "उस पत्रक में मेरा नाम बिना मेरी जानकारी तथा अनुमति के छापा गया है।" डाक्टरजी यह जानते थे कि इस स्पष्टीकरण के प्रकाशित होने पर डा॰ मुंजे जैसे आदरणीय व्यक्तियों को बुरा लगेगा तथा इस कारण वे कुछ चिन्तित भी थे किन्तु बुराई सहन करके भी उन्होंने इस कर्तव्य का निर्वाह किया। कर्तव्य अनेक बार इसी प्रकार कठोर होता है।

भी केवल अनुशासन के नाते मानने वाले, सभी एक ही मंच पर और एक ही छत्र के नीचे थे। एक ही छत्र के नीचे कट्टर राष्ट्रवादी थे तो एम. एन. राय जैसे कट्टर अन्तर्राष्ट्रीयवादी भी थे। हिन्दू महासभा, मृत्यु के पूर्व तिलक जी द्वारा स्थापित कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी तथा बाद में बने लोकशाही स्वराज्य पक्ष के लोग भी कांग्रेस में सक्रिय थे। धर्मात्मा मालवीय जी दो बार कांग्रेस और तीन बार हिन्दू महासभा के अध्यक्ष रहे। जनवरी, १९२३ में काउंसिल प्रवेश के प्रश्न पर गांधी जी से मतभेद रखने वाले देशबन्धु चितरंजन दास तथा पंडित मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के अन्तर्गत ही "स्वराज्य पार्टी" के नाम से अपना अलग गुट बनाया था। सन् १९२६ के फरवरी में जयकर केलकर ने "रेस्पांसिविस्ट" पार्टी की स्थापना की और उसी वर्ष अप्रैल में "नेशनलिस्ट पार्टी की स्थापना की गई। इन दोनों पार्टियों के नेता कांग्रेस के अन्तर्गत थे। सन् १९२९ में मौलाना आजाद ने कांग्रेस के अन्तर्गत "नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी" बनाई। सन् १९३४ में समाजवादी विचारों के लोगों ने कांग्रेस के अन्दर ही अपने "कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप" का गठन किया। कम्युनल अवार्ड के प्रश्न पर गांधी जी से मतभेद रखने वाले अण्णे-मालवीय ने "कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी" के नाम से निर्वाचन में भी हिस्सा लिया था। सन् १९३६ में कांग्रेस में प्रवेश करने के पश्चात श्री एम. एन. राय ने अपने "रेडिकल डेमोक्रेटिक" मित्रों को कांग्रेस के अन्तर्गत ही एकत्र किया था, और कांग्रेस सोशलिस्टों को यह सलाह दी थी कि वे "सोशलिस्ट" किसी भी वामपंथी कार्यक्रम के बारे में इतना आग्रह न रखें कि उनको ही कांग्रेस से बाहर जाना पड़े। कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देने के बाद थोड़े ही दिनों में मई, १९३९ में श्री सुभाषचन्द्र बोस ने "फारवर्ड ब्लाक" की स्थापना की थी, किन्तु उसको भी प्रारम्भ में कांग्रेस के अन्तर्गत ही माना गया था। मतलब यह कि सर्वमान्य अर्थ में उन दिनों कांग्रेस का स्वरूप एक नियमित राजनीतिक दल का नहीं था, कांग्रेस एक सर्वसमावेशक मंच था।

किन्तु ऐसा दिखाई देता है कि इस सर्वसमावेशकत्व की भूमिका धीरे-धीरे संकुचित और संकीर्ण होती गई। विभिन्न मतवादियों को संभालकर चलने की सहिष्णुता अधिकाधिक कम होती गई और कांग्रेस का "मंच" के स्वरूप से "दल" में रूपान्तरण होता गया।

२४ जुलाई, १९३५ को ब्रिटिश संसद ने "गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया बिल" पारित किया। २ अगस्त को उसे सम्राट की स्वीकृति प्राप्त हुई। २३ अगस्त, १९३६ को कांग्रेस ने अपना "घोषणा-पत्र" प्रकाशित किया। फरवरी, १९३७ में चुनाव हुए। १७ मार्च, १९३७ को कांग्रेस ने सम्बन्धित लोगों को प्रान्तों में मंत्रिमण्डल बनाने का अधिकार दिया। देश के ११ में से ७ प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमण्डल बन गए। सितम्बर, १९३८ में असम भी कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बना । सिंध में कांग्रेस समर्थित मंत्रिमंडल सत्ता में आया। इस पूरी अवधि में सरदार वल्लभभाई पटेल कांग्रेस की संसदीय उपसमिति केअध्यक्ष थे। शायद मंत्रिमण्डलों को सरकार के साथ चल रहे युद्ध का ही एक अंग माना गया था, इस कारण सम्पूर्ण जिम्मेदारी संभालने वाले व्यक्ति को युद्धकालीन सर्वाधिकार देना अनिवार्य हुआ होगा। किन्तु संगठन की आन्तरिक अवस्था की दृष्टि से इस स्थित्यंतर से निर्मित वायुमण्डल का अपरिहार्य परिणाम यह हुआ कि गांधी जी से सहमति न

रखने वालों के लिए कांग्रेस में रहना असम्भव हो गया। सरदार पटेल के बारे में जान गुंथर ने लिखा है कि "वह दल के श्रेष्ठतम प्रमुख हैं। वह दल को व्यवस्थित और संगठित करने वाले कठोर व्यक्ति हैं जिनकी तुलना जिम फार्ले से की जा सकती है। एक बार गांधी जी निश्चित कर लें कि कौन सी नीति अपनानी है तो फिर पटेल उसे पूरा करवाकर दम लेते हैं। वे कांग्रेस के आठ मंत्रिमण्डलों को नियंत्रित करते हैं।"

एक अन्य अधिकारी लेखक कहते हैं : "वह (पटेल) कांग्रेस के फ्यूहरर थे और वैधानिक एवं वास्तविक रूप में भी कांग्रेस संसदीय साम्राज्य के सम्राट थे।"

इसी के फलस्वरूप दिसम्बर, १९४० में एम. एन. राय को कांग्रेस के बाहर जाना पड़ा। लगभग उसी समय सुभाष बाबू की भी यही अवस्था हुई। और इसके थोड़े ही दिन पूर्व हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों ने भी अनुभव किया कि अब कांग्रेस में रहना सम्भव नहीं है। सर्वसमावेशक मंच के स्वरूप से एक दल में होने वाला कांग्रेस का रूपान्तरण नरीमन-खरे-सुभाष प्रकरणों से पूर्णरूपेण स्पष्ट होता है।

किन्तु रूपान्तरण की यह प्रक्रिया पूर्ण होने के पूर्व तक सभी देशभक्तों की इच्छा कांग्रेस में ही रहते हुए उसे सर्वसंग्राहक साम्राज्य विरोधी माध्यम बनाने की रही और इसी कारण गांधीजी से हुए मतभेदों के बावजूद हिन्दुत्वनिष्ठ भी पूरी शक्ति लगाकर, राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस के ही ध्वज के नीचे सक्रिय थे। डाक्टर हेडगेवार जी भी उन्हीं में से एक थे।

तिलकजी की मृत्यु के समय नागपुर प्रदेश में सर्वसम्मति से कांग्रेस का नेतृत्व करने की जिम्मेदारी डा॰ मुंजे पर थी। उनकेही प्रभाव तथा कार्यकुशलता के कारण मध्यप्रान्त और बरार में काउंसिल प्रवेश का कार्यक्रम देश में सबसे अधिक सफल हुआ था। विदर्भ में लोकनायक बापूजी अण्णे का एकछत्र नेतृत्व तथा तिलक विचारों के जनमानस पर हुए प्रभाव के कारण डॉ॰ मुंजे की स्थिति मराठी मध्य प्रान्त में मजबूत थी और वहां के कार्यकर्ताओं की टोली भी एकसूत्र थी, जिसके प्रमुख कार्यकर्ता डाक्टर जी, अप्पाजी जोशी (वर्धा), प्रभृति थे।

गांधी युग में प्रान्तीय कांग्रेस के इस स्वरूप में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। अन्य कुछ प्रदेशों के समान यहां भी तब तक के प्रस्थापित लोकनेतृत्व को चुनौती देने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी या बढ़ाई गई। मांटफोर्ड योजना के अन्तर्गत हुए प्रथम चुनावों में जिन अवांछनीय प्रवृत्तियों को इस प्रान्त में बढ़ावा मिला उनकी पृष्ठभूमि के गांधी आन्दोलन की व्यापकता पर हुआ परिणाम समय बीतने के साथ-साथ जनमानस में तिलक जी के व्यक्तित्व-कर्तृत्व का विस्मरण बढ़ते जाने की स्वाभाविक या अंशतः सुनियोजित प्रक्रिया, तिलक स्वराज्य फंड के पैसे से स्थान-स्थान पर ऐसे नए व्यक्तियों की कांग्रेस के पूर्णकालीन कार्यकर्ता के रूप में नियुक्तियां जिनके मन में तिलक-प्रणाली के विषय में उदासीनता और अनास्था थी, गांधी युग का नए राष्ट्रीय नेतृत्व की प्रतिमा निर्माण का सुनियोजित प्रयास और साथ-साथ कुछ दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं, जैसे, प्रथम डा॰ मुंजे गुट के ना॰ श्री॰ ब॰ ताम्बे और बाद में उसी गुट के माने गए श्री ई॰ राघवेन्द्र राव द्वारा मोहवश

है।" "सोन्या मारूती सत्याग्रह" के समय पूना में संघ शिक्षा वर्ग चल रहा था। हिन्दू महासभा के उत्साही कार्यकर्ताओं की तीव्र इच्छा थी कि इस सत्याग्रह में संघ के नाते भाग लेना चाहिए, और डाक्टरजी को पूना में प्रवेश करने के बाद पहला काम सत्याग्रह में हिस्सा लेने का ही करना चाहिए।

सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय डाक्टरजी पहले ही कर चुके थे। किन्तु उनकी ऐसी मान्यता थी कि संघ शिक्षा वर्ग का महत्व स्थायी स्वरूप का है। इस कारण जल्दबाजी न करते हुए संघ शिक्षा वर्ग का समापन होने के बाद उन्होंने दिनांक १३ मई को चार बजे सत्याग्रह किया। संघ की मूल भूमिका पर डाक्टरजी स्थिर रहें और संघ शिक्षा वर्ग को उन्होंने प्राथमिकता दी। इन कारणों से नाराज होने वालों की संख्या कम नहीं थी।

अक्तूबर, १९३२ में "भागानगर (हैदराबाद) निःशस्त्र प्रतिकार मण्डल" के तत्वावधान और स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी के नेतृत्व में हिन्दू महासभा तथा आर्यसमाज ने सत्याग्रह प्रारम्भ किया। इस सत्याग्रह में श्री भैयाजी दाणी प्रभृति सैकड़ों स्वयंसेवकों ने व्यक्तिगत रूप से हिस्सा लिया। स्पष्ट था कि इस तरह का काम करने की प्रेरणा उन्होंने संघ से ही प्राप्त की थी। किन्तु कट्टर हिन्दू महासभाइयों को केवल इतने से संतोष नहीं था। बम्बई से निकलने वाला उनका मराठी मुखपत्र "वन्देमातरम्" संघ की इस नीति पर सख्त नाराज था। "संघ को संघ के नाते भागानगर सत्याग्रह से अलग रखने के अपराध" के लिए वंदेमातरम् ने लगातार बारह लेखों में डाक्टरजी पर कड़ी टीका-टिप्पणी की। उसके उत्तर में नागपुर के "सावधान" ने २७ मई के अपने अंक में लिखा : "यदि श्री गो॰ गो॰ अधिकारी ने नित्य कार्य और नैमित्तिक कार्य के बीच विवेक किया होता तो उन्होंने संघ के विरुद्ध बारह विषैली फुंकार न मारी होतीं। भागानगर सत्याग्रह के उमड़ते हुए उत्साह के बचपने आवेश में श्री अधिकारी शायद यह भूल गए हैं कि अभी राष्ट्र की स्वतंत्रता का कार्य शेष पड़ा है। राष्ट्र की मुक्ति के लिए अन्तिम दांव लगाने के पूर्व उसकी पूर्ण तैयारी आवश्यक होती है। संघ कार्य राष्ट्र की मुक्ति का नित्य कार्य है तथा भागानगर सत्याग्रह जैसे आन्दोलन उसके नैमित्तिक कार्य हैं। परंतु भिन्न-भिन्न कार्य करने वाली संस्थाएं पृथक होती हैं— पृथक रखनी होती हैं, तथा यद्यपि यह दोनों कार्य समानान्तर होते रहे, रखने पड़े— तो भी नित्य कार्य में संलग्न संस्था नैमित्तिक कार्य के लिए ऐसा कोई पग नहीं उठा सकती, जिसमें वह अपनी शक्तिसर्वस्व और वैशिष्ट्य को भुलाकर नित्य कार्य में खण्ड उत्पन्न कर दे।"

आश्चर्य की बात यह थी कि भागानगर सत्याग्रह के नेताओं ने १९३८ के दिसम्बर में यह प्रकाशित किया कि "संघ ने भागानगर आन्दोलन में संघ के नाते ही भाग लिया।" इस तरह यह संघ को राजनीति में घसीटने का ही प्रयास था। अतः डाक्टर जी ने उनको एक पत्र लिखकर स्पष्ट किया कि "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विषय में लोगों में गलतफहमी पैदा करने वाली वार्ता का आपके पत्रकों में आना आपके कार्य की दृष्टि से कभी भी हितावह नहीं है। अतः अपने प्रकाशन विभाग को तुरन्त कड़ी सूचना दें कि इसके आगे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उल्लेख आपके पत्रकों में न किया जाए।"

* * * * *

वैसे ही, प्रथम गोलमेज परिषद् के समय की बात लीजिए। डॉ॰ मुंजे का परिषद में उपस्थित रहना हिन्दू हितों की दृष्टि से अपरिहार्य था। किन्तु यह कदम कांग्रेस की नीति के विरोध में होने के कारण डा॰ मुंजे के परिषद में जाने का घोर निषेध नागपुर के कांग्रेसियों ने किया। डॉ॰ मुंजे की शक्ल का गैंडे का एक बड़ा चित्र बनाकर कांग्रेसियों ने उसका जुलूस निकाला, यद्यपि डॉ॰ मुंजे भक्त दो-चार युवकों ने इतने बड़े जुलूस में साहसपूर्वक घुसकर सबके सामने वह चित्र फाड़ डाला तथापि डॉ॰ मुंजे का समर्थन करना उन दिनों जनरोष को निमंत्रण देना था। किन्तु डाक्टर जी की मान्यता थी कि "वरं जनहितं ध्येयं केवला न जनस्तुतिः"— केवल जनहित का वरण करो जनस्तुति का नहीं।

डॉ॰ मुंजे के लंदन से वापस लौटने के बाद १६ अप्रैल को उनके सम्मान में आयोजित स्वागत समारोह में भाषण करते हुए डाक्टर जी ने कहा था :

"...लोकमत के प्रवाह में सस्ती लोकप्रियता के पीछे बहते जाना सरल है, किन्तु सच्चे नेता का काम यह है कि यदि स्वतः की सद्विवेक बुद्धि को न जंचे तो लोकमत के प्रवाह के विरुद्ध खड़े रहकर भी अपना मत छाती ठोंककर जनता के समाने रखे। प्रवाह के साथ-साथ बहना नेता का नहीं, अनुयायी का लक्षण है। सच्चा नेता तो वह है जो परिस्थिति को अपने मत के अनुसार बनाकर लोकमत को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । नेतृत्व की कसौटी लोकमतानुवर्तित्व नहीं, लोक नियंत्रण है। अवसर पड़ने पर लोकमत के विरुद्ध जाने में भी न हिचकना ही सत्यनिष्ठा है और यदि इस कसौटी पर कसकर देखा जाय तो डा॰ मुंजे जैसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति सम्पूर्ण नागपुर में दूसरा नहीं मिलेगा।"

इस भाषण से डाक्टरजी की मौलिक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। इस तरह हिन्दुत्व की रक्षार्थ आवश्यक सभी बातें डाक्टरजी कहते थे। इस कार्य का उनका माध्यम हिन्दू सभा थी। उसके नेताओं के प्रति डाक्टरजी के मन में सदा ही आदर की भावना रहती थी। किन्तु संघ स्थापना के पश्चात पूर्ववत् व्यक्तिगत सम्बन्ध कायम रखते हुए भी संघ हित की दृष्टि से आवश्यक नित्यानित्य विवेक एक क्षण के लिए भी डाक्टरजी ने आंखों से ओझल नहीं होने दिया। डाक्टरजी की मान्यता थी कि जैसे अन्तिम की ओर ध्यान रखने के कारण तात्कालिक की ओर दुर्लक्ष्य करना अव्यवस्थित चित्त का लक्षण है, वैसे ही तात्कालिक के सामयिक आवेश में बह जाने के कारण अन्तिम को क्षति पहुंचाने वाला कोई कार्य करना भी अव्यवस्थित चिन्तन का ही लक्षण है। अन्तिम तथा तात्कालिक आवश्यकताओं में नित्यानित्य का संघानुकूल संतुलन रखना परमआवश्यक था। डाक्टरजी की कार्यप्रणाली में इस संतुलन तथा व्यक्ति निरपेक्ष ध्येयनिष्ठा का स्पष्ट परिचय मिलता है। यह संतुलन डाक्टरजी ने सतत कायम रखा। उनके दूरदृष्टि संयम और संतुलन अन्वयार्थ समझ पाना कई विशुद्ध राजनीतिक हिन्दू सभा के नेतओं के लिए असम्भव हो जाता था और इस कारण वे डाक्टरजी और संघ से नाराज रहा करते थे। डाक्टरजी के संतुलन का मूल्य था एक ओर कांग्रेसियों की नाराजगी और दूसरी ओर हिन्दू भाइयों की नाराजगी। मृदंग की तरह उन्हें दोनों तरफ से थप्पड़ खाना पड़ता था। किन्तु इस दोतरफा अप्रियता की चिंता न

६. नित्यानित्य विवेक

सन् १९२० के पश्चात कांग्रेस ने तीन बार आन्दोलन छेड़े। पहला आन्दोलन सन् १९२०-२१ का जो फरवरी, १९२४ में गांधी जी की रिहाई के साथ समाप्त हुआ। दूसरा, सन् १९३०-३१ का, जो मई, १९३४ में वापस लिया गया। तीसरा, जिसका प्रारम्भ १० अक्तूबर, १९४० को आचार्य विनोबाजी के वैयक्तिक सत्याग्रह से हुआ। बाद में यही अगस्त, १९४२ के आन्दोलन में परिणत होकर १५ जून, १९४५ को कांग्रेस कार्यसमिति के सभी सदस्यों की रिहाई के साथ समाप्त हुआ।

पहला आन्दोलन संघ की स्थापना के पूर्व हुआ था। उसमें डाक्टरजी का सहभाग सर्वज्ञात है। जैसा पहले उल्लेख किया गया, तीसरा आन्दोलन शुरू होने से पूर्व सन् १९३७ से ही कांग्रेस का स्वरूप सर्वसंग्राहक मंच का न रहते हुए संकीर्ण पार्टी का बन चुका था और उसके पश्चात गांधी जी से मतभेद रखने वाले किसी भी देशभक्त का कांग्रेस में रहना कठिन हो गया था। कांग्रेस नेतृत्व में यह संकीर्ण मनोभाव निर्माण होने के पूर्व तक गांधीजी से कई बातों में असहमत होते हुए भी, सभी हिन्दुत्वनिष्ठों ने, जहां तक हो सके वहां तक साम्राज्य-विरोधी मंच के नाते कांग्रेस का उपयोग करते हुए उसकेकार्य तथा आन्दोलन को सफल बनाने में पूरा सहयोग देने का निश्चय किया था। इसी अवधि में सन् १९३०-३१ का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

सन् १९३० के मार्च महीने में महात्मा गांधी ने दाण्डी मार्च से आन्दोलन का प्रारम्भ किया। तत्कालीन राजनीतिक जनजागरण की दृष्टि से यह आन्दोलन महत्वपूर्ण था। डाक्टरजी ने ऐसा कभी नहीं सोचा था कि जेलयात्रा करने से स्वराज्य प्राप्त होगा। सन् १९२९ में डाक्टरजी को सजा होने के बाद "महाराष्ट्र" के सम्पादक श्री गोपालराव ओगले ने डाक्टरजी की यह धारणा स्पष्ट की थी। उस समय जेल जाने का एक मात्र उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना का जागरण करना था। १९ अगस्त, १९२१ को डाक्टरजी की गिरफ्तारी के निमित्त हुई सभा में श्री विश्वनाथराव केलकर ने कारागृह में जाते समय डाक्टरजी का सन्देश जनता को बताया कि "कार्य करते-करते कारागृह में जाना आवश्यक हुआ तो अवश्य जाइए, किन्तु केवल कारागृह जाना ही ध्येय नहीं होना चाहिए। ध्येय देशकार्य होना चाहिए।" "महाराष्ट्र" के २४ अगस्त के अंक में डाक्टरजी का अभिनन्दन करते

रूप में केवल एक बात का उल्लेख करना इस संदर्भ में पर्याप्त होगा।

श्री बालासाहब देवरस के नागपुर १९८७ के विजयादशमी के भाषण के विषय में बहुत चर्चा चली। यह सत्य है कि कुछ समाचारपत्रों ने जान-बूझकर तोड़-मरोड़कर उस भाषण को प्रकाशित किया। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि गलतफहमी का शिकार बनने वाले प्रामाणिक व्यक्ति भी श्री बालासाहब की मनःप्रवृत्ति नहीं जानते।

संघ के विषय में असूया का भाव नागपुर और विदर्भ के कुछ कांग्रेसी नेताओं के मन में प्रारंभ काल से ही था, इसी कारण १० नवम्बर, १९३७ को "मध्य प्रान्त कांग्रेस ने डाक्टरजी को पत्र लिखकर संघ का उद्देश्य, कार्यक्रम तथा नीति के विषय में अधिकृत जानकारी की मांग की थी। उसके बाद इसी विषय के सम्बन्ध में तीन पत्र तथा एक प्रश्न पत्रिका भी डाक्टरजी के पास भेजी थी। जिसके उत्तरस्वरूप अपनी सहज प्रकृति के अनुरूप स्पष्टीकरण देते हुए डाक्टरजी ने लिखा था कि "हमें परीक्षा देने वाला एक विद्यार्थी समझकर आपके द्वारा भेजी हुई प्रश्न-पुस्तिका पहुंच गई, किन्तु अब हमारी आयु परीक्षा में बैठने की नहीं है, इस कारण आपकी इच्छा को हम मान नहीं दे सकते। इसलिए हम दिलगीर (दुःखी) हैं।"

कांग्रेसी नेताओं की प्रवृत्ति का सही अनुमान इस पत्र-व्यवहार से लग सकता है। यह प्रवृत्ति कांग्रेस के कुछ लोगों में प्रारम्भ से ही थी। इस बात को डाक्टरजी अच्छी तरह से जानते थे, तो भी रावी नदी के तट पर कांग्रेस द्वारा "पूर्ण स्वातंत्र्य" का प्रस्ताव पारित करने के पश्चात डाक्टरजी ने एक परिपत्रक निकालकर सभी संघ शाखाओं को आदेश दिया था कि "रविवार, २६-१-१९३० को सायं ठीक छः बजे अपने-अपने संघ संस्थान पर सभी स्वयंसेवकों की सभा करके राष्ट्रीय ध्वज अर्थात् भगवद्ध्वज का वंदन करना चाहिए और कांग्रेस ने स्वातंत्र्य के ध्येय का पुरस्कार किया, इसलिए उसका अभिनंदन करना चाहिए।"

इसका मतलब यह नहीं कि कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण नीति का प्रखर विरोध करने का काम डाक्टरजी ने बंद कर दिया था। यह सर्वविदित है कि दिसम्बर, १९३७ में स्वातंत्र्यवीर सावरकर का विदर्भ मध्य प्रदेश का दौरा डाक्टरजी ने ही आयोजिक किया था। डाक्टरजी की इन भूमिकाओं का अन्वयार्थ जो नहीं समझ सकते उनका बालासाहब के विजयादशमी भाषण का अन्वयार्थ समझने में असमर्थ होना स्वाभाविक है।

केवल प्रासंगिकता की ही बात नहीं है। डाक्टरजी के जीवन की घटनाओं में हिन्दू राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन भी है।

दिसम्बर, १९३७ में नागपुर के बाल स्वयंसेवकों के शिविर का उद्घाटन औंध रियासत के राजे पंत प्रतिनिधि के द्वारा हुआ था। एक सहस्र बाल स्वयंसेवकों के अनुशासनबद्ध कार्यक्रम से प्रसन्न होकर पंत प्रतिनिधि महोदय ने अपने साथ लाए हुए छाया चित्रकार को इशारा किया कि वह अपना छायाचित्रण का प्रारम्भ कर दें। इस संकेत की तरफ डाक्टरजी का ध्यान नहीं था। किन्तु जैसै ही यह बात डाक्टरजी के ख्याल में आई उन्होंने तुरन्त चित्रीकरण का काम रोकने का आदेश

था।"

धार्मिक मान्यताओं पर हुए आक्रमण का प्रतिकार एक महान और पुण्य कार्य है। इस तरह का कार्य करने वाले पुण्य पुरुषों के स्पंदन प्रदीर्घ काल तक वायुमण्डल को प्रभावित करते रहते हैं। उनका प्रभाव ऐसे व्यक्तियों पर भी होता है जिनको उन महापुरुषों की जानकारी या स्मरण भी नहीं होता। यह आत्मा का सामर्थ्य है। ८ नवम्बर, १९२३ को नागपुर में डाक्टर चोलकर तथा डा० परांजपे को साथ लेकर " दिण्डी सत्याग्रह " करने वाले डॉक्टर जी का स्पंदन अभी भी रामजन्मभूमि की मुक्ति के लिए संघर्षशील स्वयंसेवकों को प्रेरित कर रहा है। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति इसका अनुभव कर सकता है।

आज राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संघ के स्वयंसेवक कार्यरत हैं। उन्होंने संघ से प्रेरणा तथा संस्कार प्राप्त करके अपने-अपने कार्यों को प्रारम्भ किया। किन्तु वास्तव में यह भी एक अन्वेषण का विषय हो सकता है कि उनमें से कितने कार्यों की प्रेरणा संघ संस्थापक के जीवन से प्राप्त हुई है।

आपात्काल के पूर्व गुजरात तथा बिहार में विद्यार्थियों ने जन-आन्दोलन चलाया था। विद्यार्थियों द्वारा अपने ही बल पर चलाए गए इन आन्दोलनों में सबसे बड़ा हिस्सा विद्यार्थी परिषद का था। उसमें हिस्सा लेने वाले गैर-स्वयंसेवकों की बात छोड़ दें, किन्तु जिनके प्रयासों के कारण ये आन्दोलन सुचारू रूप से चले थे उन स्वयंसेवक विद्यार्थियों की प्रवृत्ति और प्रेरणा का सीधा रिश्ता " रिस्ले सर्क्युलर" के विरोध में नील सिटी हाई स्कूल में दो महीने तक लम्बी हड़ताल संगठित करने वाले और स्वयं का निष्कासन सहर्ष स्वीकार करने वाले विद्यार्थी केशव के संघर्ष-प्रधान विद्यार्थी जीवन से था, इस तथ्य को क्या कोई अस्वीकार कर सकता है?

शिक्षा क्षेत्र में संघ के स्वयंसेवक अनेक संस्थाएं चला रहे हैं जिनका सामूहिक नामकरण है "विद्या भारती"। इन प्रयासों के पीछे प्रेरक प्रवृत्ति कौन-सी है? कलकत्ता के "राष्ट्रीय विद्यापीठ", बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में संगठित राष्ट्रीय विद्यालय आदि संस्थाओं के निर्माण के लिए जो प्रेरणा कारण थी, वही प्रेरणा "विद्या भारती" की भी है। १ दिसम्बर, १९०९ को "दि नेशनल काउंसिल ऑफ एजूकेशन" (बंगाल) के अध्यक्ष डा० रास बिहारी घोष की स्वाक्षरी का जो प्रमाण-पत्र विद्यार्थी केशव को प्राप्त हुआ था, उस प्रमाण-पत्र की जन्मपत्री और स्वयंसेवकों द्वारा संस्थापित सर्वप्रथम शिशु मंदिर (गोरखपुर) की जन्मपत्री की तुलना कोई ज्योतिषी करेगा तो उसके ध्यान में यह आयेगा कि दोनों के ग्रहयोग एक जैसे हैं।

कामरेड डांगे जिन दिनों ए० आई० टी० यू० सी० के दस्तावेज तैयार कर रहे थे, उन्हीं दिनों एक बार संसद के सेंट्रल हॉल में मेरी ओर संकेत करते हुए उन्होंने श्री रामचन्द्र विट्ठल बड़े साहब से मजाक में कहा था, "हमारी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा यह आपके मजदूर क्षेत्र को दी हुई देन है।" यह सर्वविदित है कि ए. आई. टी. यू. सी.पर कम्युनिस्टों ने सर्वप्रथम जब सन् १९२५ के बम्बई अधिवेशन में कब्जा किया था तब ए०आई०टी०यू०सी० के प्रथम कम्युनिस्ट अध्यक्ष श्री धुंडिराज

यह सब होते हुए भी संघ स्थापना के पश्चात उन्होंने संघ शाखाओं को क्रान्तिकार्य से अलग रखा। श्री भिशीकरजी लिखते हैं कि "उनके क्रान्तिकारी जीवनकाल से ही डाक्टरजी का मन इस निष्कर्ष की ओर झुक रहा था कि क्रान्तिकारियों का हौतात्म्य असीम आदर का पात्र होते हुए भी इस हौतात्म्य से भी परम आवश्यक कार्य है जनमानस में विशुद्ध राष्ट्रभक्ति की भावना स्थायी स्वरूप में जागृत करना, अनुशासनबद्धता तथा निःस्वार्थ वृत्ति दृढ़ करना राष्ट्र के लिए क्षणशः और कणशः जलते रहने की भावना का निर्माण करना।"

उन दिनों कई किशोर, युवक स्वयंसेवकों के मन में क्रान्तिकारी कार्य करने का जोश आता था। यह स्वाभाविक भी था। ११ दिसम्बर, १९०८ के भारतीय आपराधिक विधि संशोधन अधिनियम (Indian Criminal Law Amendment Act) से मार्च, १९१९ के अराजक एवं क्रान्तिकारी अपराध अधिनियम (The Anarchical and Revolutionary Crimes Act) तक के कानूनों के कारण क्रान्तिकारी दबने के बजाय और उग्र हुए थे। इन कानूनों ने अग्नि में घी का काम किया था।

उस समय के युवकों को स्वातंत्र्यवीर सावरकरजी के तेजस्वी जीवन तथा साहित्य से प्रेरणा मिलती थी। श्री श्यामजी कृष्णवर्मा के (१९३०) तथा मैडम कामा के (१९३४) देहावसान की वार्ताओं से उनकी पुरानी स्मृतियां जाग्रत होती थीं। बंगाल के क्रान्तिकारी, भाई परमानन्द, लाला लाजपतराय, सरदार अजीत सिंह, लाला हरदयाल, राजा महेन्द्र प्रताप, रासबिहारी बोस, सेनापति बापट, भाई बालमुकुन्द, वारीन्द्र कुमार घोष, पृथ्वीसिंह आजाद, खानखोजे, विश्वासराव डोवरे, वामन लक्ष्मण पाचखेड़े आदि का जीवन भी उनकी प्रेरणा का स्रोत था। भगतसिंह-राजगुरु-सुखदेव की त्रिमूर्ति तो हर एक युवक के हृदय में अधिष्ठित हो गई थी। बीच-बीच में आने वाले क्रान्तिकारियों के आत्मबलिदान के समाचार भी सभी को पुनः पुनः प्रेरित कर देते थे। अशफाक उल्ला खान (१९-१२-१९२७), चन्द्रशेखर आजाद (२७-२-१९३१), सूर्य सेन (१४-१-१९३४) तथा पम्यक रमण पिल्ले (१६-५-१९३४) के उदाहरण विशेष उल्लेखनीय रहे थे। पूजनीय डाक्टरजी की मृत्यु के समय सरदार उधम सिंह और एम.आर. आनन्दन भी मृत्यु की प्रतीक्षा में अपना समय व्यतीत कर रहे थे। बाहर के कुछ क्रान्तिकारी नेता इस प्रदेश में सम्बन्ध रखते थे। "हिन्दुस्थान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी" के वाराणसी के कार्यकर्ता श्री राम ब॰ सावरगावकर, अजमेर केरामचन्द्र न॰ बापट तथा ग्वालियर के गजानन स॰ पोतदार, चन्द्रशेखर आजाद की मातजी का उर्ध्वकर्म उनके पुत्र के समान करने वाले सदाशिवराव मलकापुरकर एवं रासबिहारी बोस के जापान जाने के पश्चात वाराणसी में उनका कार्य संभालने वाले नागपुर के नजदीक तेलगांव के विनायकराव कपले आदि का नागपुर से समय-समय पर सम्पर्क रहता था।

इन सब बातों के कारण संघ के प्रखर देशभक्त स्वयंसेवकों के मन में क्रान्तिकार्य का विचार आना आश्चर्यजनक नहीं था।

उस समय इन युवकों के साथ विस्तृत चर्चा करते हुए डाक्टरजी उनको समझाते थे कि "इस तरह का आवेश प्रशंसनीय तो है, किन्तु अन्तिम फलदायी नहीं है। अन्तिम कार्यसिद्धि के लिए

आवश्यक है सुसंस्कारित, समाज-समर्पित कार्यकर्तओं का स्थायी अनुशासनबद्ध संगठन।" श्री बालाजी हुद्दार के विषय में डॉक्टरजी के मन में बहुत स्नेह था तो भी उनके द्वारा क्रान्तिकार्य के लिए धन प्राप्त करने हेतु सन् १९३१ की जनवरी में किए गए बालाघाट राजनीतिक डकैती काण्ड से डाक्टरजी तथा संघ पूर्णरूपेण अलिप्त रहा।

किंतु इसका मतलब यह नहीं कि उनकी धारणा थी कि तात्कालिक लक्ष्य के रूप में सन्मुख रखे गए स्वराज्य की प्राप्ति जनविद्रोह के बिना हो सकेगी। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के पश्चात डाक्टरजी ने स्वयंसेवकों की संख्या का जो लक्ष्य (ग्रामीण क्षेत्र में एक प्रतिशत और शहरी क्षेत्र में तीन प्रतिशत) सबके सामने रखा था उसके पीछे क्या विचार था, इसे बुद्धिमान स्वयंसेवक समझ सकते थे। उनका विचार था कि ब्रिटेन पर आया हुआ संकट हमारे लिए शुभ अवसर है, उसका लाभ उठाना ही चाहिए। उन्होंने यह लक्ष्य इस दृष्टि से निर्धारित किया था कि उसके लिए पूर्व तैयारी पूरी होनी चाहिए और जो आन्दोलन करना है वह सुनियोजित तथा सुनियंत्रित होना चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति में होने वाले विलम्ब से वे अस्वस्थ और बेचैन हो जाते थे। पूर्ण पूर्व तैयारी, निश्चित योजना तथा पूर्ण नियंत्रण के अभाव में यश प्राप्ति तो दूर, उल्टे विफलता की भावना जनमानस में बढ़ जाती है। संख्या के इस लक्ष्य का मतलब उस समय कई स्वयंसेवकों के ध्यान में नहीं आया था। इसी कारण १९४१ के ईस्टर कैम्प (जबलपुर) में एक जिले के प्रचारक ने वृत्त देते समय जब यह बताया कि डाक्टरजी द्वारा बताया गया लक्ष्य हमने दोनों (ग्रामीण तथा शहरी) क्षेत्रों में पहले ही पूर्ण कर लिया है तो उस शिविर का समारोप करते समय श्री गुरुजी ने इस विषय को स्पर्श करते हुए कहा कि "ऐसा प्रतीत होता है कि डाक्टरजी के "प्रतिशत" का सही अर्थ कुछ लोगों के ध्यान में नहीं आता है। एक और तीन का मतलब यह नहीं है कि १०० में से कोई भी एक या तीन ऐरे-गैरे-नत्थू खैरे पकड़कर हम उन्हें गणवेश पहना दें और आत्मसंतोष कर लें कि हमने संख्या का लक्ष्य पूरा कर लिया है। डाक्टरजी ग्रामीण क्षेत्र में सौ में से "एक चाहते थे तो उनकी इच्छा थी कि सौ में से वह 'एक' इस तरह का हो जो बचे हुए ९९ लोगों का नेतृत्व करने की क्षमता रखता हो, जिस पर बचे हुए ९९ की पूर्ण श्रद्धा हो। यही बात शहरी क्षेत्रों पर भी लागू होती है। महायुद्ध चल रहा है, इसी बीच हम डाक्टरजी की यह अपेक्षा शीघ्रतिशीघ्र पूरी करें।" श्री गुरुजी के इस भाषण से यह स्पष्ट होता है कि इंग्लैंड के संकट का लाभ उठाकर देश को स्वतंत्र करने के प्रयास की पूर्व की तैयारी के नाते यह लक्ष्य निर्धारित किया गया था। डाक्टरजी का प्रारम्भ से जो क्रान्तिकारी मानस था, वह अन्तिम क्षण तक वैसा ही कायम रहा। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि १८५७ के शहीद मंगल पाण्डे के समान योजनाहीन, नियंत्रण-विहीन उतावली करने से कार्य का नाश होता है, यद्यपि ऐसे वीरों का आत्मबलिदान गौरवशाली तथा स्फूर्तिप्रद होता है। हृदय में क्रांति की ज्वाला धधकती रहे और साथ ही अन्तिम रणनीति को ध्यान में रखकर, अपने अनुयायियों को क्रान्ति के मार्ग से परावृत्त करके लम्बी देर तक शक्ति संचय के कार्य में जुटाने का प्रयास भी धीरज के साथ चलता रहे, उनका यह संतुलन असामान्य कोटि का था। इसके लिए अपने उग्र स्वभाव तथा वाणी दोनों पर

किन्तु वास्तविकता का दूसरा एक पहलू कभी-कभी आंखों से ओझल हो जाता है।

कुछ वर्ष पूर्व अहमदाबाद में प्रान्तीय शिविर के समय किसी ने यह विचार प्रकट किया कि आंध्र के चक्रवात के समय या मोरवी (गुजरात) में जलप्लावन दुर्घटना के समय स्वयंसेवकों द्वारा किए गए प्रशंसनीय राहत कार्य के फलस्वरूप स्वयंसेवकों के कर्तृत्व को एक नया आयाम प्राप्त हुआ है। उसी समय एक और विचार सामने आया कि प्राकृतिक प्रकोप से पीड़ित बंधुओं को सहायता और राहत देने के लिए दौड़ पड़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वयंसेवकों में अभी-अभी नए सिरे से निर्माण हुई है या इस प्रवृत्ति का बीजारोपण पूर्व काल में ही हुआ था। सन् १९१३ में बंगाल की दामोदर नदी में बाढ़ आई तो उस समय भूखे लोगों के लिए पीठ पर मुड़ी (मुरमुरे) के बोरे लेकर दामोदर नदी को पार करने वाले डाक्टरजी की मनःप्रवृत्ति में ही स्वयंसेवकों की आज की सेवावृत्ति के बीजारोपण का क्या हमें दर्शन नहीं होता? गंगासागर यात्रा में हैजे से ग्रस्त लोगों को दवा देनें के लिए सैकड़ों झुग्गी-झोंपड़ियों में जाने वाले या मुसलमानों द्वारा आक्रान्त कलकत्ता के हिन्दुओं के लिए दस-बारह जवान विद्यार्थियों का सेवा पथक संगठित करने वाले डाक्टरजी की मनोवृत्ति में आज व्यक्तिशः या संस्थाशः रुग्ण सेवा तथा रोगनिवारण का कार्य चलाने वाले स्वयंसेवकों की प्रेरणा का बीज निहित है।

स्वर्गीय गुरुजी की प्रेरणा से गोहत्या निषेध के लिए पौने दो करोड़ नागरिकों का अभूतपूर्व हस्ताक्षर संग्रह किया गया था। उस समय कुछ पुराने स्वयंसेवक कहने लगे थे कि आज हमें गोहत्या का प्रत्यक्ष शारीरिक विरोध करने वाले सन् १९२८ में नागपुर गोरक्षा सभा का निर्माण करने के लिए श्री गोपाल राव भिड़े का पूरा साथ देने वाले तथा उसी वर्ष गोभक्त श्री चौण्डे महाराज द्वारा आयोजित गो-शोभा -यात्रा का मुसलमानों के आक्रमणों से संरक्षण करने वाले डाक्टर हेडगेवार जी की उत्कटता से स्मरण हो रहा है।

"आर्गेनाइजर" के पश्चात नागपुर में "राष्ट्र शक्ति" साप्ताहिक प्रारम्भ हुआ। उससे सम्बन्धित स्वयंसेवक इस उपक्रम को एकदम अभिनव स्वरूप का मानने लगे तो उस समय "राष्ट्र शक्ति" के व्यवस्थापक कृष्णरावजी मोहरीर ने उनको कहा था कि आप लोगों का यह विचार सच नहीं है क्या आज हम डाक्टरजी को भूल गए जिन्होंने संघ पूर्व काल में "संकल्प" (हिन्दी) और "स्वातंत्र्य" (मराठी) पत्र के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किया था या उसके भी पूर्व कलकत्ता में "बोगस मेडिकल डिग्रीज बिल" के विरोध में समाचारपत्रों के माध्यम से सफल प्रचार अभियान संगठित किया था।

मीनाक्षीपुरम की घटना के पश्चात विभिन्न प्रदेशों में सम्पन्न हुए विशाल हिन्दू सम्मेलनों की व्यवस्था करने के लिए स्वयं प्रेरणा से सामने आए हुए स्वयंसेवकों को देखकर नागपुर के एक प्रौढ़ स्वयंसेवक सानन्द कहने लगे : "इस समय मुझे वह दिन याद आ रहा है जब डाक्टरजी की प्रेरणा से हम नागपुर के स्वयंसेवक १९२६ की अप्रैल में रामनवमी के अवसर पर रामटेक के मेले की व्यवस्था के लिए वहां गए थे और सारी अव्यवस्था को दूर करके मेले में अनुशासन लाया था। इतना ही नहीं, यात्रियों से नाजायज पैसे लेने वाले पुजारियों का दुर्व्यवहार भी नियंत्रित किया

तंत्र को खड़ा करने में अपना जीवन-सर्वस्व लगा दिया तथा अपने प्रारम्भिक जीवन में सशस्त्र क्रान्ति, कांग्रेस एवं हिन्दू महासभा आदि से जो सम्बन्ध बनाए थे उन्हें सहज दूर कर दिया। उन क्षेत्रों के राष्ट्रभक्त नेताओं तथा उनके कार्य के विषय में मन में आदरभाव रखते हुए उन्होंने स्वयंसेवकों को यह सतर्कता बरतने को बताया कि उनके विषय में क्षण मात्र भी अनादर का भाव उत्पन्न न हो, किन्तु उन्होंने अपना आदर्श सबके सामने रखते हुए यह शिक्षा भी दी कि "इन कार्यपद्धतियों से दूर रहकर ही समाज-संघठन सम्भव है और वही प्रत्येक कार्यकर्ता को करना चाहिए।"

बाल्यकाल से विविध राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न, विदेशी राज्य के नाम मात्र से ही जो क्षुब्ध एवं क्रुद्ध हो जाए इस प्रकार अतीव संवेदनशील एवं उत्कट भावनापूर्ण व्यक्ति के लिए प्रचलित राजनीतिक कार्यों से अपना हाथ खींचे बिना मन को हटा लेना तथा सब प्रकार से बुद्धि को जंचने वाले कार्य के अनुकूल ही अपने मनोभाव को बनाना कितना कठिन हुआ होगा और इस प्रकार का परिवर्तन अपने अन्दर लाने वाले की विवेकशक्ति कितनी पराकोटि की और सामर्थ्यवान होगी तथा अपने निष्कर्षों एवं तदनुरूप कार्य पर उनकी निष्ठा कितनी अटल होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। इस प्रकार का कल्पनातीत शक्ति-सम्पन्न विवेक एवं कार्य की निष्ठा उनके पवित्र, निःस्वार्थ एवं राष्ट्र समर्पित जीवन के कारण ही प्राप्त करना सम्भव था। यह उनके जीवन का अत्यन्त भव्य एवं अनाकलनीय चमत्कार है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत चरित्र का पठन लाभदायक होगा, बाहर से सामान्य दिखने वाले स्वरूप में असामान्यता का तेज दिखेगा तथा प्रत्येक के मन में यह आत्मविश्वास जगेगा कि "मैं भी अपने अंतःकरण पर राष्ट्र समर्पित जीवन के संस्कार डालकर उन्हें दृढ़ रखते हुए, अपने विकारों को नष्ट कर, स्वभाव को शुद्ध करके, राष्ट्र के चिरकालीन वैभव के निर्माण के लिए तथा बाह्य वातावरण के आकर्षणों पर विजय प्राप्त कर राष्ट्र की स्थायी शक्ति के एक अटल अंग के नाते जीवनपर्यन्त परिश्रम करते हुए पूरा जीवन सफल एवं सार्थक कर सकूंगा।"

"परमपूजनीय डा॰ हेडगेवार के दिव्य जीवन का यही आशाप्रद एवं स्फूर्तिदायक संदेश है।

थी। भारत में मुसलमानों ने उसको पुनरुज्जीवित करने की मांग उठाई। गांधी जी ने उसका बिना शर्त समर्थन किया और खिलाफत के पुनरुज्जीवन के लिए कांग्रेस के नेतृत्व में हिन्दुओं को आन्दोलन तथा हर तरह का त्याग करने के लिए प्रवृत्त किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता की मृगमरीचिका के पीछे लगे हिन्दू इधर भारत में खिलाफत के लिए आन्दोलन चला रहे थे उधर तुर्किस्तान के मुसलमान शासक खिलाफत की कब्र खोद रहे थे। मुस्तफा कमाल पाशा ने खलीफा मजदी को संदेश भेजा कि "खलीफा, तुम्हारा पद अब ऐतिहासिक वस्तु से बढ़कर नहीं है। इसके अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं है।"

भारत के मुसलमानों ने कमालपाशा से प्रार्थना की कि "हम आपको ही मुस्लिम जगत का खलीफा मान लेंगे, लेकिन खिलाफत का पुनरुज्जीवन कर लीजिए।" कमालपाशा ने जवाब दिया, "मुझे यह सम्मान नहीं चाहिए। किसी भी हालत में मैं खिलाफत को फिर से जीवित नहीं होने दूंगा।" मतलब यह कि जहां खिलाफत का केन्द्र था उस तुर्किस्तान के मुसलमान उस संस्था को दकियानूसी मानकर समाप्त कर रहे थे और भारत के हिन्दू उस संस्था के पुनरुज्जीवन के लिए यहां अपनी जान कुर्बान करने की तैयारी कर रहे थे। इसी को कहतें हैं, स्वयं बादशाह से भी ज्यादा बादशाह के प्रति वफादार होना। श्री पोलक के कथनानुसार, "जबकि भारतीय मुस्लिम एक इस्लामी मजहबी राज्य की प्राचीन विश्व की रूमानी परम्परा को पुनरुज्जीवित कर रहे थे, तब तुर्क, जिनके पक्ष में वे (भारतीय) समझते थे कि हम सक्रिय हैं, उसे एक मध्ययुगीन काठ-कबाड़ की तरह फेंक रहे थे।"

कांग्रेस की ही ध्वज समिति द्वारा एकमत से किया हुआ राष्ट्रीय ध्वज के रूप में "केसरी ध्वज" का सुझाव भी इसी कारण अस्वीकृत हुआ। इस तरह की कई कुतर्कपूर्ण बातें गांधी जी की कांग्रेस अपना रही थी। कांग्रेस और गांधी जी की यह मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति देखकर डा॰ अम्बेडकर ने भी प्रश्न किया कि, "क्या कोई स्वस्थ दिमाग का आदमी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए इतनी दूर जा सकता है?"

गांधी जी की इस तुष्टीकरण की नीति से हिन्दुत्वनिष्ठों में असंतोष बढ़ता जा रहा था, तो भी जिस तरह गांधी जी की अन्य कुछ नीतियों के कारण उनसे असंतुष्ट देशभक्त, गांधी जी से मतभेद होते हुए भी ब्रिटिश साम्राज्य सत्ता से संघर्ष करने के एक समर्थ माध्यम के नाते कांग्रेस की ओर देखते और कांग्रेस का कार्य करते थे, उसी तरह हिन्दुत्वनिष्ठ भी गांधी जी से मतभेद रखते हुए भी, कांग्रेस में रहकर स्वातंत्र्य का संघर्ष चलाते रहने की नीति अपना रहे थे। हिन्दू-हित की रक्षा करने और कुछ मात्रा में कांग्रेस के लिए सुधार करने वाले तत्व के नाते वे हिन्दू महासभा का उपयोग करते थे।

डाक्टरजी प्रारम्भ से ही हिन्दू महासभा में सक्रिय रहे थे। उसके विभिन्न पदों को भी उन्होंने विभूषित किया था। एक ही समय कांग्रेस तथा हिन्दू महासभा में सक्रिय रहना कठिन कार्य था। कभी-कभी नीति के नाते कांग्रेस के अन्दर रहते हुए कांग्रेसियों को नाराज करना पड़ता था। सन् १९२३ का दण्डी सत्याग्रह नागपुर में संगठित करने के कारण कांग्रेसी डाक्टरजी से नाराज थे।

वैसे ही, प्रथम गोलमेज परिषद् के समय की बात लीजिए। डॉ॰ मुंजे का परिषद में उपस्थित रहना हिन्दू हितों की दृष्टि से अपरिहार्य था। किन्तु यह कदम कांग्रेस की नीति के विरोध में होने के कारण डा॰ मुंजे के परिषद में जाने का घोर निषेध नागपुर के कांग्रेसियों ने किया। डॉ॰ मुंजे की शक्ल का गैंडे का एक बड़ा चित्र बनाकर कांग्रेसियों ने उसका जुलूस निकाला, यद्यपि डॉ॰ मुंजे भक्त दो-चार युवकों ने इतने बड़े जुलूस में साहसपूर्वक घुसकर सबके सामने वह चित्र फाड़ डाला तथापि डॉ॰ मुंजे का समर्थन करना उन दिनों जनरोष को निमंत्रण देना था। किन्तु डाक्टर जी की मान्यता थी कि "वरं जनहितं ध्येयं केवला न जनस्तुतिः"— केवल जनहित का वरण करो जनस्तुति का नहीं।

डॉ॰ मुंजे के लंदन से वापस लौटने के बाद १६ अप्रैल को उनके सम्मान में आयोजित स्वागत समारोह में भाषण करते हुए डाक्टर जी ने कहा था :

"...लोकमत के प्रवाह में सस्ती लोकप्रियता के पीछे बहते जाना सरल है, किन्तु सच्चे नेता का काम यह है कि यदि स्वतः की सद्विवेक बुद्धि को न जंचे तो लोकमत के प्रवाह के विरुद्ध खड़े रहकर भी अपना मत छाती ठोंककर जनता के समाने रखे। प्रवाह के साथ-साथ बहना नेता का नहीं, अनुयायी का लक्षण है। सच्चा नेता तो वह है जो परिस्थिति को अपने मत के अनुसार बनाकर लोकमतं को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । नेतृत्व की कसौटी लोकमतानुवर्तित्व नहीं, लोक नियंत्रण है। अवसर पड़ने पर लोकमत के विरुद्ध जाने में भी न हिचकना ही सत्यनिष्ठा है और यदि इस कसौटी पर कसकर देखा जाय तो डा॰ मुंजे जैसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति सम्पूर्ण नागपुर में दूसरा नहीं मिलेगा।"

इस भाषण से डाक्टरजी की मौलिक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है। इस तरह हिन्दुत्व की रक्षार्थ आवश्यक सभी बातें डाक्टरजी कहते थे। इस कार्य का उनका माध्यम हिन्दू सभा थी। उसके नेताओं के प्रति डाक्टरजी के मन में सदा ही आदर की भावना रहती थी। किन्तु संघ स्थापना के पश्चात पूर्ववत् व्यक्तिगत सम्बन्ध कायम रखते हुए भी संघ हित की दृष्टि से आवश्यक नित्यानित्य विवेक एक क्षण के लिए भी डाक्टरजी ने आंखों से ओझल नहीं होने दिया। डाक्टरजी की मान्यता थी कि जैसे अन्तिम की ओर ध्यान रखने के कारण तात्कालिक की ओर दुर्लक्ष्य करना अव्यवस्थित चित्त का लक्षण है, वैसे ही तात्कालिक के सामयिक आवेश में बह जाने के कारण अन्तिम को क्षति पहुंचाने वाला कोई कार्य करना भी अव्यवस्थित चिन्तन का ही लक्षण है। अन्तिम तथा तात्कालिक आवश्यकताओं में नित्यानित्य का संघानुकूल संतुलन रखना परमआवश्यक था। डाक्टरजी की कार्यप्रणाली में इस संतुलन तथा व्यक्ति निरपेक्ष ध्येयनिष्ठा का स्पष्ट परिचय मिलता है। यह संतुलन डाक्टरजी ने सतत कायम रखा। उनके दूरदृष्टि संयम और संतुलन अन्वयार्थ समझ पाना कई विशुद्ध राजनीतिक हिन्दू सभा के नेतओं के लिए असम्भव हो जाता था और इस कारण वे डाक्टरजी और संघ से नाराज रहा करते थे। डाक्टरजी के संतुलन का मूल्य था एक ओर कांग्रेसियों की नाराजगी और दूसरी ओर हिन्दू भाइयों की नाराजगी। मृदंग की तरह उन्हें दोनों तरफ से थप्पड़ खाना पड़ता था। किन्तु इस दोतरफा अप्रियता की चिंता न

करते हुए राष्ट्र निर्माता डाक्टरजी ने संयम और संतुलनपूर्वक अपना नित्यानित्य विवेक कायम रखा।

डाक्टरजी के मन में यह दृढ़ विश्वास था कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज को सुसंघटित करने की दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति पूर्णरूपेण सक्षम है। सन् १९३२ में नागपुर शाखा के विजयादशमी महोत्सव पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा था, "संघ की कार्यपद्धति में पंथोपपंथ तथा जातियों के भेद आदि की गुंजाइश नहीं है। संघ सम्पूर्ण हिन्दू समाज का एकत्व भाव से विचार करता है। संघ में सभी जातियों के हिन्दुओं के एक ही ध्वज की छत्रछाया में काम करने के कारण अस्पृश्यता कभी की नष्ट हो गई है।" दिसम्बर, १९३४ के वर्धा जिला शीत शिविर में महात्माजी ने डाक्टरजी के इस बचन की सत्याता को स्वयं अनुभव किया और इस उपलब्धि पर डाक्टरजी का अभिनन्दन भी किया। राजगीर से श्रीगुरुजी को एक पत्र में डाक्टरजी ने लिखा, "बदलती हुई परिस्थितियों में अपना कार्य तेजी से बढ़ रहा है इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अपना काम किसी भी विशेष कार्यक्रम पर अवलम्बित नहीं है, अपितु अपने ध्येय एवं कार्यपद्धति में इतनी अन्तःशक्ति है कि वह सब प्रकार की परिस्थिति में सफलता प्राप्त करता जाएगा।"

संघ की कार्यपद्धति की स्वयंपूर्णता के विषय में डाक्टरजी पूर्णरूपेण आश्वस्त थे। किन्तु साथ-साथ यह भी सही था कि इस तरह के गुणवत्तायुक्त कार्य की वृद्धि उतनी तेजी से नहीं हो सकती, जितनी तेजी से केवल संख्या-प्रधान कार्य की वृद्धि हो सकती है। संगठन की गुणवता कायम रखने की नीति अपनायी तो सख्यात्मक वृद्धि धीरे-धीरे होगी और केवल संख्या बढ़ाने का विचार किया तो गुणवत्ता समाप्त हो जाएगी। इस कारण "धीरे-धीरे जल्दी करो" की नीति अपनाना श्रेयस्कर था। धीरे-धीरे इसलिए कि गुणवत्ता में कमी न आ जाय, जल्दी इसलिए कि विलम्ब के फलस्वरूप राष्ट्र को अधिक नुकसान सहन न करना पड़े । इस स्थिति में सम्पूर्ण समाज के संगठन के नित्य कार्य को प्राधान्य देना अनिवार्य और अपरिहार्य था, तो तात्कालिक संकटों का मुकाबला करने की दृष्टि से मल्हम-पट्टियों की व्यवस्था करनी भी आवश्यक थी।

डाक्टरजी हिन्दुत्व के लिए पोषक सभी कार्यों को प्रोत्साहन देते थे। इस प्रकार के विभिन्न कार्यों तथा संस्थाओं का नाम निर्देश यहां आवश्यक नहीं, क्योंकि एक तो यह सूची लम्बी है और दूसरे उसमें से प्रमुख संस्थाओं का उल्लेख पहले ही आ चुका है। इन सभी संस्थाओं और अन्य सार्वजनिक कार्यकताओं को भी ऐसा प्रतीत होता था कि डाक्टरजी अपना एक बहुत बड़ा आधार हैं। सब कुछ करते हुए भी डाक्टरजी ने अपने द्वारा की गई सहायता की कभी प्रसिद्धि नहीं होने दी और न इन संस्थाओं में पदाधिकारी बनने की इच्छा की। उदाहरणार्थ, सन् १९३६ में वंदनीय मावसी केलकर जी डाक्टरजी से मिलने वर्धा में श्रीमान अप्पा जोशी के घर आईं और महिलाओं की शिक्षा तथा संगठन के विषय में चर्चा की। डाक्टरजी ने उन्हें स्वतंत्र रूप से संगठन खड़ा करने की सलाह दी, तो साथ-साथ यह आश्वासन भी दिया कि उनकी राष्ट्र सेविका समिति के कार्य में कोई भी कठिनाई निर्माण हो तो वे श्रीमान अप्पाजी को उसकी सूचना दें। उस कठिनाई को दूर किया जाएगा, आवश्यक सहायता दी जाएगी, किन्तु संगठन स्वतंत्र रूप से काम करे। ऐसा

प्रतीत होता है कि स्वामी समर्थ रामदास का गहरा प्रभाव उनके मन-जीवन पर था। उनकी दैनिकी में ४ मार्च, १९२९ के पृष्ठ पर यह उल्लेख पाया गया, "श्री समर्थ को स्वयं के लिए कुछ भी नहीं चाहिए था। अपनी कृति का अहंकार स्वयं को न चिपक जाय इसका ध्यान रखकर उन्होंने सम्पूर्ण जीवन सवधर्म बान्धवों की स्थिति के चिन्तन एवं आत्मोन्नति का मार्ग खोजने में ही लगा दिया।"

कोई भी संगठन कैसे टूटता है और कैसे बड़ा होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध ने कहा था कि जिस संगठन के संचालकों में "उपेक्षा" भाव रहता है वह संगठन हमेशा पनपता है। यहां भगवान ने "उपेक्षा" शब्द का प्रयोग तकनीकी अर्थ में किया था। यश प्राप्ति की स्थिति में श्रेय में सहभागी होने का संकट आ जाता है। प्राप्त हुए यश में मेरे कृतित्व के कारण मेरे श्रेय का हिस्सा बड़ा है, यह सिद्ध करने की होड़ लग जाती है। ऐसी स्थिति में यश में हिस्सा बंटाने के बारे में प्रमुख कार्यकर्ताओं ने "उपेक्षा" वृत्ति दिखाई, वे यश में अपने हिस्से की स्पर्धा से पूरी तरह दूर रहें तो फिर संगठन अधिकाधिक बलवान होता जाता है, और यदि सूत्र संचालक ही श्रेय में अपना हिस्सा लेने की स्पर्धा में दौड़ने लगे तो फिर वह संगठन दुर्बल हो जाता है। भगवान बुद्ध की "उपेक्षा" संज्ञा का यही तात्पर्य था। डाक्टरजी इस तरह की "उपेक्षा" की सगुण साकार मूर्ति थे। इस कारण उनका नैतिक, हार्दिक समर्थन विभिन्न संस्थाओं तथा कार्यकर्ताओं को महत्वपूर्ण लगता था।

यह बात सभी हिन्दुत्वनिष्ठ जानते थे कि राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस के दोष निवारण के नाते हिन्दू महासभा की भूमिका महत्वपूर्ण थी। आवश्यकता होने पर संघ से प्रेरणा तथा संस्कार प्राप्त किए हुए स्वयंसेवक हिन्दू महासभा के कार्य में नागरिक के नाते व्यक्तिशः सक्रिय योगदान भी करते थे। इससे उस संस्था के कार्य को बहुत बल भी प्राप्त हुआ था। फिर भी हिन्दू महासभा के कई नेता डाक्टरजी से बहुत नाराज रहते थे। क्योंकि डाक्टरजी ने यह लक्ष्मण रेखा बनाई थी कि संघ संघ के नाते किसी भी राजनीतिक कार्य में हिस्सा नहीं लेगा, जबकि संघ के स्वयंसेवकों को नागरिक के नाते व्यक्तिगत रूप से ऐसे कार्यों में सहभागी होने की स्वतंत्रता थी। इस लक्ष्मण रेखा को ये नेता लोग "बाल की खाल" मानते थे। उनका विचार था कि संघ को हिन्दू महासभा के स्वयंसेवक दल (बालंटियर कोर) के रूप में काम करना चाहिए। उनकी मान्यता थी कि राजनीति बहुत ही गहन विषय और टेढ़ी खीर है। इसको बड़े नेता ही समझ सकते हैं। यह "दक्ष-आरम" करने जैसा काम नहीं है। और "दक्ष-आरम" करके डंडे घुमाने वाले लोग इस विषय को समझने की भी पात्रता नहीं रखते।

* * * * *

संघ स्थापना के पश्चात सन् १९४० तक हिन्दू महासभा के नेतृत्व में दो आन्दोलन हुए। सन् १९३७ में पूना में "सोन्यां मारूती सत्याग्रह" और सन् १९३८ में "भागानगर (दैहराबाद) सत्याग्रह"। दूसरा सत्याग्रह हिन्दू महासभा तथा आर्यसमाज के संयुक्त तत्वावधान में हुआ था।

दोनों समय डाक्टरजी ने पूर्ववत भूमिका अपनायी कि "यह सत्याग्रह सभी नागरिकों का है तथा स्वयंसेवकों ने भी नागरिक होने के कारण, सैकड़ों नागरिकों की तरह ही इसमें भाग लिया

है।" "सोन्या मारूती सत्याग्रह" के समय पूना में संघ शिक्षा वर्ग चल रहा था। हिन्दू महासभा के उत्साही कार्यकर्ताओं की तीव्र इच्छा थी कि इस सत्याग्रह में संघ के नाते भाग लेना चाहिए, और डाक्टरजी को पूना में प्रवेश करने के बाद पहला काम सत्याग्रह में हिस्सा लेने का ही करना चाहिए।

सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय डाक्टरजी पहले ही कर चुके थे। किन्तु उनकी ऐसी मान्यता थी कि संघ शिक्षा वर्ग का महत्व स्थायी स्वरूप का है। इस कारण जल्दबाजी न करते हुए संघ शिक्षा वर्ग का समापन होने के बाद उन्होंने दिनांक १३ मई को चार बजे सत्याग्रह किया। संघ की मूल भूमिका पर डाक्टरजी स्थिर रहे और संघ शिक्षा वर्ग को उन्होंने प्राथमिकता दी। इन कारणों से नाराज होने वालों की संख्या कम नहीं थी।

अक्तूबर, १९३२ में "भागानगर (हैदराबाद) निःशस्त्र प्रतिकार मण्डल" के तत्वावधान और स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी के नेतृत्व में हिन्दू महासभा तथा आर्यसमाज ने सत्याग्रह प्रारम्भ किया। इस सत्याग्रह में श्री भैयाजी दाणी प्रभृति सैकड़ों स्वयंसेवकों ने व्यक्तिगत रूप से हिस्सा लिया। स्पष्ट था कि इस तरह का काम करने की प्रेरणा उन्होंने संघ से ही प्राप्त की थी। किन्तु कट्टर हिन्दू महासभाइयों को केवल इतने से संतोष नहीं था। बम्बई से निकलने वाला उनका मराठी मुखपत्र "वन्देमातरम्" संघ की इस नीति पर सख्त नाराज था। "संघ को संघ के नाते भागानगर सत्याग्रह से अलग रखने के अपराध" के लिए वंदेमातरम् ने लगातार बारह लेखों में डाक्टरजी पर कड़ी टीका-टिप्पणी की। उसके उत्तर में नागपुर के "सावधान" ने २७ मई के अपने अंक में लिखा : "यदि श्री गो॰ गो॰ अधिकारी ने नित्य कार्य और नैमित्तिक कार्य के बीच विवेक किया होता तो उन्होंने संघ के विरुद्ध बारह विषैली फुंकार न मारी होतीं। भागानगर सत्याग्रह के उमड़ते हुए उत्साह के बचपने आवेश में श्री अधिकारी शायद यह भूल गए हैं कि अभी राष्ट्र की स्वतंत्रता का कार्य शेष पड़ा है। राष्ट्र की मुक्ति के लिए अन्तिम दांव लगाने के पूर्व उसकी पूर्ण तैयारी आवश्यक होती है। संघ कार्य राष्ट्र की मुक्ति का नित्य कार्य है तथा भागानगर सत्याग्रह जैसे आन्दोलन उसके नैमित्तिक कार्य हैं। परंतु भिन्न-भिन्न कार्य करने वाली संस्थाएं पृथक होती हैं— पृथक रखनी होती हैं, तथा यद्यपि यह दोनों कार्य समानान्तर होते रहे, रखने पड़े— तो भी नित्य कार्य में संलग्न संस्था नैमित्तिक कार्य के लिए ऐसा कोई पग नहीं उठा सकती, जिसमें वह अपनी शक्तिसर्वस्व और वैशिष्ट्य को भुलाकर नित्य कार्य में खण्ड उत्पन्न कर दे।"

आश्चर्य की बात यह थी कि भागानगर सत्याग्रह के नेताओं ने १९३८ के दिसम्बर में यह प्रकाशित किया कि "संघ ने भागानगर आन्दोलन में संघ के नाते ही भाग लिया।" इस तरह यह संघ को राजनीति में घसीटने का ही प्रयास था। अतः डाक्टर जी ने उनको एक पत्र लिखकर स्पष्ट किया कि "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विषय में लोगों में गलतफहमी पैदा करने वाली वार्ता का आपके पत्रकों में आना आपके कार्य की दृष्टि से कभी भी हितावह नहीं है। अतः अपने प्रकाशन विभाग को तुरन्त कड़ी सूचना दें कि इसके आगे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उल्लेख आपके पत्रकों में न किया जाए।"

* * * * *

हिन्दू महासभा ने "हिन्दू मिलीशिया" नामक एक स्वयंसेवक दल का गठन करने का विचार किया था। उसका आग्रह था कि उस कार्य की जिम्मेदारी डाक्टरजी उठाएं। इस विषय पर अपनी असमर्थता तथा असहमति प्रकट करते हुए ३० सितम्बर, १९३९ को डाक्टरजी ने डा॰ मुंजे को लिखा, "अतः "हिन्दू मिलीशिया" के सम्बन्ध में आप मेरा नाम कहीं भी न डालें। नाम न होते हुए भी इस विषय में मुझसे जो सहायता सम्भव होगी, वह अवश्य करूंगा।"

इस प्रकार डाक्टरजी ने अपनी भूमिका स्पष्ट शब्दों में रखी तो भी १२ अक्तूबर के अपने पत्र में श्री श॰ रा॰ दाते ने उन्हें यह निर्णय सूचित किया कि महाराष्ट्र की "हिन्दू मिलीशिया" समिति में उनका नाम शामिल किया गया है। डाक्टरजी ने डॉ॰ मुंजे के प्रति आदर की भावना रखते हुए अत्यन्त सौजन्यता के साथ उनके (डा॰ मुंजे के) इस आग्रह को अमान्य कर दिया।

* * * * *

डाक्टरजी के जीवन में सबसे बड़ा मानसिक समर प्रसंग इनके जीवन के अन्तिम चरण में आया। श्री नाना पालकर ने इसका वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया है।

१७ मार्च, १९४० को हिन्दू महासभा की ओर से "राम सेना" नाम से एक स्वयंसेवक दल का नागपुर में प्रारम्भ हुआ। इस विषय में प्रकाशित पत्र में लिखा था कि, "... राम सेना महासभा की सेना होगी। मण्डल के अध्यक्ष डा॰ मुंजे के द्वारा जारी महासभा की सभी आज्ञाएं रामसेना को पालन करनी होंगी।" इस पत्रक में इस बात का भी स्पष्टीकरण था कि "पथक दल बनाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दुओं के सैनिक-शिक्षण के द्रोणाचार्य डा॰ हेडगेवार ने नागपुर में एक पक्षातीत संघठन प्रारम्भ किया है।"

२७ मार्च को "महाराष्ट्र" में रामसेना के पदाधिकारियों की घोषणा की गई। उसमें डा॰ हेडगेवार का भी समावेश था। राजगीर में जब डाक्टरजी को इसकी सूचना मिली तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ तथा कुछ गुस्सा भी आया। कारण, संघ एवं रामसेना दो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले संगठनों में एक ही समय पदाधिकारी के रूप में रहना संगठन की दृष्टि से अहितकर था और फिर उनके स्वास्थ्य की वर्तमान अवस्था में तो यह सम्भव भी नहीं था। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी यह असमर्थता स्पष्ट एवं असंदिग्ध शब्दों में "रामसेना" के प्रवर्तकों को बार-बार विदित करा दी थी। फिर भी उनका नाम घसीटने की प्रवृत्ति उन्हें अच्छी नहीं लगी। अतः ३ अप्रैल के "महाराष्ट्र" में उन्होंने एक छोटा सा सम्पादकीय-स्पष्टीकरण प्रकाशित करवाया। उसमें कहा गया था कि "नागपुर नगर हिन्दू सभा द्वारा निर्मित रामसेना को सफल बनाने के लिए जो अपील ७ मार्च के "महाराष्ट्र" में छपी है, उस सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के चालक हेडगेवार राजगीर से सूचित करते हैं कि "उस पत्रक में मेरा नाम बिना मेरी जानकारी तथा अनुमति के छापा गया है।" डाक्टरजी यह जानते थे कि इस स्पष्टीकरण के प्रकाशित होने पर डा॰ मुंजे जैसे आदरणीय व्यक्तियों को बुरा लगेगा तथा इस कारण वे कुछ चिन्तित भी थे किन्तु बुराई सहन करके भी उन्होंने इस कर्तव्य का निर्वाह किया। कर्तव्य अनेक बार इसी प्रकार कठोर होता है।

"विकारहेतोः सति विक्रियन्ते—येषां न चेतांसि स एव धीराः" —मन विचलित करने योग्य परिस्थितियां रहते हुए भी जिनका मन विचलित नहीं होता, वे ही धीर हैं।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में इस तरह मन को सबसे अधिक उत्तेजित करने वाला अवसर चुनाव का होता है। शायद इसी कारण इस अवसर पर "अभी नहीं तो कभी नहीं" का नारा देना आवश्यक प्रतीत होता है। सन् १९४० के पूर्व हुए सभी चुनावों में हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण चुनाव कम्युनल अवार्ड के मुद्दे पर हुआ। अवार्ड के विषय में कांग्रेस की "न स्वीकार, न अस्वीकार" की भूमिका देश के लिए अतीव घातक थी। इसी कारण अणे-मालवीय ने कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का गठन किया और देश के सभी हिन्दुत्वनिष्ठों ने उस पार्टी के तत्वावधान में कांग्रेस का विरोध किया।

नागपुर में इस पार्टी के प्रत्याशी के नाते स्वयं डा॰ मुंजे खड़े हुए। इस कारण प्रचार युद्ध का स्वरूप और भी तीव्र हो जाना स्वाभाविक था। हिन्दू महासभा के पास श्री जगन्नाथ प्रसाद वर्मा के समान बलदंड लोग थे, किन्तु उनकी संख्या कम थी। इस थोड़ी संख्या के भरोसे चुनाव जीतना तो दूर स्वयं डा॰ मुंजे को शारीरिक संरक्षण देना भी असंभव था। किन्तु ये संरक्षणादि सभी बातें ठीक ढंग से सम्पन्न हुईं। यह सब कैसे हो सका यह बात नागपुर में सब लोग जानते थे। यह सब होते हुए भी डाक्टर जी ने संघ के नाते संतुलन कायम रखा। यह कार्य कितना कठिन था इसकी कल्पना उन दिनों के प्रचारयुद्ध के स्वरूप से हो सकती है। उदाहरण के लिए यहां एक सभा का वर्णन प्रस्तुत है।

मराठी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री पु॰ भा॰ भावे अपने आत्मचरित्र (प्रथम पुरुषी एक वचनी) में लिखते हैं : "उन दिनों नागपुर की राजनीतिक सभाओं में बड़ी धूमधाम चलती थी। पत्थर फेंकना, जूते फेंकना, शोरगुल मचाना, मुक्केबाजी करना आदि बातें जिस सभा में नहीं हुईं, ऐसी सभाएं बहुत ही कम रहती थीं। ऐसी ही एक सभा नील सिटी स्कूल के प्रांगण में हुई थी। उस सभा में एक कांग्रेसी कार्यकर्ता भाषण दे रहा था। भाषण के दौरान उसने मुंजे-सावरकर और हिन्दूसभावादियों को गाली-गलोज देना शुरू कर दिया। ऐसे समय पर बिंदुमाधव जी (एक हिन्दुत्वनिष्ठ कार्यकर्ता) ने क्या किया? चर्चा और प्रश्न आदि माध्यमों का तो प्रयोग करना वे जानते ही नहीं थे। वे सीधे अपने स्थान से उठे, मंच पर चढ़ गए और जो वक्ता मुंजे-सावरकर को गाली दे रहा था, उसकी धोती पूरी तरह खींच ली और उस धोती को विजयपताका के समान कंधे पर लटकाकर तेजी से चल पड़े। उस वक्ता पर क्या नहीं गुजरी। वस्त्रहरण किए गए गोपियों के समान नग्नावस्था में अपनी लज्जा को दोनों हाथों से ढांपते हुए उस वक्ता ने जैसे-तैसे मंच से पलायन किया। उनकी नग्नावस्था देखकर लोगों में हंसी फैल गई, जिसमें पहले तो कांग्रेसी भी शामिल हुए, किन्तु कुछ ही क्षणों में वे संभल गए और फिर उन्होंने बिंदुमाधव जी से प्रतिशोध लेना चाहा। किन्तु बिंदुमाधव तो पहले ही अपने विपक्षी वक्ता की धोती देकर अदृश्य हो गए थे। फलस्वरूप, कुछ ही क्षणों में सभा समाप्त हो गई।"

श्री भावे का यह उदाहरण उन दिनों चल रहे प्रचार-युद्ध की तीव्रता का एक छोटा-सा नमूना मात्र है। इतनी गर्म परिस्थिति में भी संतुलन न खोते हुए पूर्व-सुचिंतित नीतियों पर ही चलते रहने और साथ-साथ सामयिक की आवश्यकतां की पूर्ति का भी ध्यान रखने का कार्य कितना कठिन होगा इसका अनुमान हम लगा सकते हैं। इसके लिए श्री पालकर द्वारा वर्णित कर्तव्य कठोरता की आवश्यकता हुआ करती है।

* * * * *

इस प्रकार की कर्तव्य कठोरता का अन्वयार्थ समझना ध्येय-विहीन सामान्य जनों के लिए असम्भव है। यश, पद, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि के पीछे लगे हुए नेता इस तरह कठोरता स्वीकार करके अपनी सस्ती लोकप्रियता को खो देना क्यों पसंद करेंगे? दूरस्थ भविष्य काल में सम्भवनीय राष्ट्रीय हानि को टालने के लिए उपस्थित वर्तमान में अपना निजी व्यक्तिगत नुकसान सहन कर लेने में बुद्धिमानी नहीं है। व्यक्तिगत हानि तो आज ही होगी, दूरस्थ भविष्य की राष्ट्रीय लाभ-हानि किसने देखी है, और उससे अपना वास्ता भी क्या है? 'आप मर गए, तो दुनिया मर गई' इस तरह के व्यवहार-चतुर नेता दूरगामी ध्येय सन्मुख रखने वाले कार्यकर्ता की विचार पद्धति समझ भी नहीं सकते, उन पर अमल करना तो दूर। व्यवहार चतुर होने के कारण वे अच्छी तरह से जानते हैं कि आसमान के सितारों से प्यार करना मूर्खता है। इस तरह की मूर्खता वे नहीं कर सकते। उल्टे ऐसे ध्येयनिष्ठ व्यक्ति को व्यवहार-शून्य मानकर उसकी निंदा करने के लिए वे तैयार हो जाते हैं। इसमें उनका दोष भी नहीं हैं।

पच्चीस-तीस साल पूर्व प्रकाशित एक अंग्रेजी पुस्तक में समुद्री पक्षियों की एक कहानी आती है। सामान्य समुद्री पक्षियों की उपेक्षा, जिसके पंख अधिक मजबूत और आकांक्षाएं अधिक ऊंची थीं ऐसा एक समुद्री पक्षी आकाश में ऊंची और दसों दिशाओं में दूर तक उड़ान लगाकर वापस आने के बाद, "अपने उड़ान के दौरान उसने क्या-क्या देखा", इसका वर्णन अपने साथियों के सामने करने लगा। उसका वर्णन जैसे-जैसे आगे बढ़ने लगा, "वैस-वैसे उसके सभी साथियों के मन में यह विश्वास अधिकाधिक दृढ़ होने लगा कि अपने इस साथी के दिमाग में कुछ गड़बड़ पैदा हो गई है, वह पागल हो गया, क्योंकि वह ऐसी मनगढ़न्त बातें बता रहा है जो व्यावहारिकता और वास्तविकता से मेल नहीं खातीं। दूरगामी ध्येय का स्पष्ट दर्शन करते हुए उसके पीछे लगने वाले व्यक्ति के विषय में सामान्य जनों में इसी तरह की प्रतिक्रिया निर्माण होनी स्वाभाविक है।

* * * * *

किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि ऐसे ध्येयनिष्ठ व्यक्तियों के मनोव्यापार ठीक ढंग से समझने की क्षमता रखने वाले लोग समाज में होते ही नहीं। व्यक्तिगत बड़प्पन के पीछे भागने वाले व्यक्ति भले ही इस मनोव्यापार को समझने में असमर्थ हो जाते हों, किन्तु जो लोग इस तरह की मन और हृदय की क्षुद्रता से पीड़ित नहीं होते, विचारों से भिन्न होते हुए भी ध्येयनिष्ठ व्यक्ति को ठीक ढंग से समझ सकते हैं?

ऐसे ही व्यक्तियों में डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी की गिनती थी। १९४० के नागपुर में संघ शिक्षा वर्ग के पश्चात डाक्टरजी के साथ हुई भेंट में डाक्टर श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने आग्रह किया कि "इसके आगे संघ को राजनीति में प्रवेश करना चाहिए।" श्यामाप्रसाद मुखर्जी का राष्ट्रजीवन में कितना महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है इसका अनुमान डाक्टरजी को था। इसी कारण संघ कार्यकर्ताओं ने कलकत्ता में उनके साथ सम्पर्क कायम रखा था, और संघ कार्य देखने के लिए उन्हें नागपुर में बुलाया गया। इस प्रकार के महत्वपूर्ण व्यक्ति के सुझाव को अस्वीकार करना बहुत ही कठिन था। उनकी भावना को कोई चोट न पहुंचाते हुए अपनी नीति उनके सामने असंदिग्ध भाषा में रखना अतीव कुशलता की बात थी। डाक्टरजी ने विनम्रतापूर्वक कहा कि "संघ प्रचलित राजनीति में भाग नहीं लेगा।" किन्तु साथ-साथ इस अस्वीकार के कारण डाक्टर मुखर्जी के मन में कोई भी विपरीत भाव पैदा न हो, इसका भी ध्यान था और पूरी बातचीत तथा वायुमण्डल का रुख भी इस तरह का था कि उन पर विपरीत परिणाम नहीं पड़ा। डाक्टर मुखर्जी भी ऊंचे स्तर के व्यक्ति थे। छोटे दिल का व्यक्ति दूसरे की बात समझने की कोशिश न करते हुए एकदम नाराज हो जाता है। डाक्टर मुखर्जी भिन्न श्रेणी के थे। उन्होंने डाक्टरजी का उत्तर उसी भाव से समझा जिस भाव से वह दिया गया था। समर्थ रामदास ने कहा कि "अन्तर्निष्ठों के संकेत अन्तर्निष्ठ ही जानते हैं।" इस संभाषण प्रसंग में बातचीत करने वाले दोनों डाक्टर अन्तर्निष्ठ थे, इस कारण गलत धारणा की सभावना भी नहीं थी। यह बात वहां उपस्थित श्रीगुरुजी के ध्यान में आई कि डाक्टरजी का मन डाक्टर मुखर्जी ने ठीक ढंग से समझ लिया है।

* * * * *

अपने खुद के प्रस्ताव के अस्वीकार होने के पश्चात स्वयं केन्द्रित व्यक्तिवादी व्यक्ति और अन्तर्निष्ठ व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर भगवान से कहते हैं, "मैंने अपने मन में प्राणपण से कई वासनाएं जतन करके रखी थीं। उन वासनाओं की पूर्ति से मुझे वंचित कर आपने मुझे बचा लिया है। आपकी यह कठोर कृपा ही मेरे सम्पूर्ण जीवन की पूंजी है। ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता की मानसिकता इसी प्रकार की हुआ करती है।

* * * * *

इस सम्पूर्ण विषय का निष्कर्ष श्री नाना पालकर द्वारा लिखित "डाक्टर हेडगेवार चरित्र" के लिए परमपूजनीय श्रीगुरुजी द्वारा लिखी गई प्रस्तावना के समारोप में इस प्रकार पाया जाता है :

"यद्यपि परिस्थिति के अनुसार उन्होंने राजनीति का अवलम्बन किया था, फिर भी राष्ट्र के उत्कर्षापकर्ष के कारणों की मीमांसा करके उन्होंने यह ध्यान में रखा कि स्पर्धा-ईर्ष्यादिपूर्ण प्रचलित राजनीति केवल अनुपयुक्त ही नहीं, अपितु यदि पूरी सतर्कता नहीं बरती गई तो हानिकारक भी सिद्ध हो सकती है। साथ ही यह सत्य पहचानकर कि राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला उसका जाग्रत अनुशासित एवं सुसंगठित सामर्थ्य ही है, उन्होंने परिस्थिति के आघात-प्रत्याघात, स्वकीयों की टीका एवं अवमानना आदि को हंसते-हंसते सहकर भी, उस

तंत्र को खड़ा करने में अपना जीवन-सर्वस्व लगा दिया तथा अपने प्रारम्भिक जीवन में सशस्त्र क्रान्ति, कांग्रेस एवं हिन्दू महासभा आदि से जो सम्बन्ध बनाए थे उन्हें सहज दूर कर दिया। उन क्षेत्रों के राष्ट्रभक्त नेताओं तथा उनके कार्य के विषय में मन में आदरभाव रखते हुए उन्होंने स्वयंसेवकों को यह सतर्कता बरतने को बताया कि उनके विषय में क्षण मात्र भी अनादर का भाव उत्पन्न न हो, किन्तु उन्होंने अपना आदर्श सबके सामने रखते हुए यह शिक्षा भी दी कि "इन कार्यपद्धतियों से दूर रहकर ही समाज-संघठन सम्भव है और वही प्रत्येक कार्यकर्ता को करना चाहिए।"

बाल्यकाल से विविध राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न, विदेशी राज्य के नाम मात्र से ही जो क्षुब्ध एवं क्रुद्ध हो जाए इस प्रकार अतीव संवेदनशील एवं उत्कट भावनापूर्ण व्यक्ति के लिए प्रचलित राजनीतिक कार्यों से अपना हाथ खींचे बिना मन को हटा लेना तथा सब प्रकार से बुद्धि को जंचने वाले कार्य के अनुकूल ही अपने मनोभाव को बनाना कितना कठिन हुआ होगा और इस प्रकार का परिवर्तन अपने अन्दर लाने वाले की विवेकशक्ति कितनी पराकोटि की और सामर्थ्यवान होगी तथा अपने निष्कर्षों एवं तदनुरूप कार्य पर उनकी निष्ठा कितनी अटल होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। इस प्रकार का कल्पनातीत शक्ति-सम्पन्न विवेक एवं कार्य की निष्ठा उनके पवित्र, निःस्वार्थ एवं राष्ट्र समर्पित जीवन के कारण ही प्राप्त करना सम्भव था। यह उनके जीवन का अत्यन्त भव्य एवं अनाकलनीय चमत्कार है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत चरित्र का पठन लाभदायक होगा, बाहर से सामान्य दिखने वाले स्वरूप में असामान्यता का तेज दिखेगा तथा प्रत्येक के मन में यह आत्मविश्वास जगेगा कि "मैं भी अपने अंतःकरण पर राष्ट्र समर्पित जीवन के संस्कार डालकर उन्हें दृढ़ रखते हुए, अपने विकारों को नष्ट कर, स्वभाव को शुद्ध करके, राष्ट्र के चिरकालीन वैभव के निर्माण के लिए तथा बाह्य वातावरण के आकर्षणों पर विजय प्राप्त कर राष्ट्र की स्थायी शक्ति के एक अटल अंग के नाते जीवनपर्यन्त परिश्रम करते हुए पूरा जीवन सफल एवं सार्थक कर सकूंगा।"

"परमपूजनीय डा॰ हेडगेवार के दिव्य जीवन का यही आशाप्रद एवं स्फूर्तिदायक संदेश है।

७. डा० हेडगेवार की प्रासंगिकता

प्रश्न उपस्थित किया गया है संघ संस्थापक डा० हेडगेवारजी के पुनः स्मरण या पुण्य स्मरण की प्रासंगिता के बारे में। संघ के बाहर जो लोग संघ के स्वरूप को ठीक ढंग से नहीं समझते, उनके मन में यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है। उनको समझाने की दृष्टि से ही "डाक्टर हेडगेवार जन्म शताब्दी समारोह कार्यक्रम" का आयोजन किया गया है। किन्तु संघ के स्वयंसेवकों को यह ही हमेशा अप्रासंगिक प्रतीत होगा, क्योंकि वे जानते हैं कि संगठन किसी भी जीवमान समाज की स्वाभाविक अवस्था हुआ करती है। यदि हम समाज का अस्तित्व यावच्चन्द्र दिवाकरौ चाहते हैं तो यह व्यवस्था भी करनी होगी कि उसकी सुसंगठित अवस्था भी यावच्चन्द्र दिवाकरौ रहे। समाज को सुसंगठित बनाए रखने के प्रयास का ही विशिष्ट नाम है "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ"। अतः परिकल्पना की दृष्टि से संघ और हिन्दू समाज समव्याप्त है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संघ सम्पूर्ण हिन्दू समाज के साथ एकात्म है और जीवनावधि की दृष्टि से संघ और सम्पूर्ण हिन्दू समाज, दोनों समान रूप से चिरायु हैं। इस कारण संघ निर्माता के पुनःस्मरण की प्रासंगिकता भी चिरन्तन स्वरूप की है।

अतएव संघ और संघ-संस्थापक के बीच जो सम्बन्ध है उसको पूरी तरह से समझने वाले स्वयंसेवकों के मन में यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकता।

डाक्टरजी को "अमूर्त मूर्त मूर्तिमंत" क्यों कहा गया, यह समझ पाना भी संघ के बाहर के व्यक्ति के लिए असम्भव है।

संघ के एक ज्येष्ठ कार्यकर्ता कहते थे कि कार्यकर्ता का स्वभाव और उसके कार्य क्षेत्र के स्वरूप में कुछ अनिवार्य सम्बन्ध हुआ करता है। कार्यकर्ता के गुणावगुण के विषय में पूरी जानकारी रही तो उसके कार्यक्षेत्र का दर्शन न होते हुए भी उस कार्य क्षेत्र के गुणावगुण के विषय में भी ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। डाक्टरजी की विशेषताओं का जिनको पूरा पता है वे आसानी से संघकार्य की विशेषताओं के बारे में सही अनुमान लगा सकते हैं और संघकार्य की विशेषताओं का जिनको पूरा पता है, डाक्टरजी को उन्होंने भले ही न देखा हो, तो भी उनकी विशेषताओं के बारे में वे सही अनुमान लगा सकते हैं। डाक्टरजी का स्वभाव और संघकार्य का स्वरूप दोनों में यह अनिवार्य सम्बन्ध है। यह बात अब सभी सम्बन्धित लोग स्वीकार करने लगे हैं।

किन्तु वास्तविकता का दूसरा एक पहलू कभी-कभी आंखों से ओझल हो जाता है।

कुछ वर्ष पूर्व अहमदाबाद में प्रान्तीय शिविर के समय किसी ने यह विचार प्रकट किया कि आंध्र के चक्रवात के समय या मोरवी (गुजरात) में जलप्लावन दुर्घटना के समय स्वयंसेवकों द्वारा किए गए प्रशंसनीय राहत कार्य के फलस्वरूप स्वयंसेवकों के कर्तृत्व को एक नया आयाम प्राप्त हुआ है। उसी समय एक और विचार सामने आया कि प्राकृतिक प्रकोप से पीड़ित बंधुओं को सहायता और राहत देने के लिए दौड़ पड़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वयंसेवकों में अभी-अभी नए सिरे से निर्माण हुई है या इस प्रवृत्ति का बीजारोपण पूर्व काल में ही हुआ था। सन् १९१३ में बंगाल की दामोदर नदी में बाढ़ आई तो उस समय भूखे लोगों के लिए पीठ पर मुड़ी (मुरमुरे) के बोरे लेकर दामोदर नदी को पार करने वाले डाक्टरजी की मनःप्रवृत्ति में ही स्वयंसेवकों की आज की सेवावृत्ति के बीजारोपण का क्या हमें दर्शन नहीं होता? गंगासागर यात्रा में हैजे से ग्रस्त लोगों को दवा देनें के लिए सैकड़ों झुग्गी-झोंपड़ियों में जाने वाले या मुसलमानों द्वारा आक्रान्त कलकत्ता के हिन्दुओं के लिए दस-बारह जवान विद्यार्थियों का सेवा पथक संगठित करने वाले डाक्टरजी की मनोवृत्ति में आज व्यक्तिशः या संस्थाशः रुग्ण सेवा तथा रोगनिवारण का कार्य चलाने वाले स्वयंसेवकों की प्रेरणा का बीज निहित है।

स्वर्गीय गुरुजी की प्रेरणा से गोहत्या निषेध के लिए पौने दो करोड़ नागरिकों का अभूतपूर्व हस्ताक्षर संग्रह किया गया था। उस समय कुछ पुराने स्वयंसेवक कहने लगे थे कि आज हमें गोहत्या का प्रत्यक्ष शारीरिक विरोध करने वाले सन् १९२८ में नागपुर गोरक्षा सभा का निर्माण करने के लिए श्री गोपाल राव भिड़े का पूरा साथ देने वाले तथा उसी वर्ष गोभक्त श्री चौण्डे महाराज द्वारा आयोजित गो-शोभा -यात्रा का मुसलमानों के आक्रमणों से संरक्षण करने वाले डाक्टर हेडगेवार जी की उत्कटता से स्मरण हो रहा है।

"आर्गेनाइजर" के पश्चात नागपुर में "राष्ट्र शक्ति" साप्ताहिक प्रारम्भ हुआ। उससे सम्बन्धित स्वयंसेवक इस उपक्रम को एकदम अभिनव स्वरूप का मानने लगे तो उस समय "राष्ट्र शक्ति" के व्यवस्थापक कृष्णरावजी मोहरीर ने उनको कहा था कि आप लोगों का यह विचार सच नहीं है क्या आज हम डाक्टरजी को भूल गए जिन्होंने संघ पूर्व काल में "संकल्प" (हिन्दी) और "स्वातंत्र्य" (मराठी) पत्र के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक किया था या उसके भी पूर्व कलकत्ता में "बोगस मेडिकल डिग्रीज बिल" के विरोध में समाचारपत्रों के माध्यम से सफल प्रचार अभियान संगठित किया था।

मीनाक्षीपुरम की घटना के पश्चात विभिन्न प्रदेशों में सम्पन्न हुए विशाल हिन्दू सम्मेलनों की व्यवस्था करने के लिए स्वयं प्रेरणा से सामने आए हुए स्वयंसेवकों को देखकर नागपुर के एक प्रौढ़ स्वयंसेवक सानन्द कहने लगे : "इस समय मुझे वह दिन याद आ रहा है जब डाक्टरजी की प्रेरणा से हम नागपुर के स्वयंसेवक १९२६ की अप्रैल में रामनवमी के अवसर पर रामटेक के मेले की व्यवस्था के लिए वहां गए थे और सारी अव्यवस्था को दूर करके मेले में अनुशासन लाया था। इतना ही नहीं, यात्रियों से नाजायज पैसे लेने वाले पुजारियों का दुर्व्यवहार भी नियंत्रित किया

था।"

धार्मिक मान्यताओं पर हुए आक्रमण का प्रतिकार एक महान और पुण्य कार्य है। इस तरह का कार्य करने वाले पुण्य पुरुषों के स्पंदन प्रदीर्घ काल तक वायुमण्डल को प्रभावित करते रहते हैं। उनका प्रभाव ऐसे व्यक्तियों पर भी होता है जिनको उन महापुरुषों की जानकारी या स्मरण भी नहीं होता। यह आत्मा का सामर्थ्य है। ८ नवम्बर, १९२३ को नागपुर में डाक्टर चोलकर तथा डा॰ परांजपे को साथ लेकर " दिण्डी सत्याग्रह " करने वाले डॉक्टर जी का स्पंदन अभी भी रामजन्मभूमि की मुक्ति के लिए संघर्षशील स्वयंसेवकों को प्रेरित कर रहा है। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति इसका अनुभव कर सकता है।

आज राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संघ के स्वयंसेवक कार्यरत हैं। उन्होंने संघ से प्रेरणा तथा संस्कार प्राप्त करके अपने-अपने कार्यों को प्रारम्भ किया। किन्तु वास्तव में यह भी एक अन्वेषण का विषय हो सकता है कि उनमें से कितने कार्यों की प्रेरणा संघ संस्थापक के जीवन से प्राप्त हुई है।

आपात्काल के पूर्व गुजरात तथा बिहार में विद्यार्थियों ने जन-आन्दोलन चलाया था। विद्यार्थियों द्वारा अपने ही बल पर चलाए गए इन आन्दोलनों में सबसे बड़ा हिस्सा विद्यार्थी परिषद का था। उसमें हिस्सा लेने वाले गैर-स्वयंसेवकों की बात छोड़ दें, किन्तु जिनके प्रयासों के कारण ये आन्दोलन सुचारू रूप से चले थे उन स्वयंसेवक विद्यार्थियों की प्रवृत्ति और प्रेरणा का सीधा रिश्ता " रिस्ले सर्क्युलर" के विरोध में नील सिटी हाई स्कूल में दो महीने तक लम्बी हड़ताल संगठित करने वाले और स्वयं का निष्कासन सहर्ष स्वीकार करने वाले विद्यार्थी केशव के संघर्ष-प्रधान विद्यार्थी जीवन से था, इस तथ्य को क्या कोई अस्वीकार कर सकता है?

शिक्षा क्षेत्र में संघ के स्वयंसेवक अनेक संस्थाएं चला रहे हैं जिनका सामूहिक नामकरण है "विद्या भारती"। इन प्रयासों के पीछे प्रेरक प्रवृत्ति कौन-सी है? कलकत्ता के "राष्ट्रीय विद्यापीठ", बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में संगठित राष्ट्रीय विद्यालय आदि संस्थाओं के निर्माण के लिए जो प्रेरणा कारण थी, वही प्रेरणा "विद्या भारती" की भी है। १ दिसम्बर, १९०९ को "दि नेशनल काउंसिल ऑफ एजूकेशन" (बंगाल) के अध्यक्ष डा॰ रास बिहारी घोष की स्वाक्षरी का जो प्रमाण-पत्र विद्यार्थी केशव को प्राप्त हुआ था, उस प्रमाण-पत्र की जन्मपत्री और स्वयंसेवकों द्वारा संस्थापित सर्वप्रथम शिशु मंदिर (गोरखपुर) की जन्मपत्री की तुलना कोई ज्योतिषी करेगा तो उसके ध्यान में यह आयेगा कि दोनों के ग्रहयोग एक जैसे हैं।

कामरेड डांगे जिन दिनों ए॰ आई॰ टी॰ यू॰ सी॰ के दस्तावेज तैयार कर रहे थे, उन्हीं दिनों एक बार संसद के सेंट्रल हॉल में मेरी ओर संकेत करते हुए उन्होंने श्री रामचन्द्र विट्ठल बड़े साहब से मजाक में कहा था, "हमारी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा यह आपके मजदूर क्षेत्र को दी हुई देन है।" यह सर्वविदित है कि ए. आई. टी. यू. सी.पर कम्युनिस्टों ने सर्वप्रथम जब सन् १९२५ के बम्बई अधिवेशन में कब्जा किया था तब ए॰आई॰टी॰यू॰सी॰ के प्रथम कम्युनिस्ट अध्यक्ष श्री धुंडिराज

पंत ठेंगड़ी बने थे। इसी संदर्भ के प्रकाश में उन्होंने कहा था कि मजदूर क्षेत्र का काम इसके लिए (मेरे लिए) आनुवांशिक है और यह कम्युनिस्ट पार्टी की देन है। स्पष्ट है कि एक ऐतिहासिक तथ्य के विषय में उनको जानकारी नहीं थी। डाक्टरजी सन् १९२० में नागपुर में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन की स्वागत समिति के सक्रिय सदस्य थे और उनके ही आग्रह पर स्वागत समिति ने एक प्रस्ताव पारित करके उसे विषय नियामक समिति के पास भेजा था। प्रस्ताव में कहा गया था कि नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस का निम्न द्विविध ध्येय निःसंदिग्ध शब्दों में घोषित करना चाहिए : (१) भारत को स्वतंत्र करते हुए प्रजातंत्र की स्थापना और (२) विश्व के सभी देशों को पूंजीवाद के चंगुल से मुक्त करना। भारतीय मजदूर संघ के पूंजीवाद विरोध का स्रोत इस प्रस्ताव के दूसरे हिस्से में निहित है।

बहुआयामी कर्तृत्व वाले श्रेष्ठ पुरुषों के लिए यह एक घाटा हुआ करता है कि काल के प्रवाह में उनके कर्तृत्व का सर्वप्रमुख आयाम, उनका प्रमुख जीवन कार्य तो जनता के ध्यान में प्रकर्ष से रह जाता है, किन्तु उनके कर्तृत्व के अन्य आयाम स्वयं अपने में महत्वपूर्ण होते हुए भी आंखों से ओझल हो जाते हैं। ठीक उसी तरह जैसे भूमि में बोया हुआ बीज सामान्य व्यक्ति के दृष्टि-पंथ में नहीं आता, किन्तु परिपक्व फल वह आसानी से देख और चख सकता है। वह इन दोनों के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का अवधान नहीं रखता इसलिए दोनों का विचार उसके मन में पृथक-पृथक रूप में आता है। संघ के सामान्य स्वयंसेवकों ने यह पढ़ा होगा कि डाक्टरजी ने आर्वी के गंगाधर राव देशपाण्डे की भांजी का जरठ विवाह रोक दिया था और उसका विवाह उसके अनुरूप दूसरे युवक से कराया था। स्वयंसेवक इन दिनों सामाजिक उत्क्रम (Social thrust) शब्द बहुत सुनते हैं। किन्तु ये दोनों बातें वह अपनी बुद्धि के विभिन्न खानों में रख देता है।

विश्व हिन्दू परिषद् तथा वनवासी कल्याण आश्रम ईसाई मिशनरियों के षड्यंत्र विफल करने के लिए क्या-क्या प्रयत्न कर रहे हैं, इसकी पूरी जानकारी सबको है। किन्तु संघ का स्वयंसेवक यह भी जानता है कि डाक्टरजी ने नागपुर के अनाथ विद्यार्थी गृह में से एक मिशनरी महिला द्वारा भगाए हुए दो बच्चों को वापस लाने का सफल प्रयास सन् १९२६ में किया था। लेकिन ये दोनों तथ्य उसके मन के दो अलग-अलग खानों में हैं। जिस स्वाभिमान और गर्व के साथ विभाजन के समय संघ के स्वयंसेवकों द्वारा हिन्दुओं की रक्षा करने के लिए जान की बाजी लगाकर पंजाब में किया हुआ कार्य स्वयंसेवक लोगों को बताता है, ठीक उतने ही स्वाभिमान से वह ४ दिसम्बर, १९२७ को जान की बाजी लगाकर सम्पूर्ण समाज को प्रोत्साहित करते हुए नागपुर में स्वयंसेवकों द्वारा किए हुए प्रतिकार की कहानी भी सुनाता है। किन्तु इन दोनों घटनाओं में जो भावनात्मक बीज-फल सम्बन्ध है वह उसके ध्यान में नहीं आता।

क्रान्तिकारी अनुशीलन समिति के ज्येष्ठ नेता श्री त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती द्वारा लिखित "जेल में तीस बरस" पुस्तक में दी हुई "सच्चे सदस्य" की कसौटी और संघ में विकसित प्रचारक पद्धति से भी स्वयंसेवक अच्छी तरह परिचित हैं। किन्तु उनकी दृष्टि में ये दोनों परस्पर सम्बन्ध न रखने

वाली स्वतंत्र घटनाएं हैं। संघ के स्वयंसेवकों द्वारा संचालित सेवा प्रकल्पों का उचित अभिमान मन में रखते हुए वह सोचता है कि सेवा कार्य स्वयंसेवकों के कर्तृत्व का एकदम नया और मौलिक आयाम है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि " अनाथ विद्यार्थी गृह " या " श्रद्धानन्द अनाथालय" खड़े करने के समय डाक्टरजी द्वारा किए गए परिश्रमों की उसको जानकारी नहीं। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि बीज-फल विवेक का उसे अवधान नहीं है।

डाक्टरजी की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी हिन्दू धर्म संस्कृति में दृढ़-मूल उनका स्वयं प्रतिभत्व। संघ की कार्यपद्धति में इसका दर्शन हमें होता है। यह कार्यपद्धति न किसी पाश्चिमात्य कार्यपद्धति की नकल है, न किसी भारतीय संस्था तथा दल की कार्यपद्धति की। दिन-प्रतिदिन के एकत्रीकरण का आग्रह और श्रीगुरुदक्षिणा का उपक्रम आदि कितनी ही बातें इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। आज विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले संघ के स्वयंसेवकों के कार्यों में हमें इसी वैशिष्ट्यपूर्ण स्वयं प्रतिभत्व का दर्शन होता है। अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करते समय उन्होंने न किसी पाश्चिमात्य पद्धति की नकल की है, न ही किसी अन्य भारतीय संस्था की पद्धति या कार्यक्रमों की। विद्यार्थी परिषद् की स्थापना के पूर्व भारत में कई विद्यार्थी संस्थाएं कार्य कर रही थीं। किन्तु अपने जन्मकाल से ही हाथ में लिए "भारतीयकरण उद्योग" से लेकर "सामाजिक समता" अभियान तक जिस तरह के विभिन्न उपक्रम विद्यार्थी परिषद् ने चलाए वैसे कार्यक्रम विद्यार्थी क्षेत्र में काम करने वाली दूसरी किसी संस्था ने अब तक नहीं चलाए हैं। भारतीय मजदूर संघ के पूर्व कई दशकों से विभिन्न ट्रेड यूनियनें काम कर रही थीं। उनका नारा था "हमारी मांगें पूरी हों, चाहे जो मजबूरी हो।" भारतीय मजदूर संघ ने नारा दिया "देश के हित में करेंगे काम,, काम के लेंगे पूरे दाम।" भारतीय मजदूर संघ के पूर्व कई दशकों से काम करने वाली यूनियनों में से किसी ने भी "राष्ट्रीय श्रम दिवस" की कल्पना नहीं की थी। "दुनिया के मजदूरो एक हो" के स्थान पर "मजदूरो दुनिया को एक करो" की घोषणा या भौतिकवादी पश्चिम की तर्ज पर दिए गए नारे "बिना सहकार नहीं उद्धार" के मूल तक पहुंचकर "बिना संस्कार नहीं सहकार" का मौलिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादन करने का काम संघ के स्वयंसेवक ही कर सकते हैं। यह स्वयं को "प्रगतिशील" घोषित करने वाले ओछे रोमांटिक नेताओं के वश की बात नहीं है। समाजवाद का आज सर्वत्र अवमूल्यन हो रहा है। किन्तु भारतीय जनसंघ के प्रारम्भिक काल में वह एक चमकदार और चालू सिक्का था। यहां तक कि शासक दल को भी अपने आवड़ी अधिवेशन में "समाजवादी समाज रचना" का ध्येय स्वीकार करना पड़ा। किन्तु इस हवा में न बहते हुए स्वयं के प्रतिभत्व के आधार पर हिन्दू संस्कृति से जुड़े रहने वाले " एकात्म मानववाद " का सर्वंकष दर्शन संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने का अलौकिक कार्य केवल जनसंघ ने ही किया। स्वयंसेवकों द्वारा हर क्षेत्र में आविष्कृत स्वयं प्रतिभत्व की जड़ डाक्टरजी के इसी तरह के स्वयंप्रतिभत्व तथा स्वयंप्रतिभत्व के विषय में उनके आग्रह में है।

हम संघकार्य का विचार करें या उपरिनिर्दिष्ट विविध कार्यों का, डाक्टरजी के व्यक्तित्व और विचारों की प्रासंगिकता अपरिहार्य रूप से हमारे सामने प्रकट होती है। अन्तिम उदाहरण के

रूप में केवल एक बात का उल्लेख करना इस संदर्भ में पर्याप्त होगा।

श्री बालासाहब देवरस के नागपुर १९८७ के विजयादशमी के भाषण के विषय में बहुत चर्चा चली। यह सत्य है कि कुछ समाचारपत्रों ने जान-बूझकर तोड़-मरोड़कर उस भाषण को प्रकाशित किया। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि गलतफहमी का शिकार बनने वाले प्रामाणिक व्यक्ति भी श्री बालासाहब की मनःप्रवृत्ति नहीं जानते।

संघ के विषय में असूया का भाव नागपुर और विदर्भ के कुछ कांग्रेसी नेताओं के मन में प्रारंभ काल से ही था, इसी कारण १० नवम्बर, १९३७ को "मध्य प्रान्त कांग्रेस ने डाक्टरजी को पत्र लिखकर संघ का उद्देश्य, कार्यक्रम तथा नीति के विषय में अधिकृत जानकारी की मांग की थी। उसके बाद इसी विषय के सम्बन्ध में तीन पत्र तथा एक प्रश्न पत्रिका भी डाक्टरजी के पास भेजी थी। जिसके उत्तरस्वरूप अपनी सहज प्रकृति के अनुरूप स्पष्टीकरण देते हुए डाक्टरजी ने लिखा था कि "हमें परीक्षा देने वाला एक विद्यार्थी समझकर आपके द्वारा भेजी हुई प्रश्न-पुस्तिका पहुंच गई, किन्तु अब हमारी आयु परीक्षा में बैठने की नहीं है, इस कारण आपकी इच्छा को हम मान नहीं दे सकते। इसलिए हम दिलगीर (दुःखी) हैं।"

कांग्रेसी नेताओं की प्रवृत्ति का सही अनुमान इस पत्र-व्यवहार से लग सकता है। यह प्रवृत्ति कांग्रेस के कुछ लोगों में प्रारम्भ से ही थी। इस बात को डाक्टरजी अच्छी तरह से जानते थे, तो भी रावी नदी के तट पर कांग्रेस द्वारा "पूर्ण स्वातंत्र्य" का प्रस्ताव पारित करने के पश्चात डाक्टरजी ने एक परिपत्रक निकालकर सभी संघ शाखाओं को आदेश दिया था कि "रविवार, २६-१-१९३० को सायं ठीक छः बजे अपने-अपने संघ संस्थान पर सभी स्वयंसेवकों की सभा करके राष्ट्रीय ध्वज अर्थात् भगवद्ध्वज का वंदन करना चाहिए और कांग्रेस ने स्वातंत्र्य के ध्येय का पुरस्कार किया, इसलिए उसका अभिनंदन करना चाहिए।"

इसका मतलब यह नहीं कि कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण नीति का प्रखर विरोध करने का काम डाक्टरजी ने बंद कर दिया था। यह सर्वविदित है कि दिसम्बर, १९३७ में स्वातंत्र्यवीर सावरकर का विदर्भ मध्य प्रदेश का दौरा डाक्टरजी ने ही आयोजिक किया था। डाक्टरजी की इन भूमिकाओं का अन्वयार्थ जो नहीं समझ सकते उनका बालासाहब के विजयादशमी भाषण का अन्वयार्थ समझने में असमर्थ होना स्वाभाविक है।

केवल प्रासंगिकता की ही बात नहीं है। डाक्टरजी के जीवन की घटनाओं में हिन्दू राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन भी है।

दिसम्बर, १९३७ में नागपुर के बाल स्वयंसेवकों के शिविर का उद्घाटन औंध रियासत के राजे पंत प्रतिनिधि के द्वारा हुआ था। एक सहस्र बाल स्वयंसेवकों के अनुशासनबद्ध कार्यक्रम से प्रसन्न होकर पंत प्रतिनिधि महोदय ने अपने साथ लाए हुए छाया चित्रकार को इशारा किया कि वह अपना छायाचित्रण का प्रारम्भ कर दें। इस संकेत की तरफ डाक्टरजी का ध्यान नहीं था। किन्तु जैसे ही यह बात डाक्टरजी के ख्याल में आई उन्होंने तुरन्त चित्रीकरण का काम रोकने का आदेश

दिया। चित्रीकरण रोकने का काम किसी भी क्षण होना संभवनीय था। किन्तु प्रत्यक्ष में कुछ मिनटों का यह चित्रीकरण किस बिन्दु पर रुक गया यह महत्वपूर्ण है। डाक्टरजी परम वंदनीय भगवद्ध्वज को ऊपर चढ़ा रहे हैं और वह आकाश में लहरा रहा है, इस बिन्दु पर चित्रीकरण की प्रक्रिया रोक दी गई। क्या यह केवल संयोग था? या इस घटना में से " प्रभो शक्तिमन् " हम सब "हिन्दू राष्ट्रांगभूत" लोगों के लिए अपना कुछ संकेत दे रहे थे? डाक्टरजी के चरित्रकार श्री नाना पालकर कहते हैं कि "पवित्र भगवा ध्वज अखण्ड भारत पर लहराने की डाक्टरजी के मन की महन्मंगल आंकाक्षा भावी पीढ़ियों के लिए इस तरह ठीक ढंग से चित्रित होने का संयोग वास्तव में हृदयंगम करने योग्य है।" भावी इतिहासकार इस घटना का वर्णन करते हुए लिखेंगे— **"संकेतरेखा नवभारतस्य"**।

८. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अपेक्षा

"मैं हिन्दुत्व का अभिमानी हूं, यह बात सत्य है। यदि ऐसा न होता तो मेरे द्वारा अस्पृश्य बंधुओं की सेवा ही सम्भव न होती।"

किसी दल या संगठन विशेष से प्रतिबद्धता न रखने वाले विज्ञान बोधकार श्रीपाद महादेव उपाख्य बापू साहब माटे ने अपने आत्मचरित्र में उपर्युक्त उद्‌गार प्रकट किए हैं।

सामाजिक समरसता में से सहज रूप से प्रस्फुटित सामाजिक समता की सुदृढ़ भित्ति पर अधिष्ठित राष्ट्रीय एकात्मता ही संघ को अपेक्षित है। समरसता के बिना समता स्थायी नहीं हो सकती और दोनों के अभाव में राष्ट्रीय एकात्मता की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

हिन्दुत्व निष्ठा के कारण ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जन्मदाता के मन में सामाजिक समरसता तथा सामाजिक समता के लिए स्वाभाविक रूप से आग्रह निर्माण हुआ।

हिन्दू धर्म के तत्वज्ञान की श्रेष्ठता के विषय में कहीं कोई विवाद नहीं है। लेकिन वह आज व्यवहार में दिखाई नहीं देता। "पुराणों की बातें पुराणों तक ही हुआ करती हैं" कथन के अनुसार हमारे तत्वज्ञान और व्यवहार में आज कोई तालमेल नहीं है। डा॰ बाबा साहब अम्बेडकर को इसी बात की चिढ़ थी। वे कहा करते थे कि "हिन्दू तत्वज्ञान के अनुसार यदि सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है तो उस ब्रह्म को चमार और मेहतर में भी अवश्य होना चाहिए। फिर हिन्दू धर्म में यह छुआछूत, यह असमानता क्यों है? कम्युनिस्टों के सिवाय दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जिसे धर्म की आवश्यकता नहीं। धर्म हमें भी चाहिए। लेकिन हमें सद्‌धर्म चाहिए। ऐसा सद्‌धर्म जहां सामाजिक समता हो। सबको अपनी उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हो। वही यथार्थ धर्म है। अन्य सभी अधर्म है।" सैद्धान्तिक भूमिका में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का प्रतिपादन और प्रत्यक्ष व्यवहार में ऊंच-नीच, छुआछूत आदि कुरीतियों का पालन करने जैसे पाखण्ड पर डा॰ बाबा साहब अम्बेडकर ने करारी चोटें की हैं। हिन्दू समाज में उत्पन्न इस तत्व और व्यवहार की खाई के कारण डा॰ अम्बेडकर के समान डा॰ हेडगेवार भी चिन्तित थे। विगत कुछ शतकों में हिन्दू समाज की स्थिति विभाजित व्यक्तित्व जैसी हो चुकी है। डा॰ हेडगेवार की यह निश्चित धारणा थी कि

इसी कारण संसार का सर्वश्रेष्ठ तत्वज्ञान का धनी यह हिन्दू समाज आज पतनोन्मुख है। और इसी कारण डाक्टरजी ने भी हिन्दू समाज की इस विसंगति पर कठोर प्रहार किए।

इस सम्बन्ध में डाक्टरजी कहा करते थे, "अपना कार्य सम्पूर्ण हिन्दू समाज का संगठन करना है। हिन्दू समाज के किसी भी अंग की उपेक्षा करने से यह कार्य सिद्ध नहीं होगा। हिन्दू मात्र से हमारा व्यवहार स्नेहपूर्ण होना चाहिए। जातिगत ऊंच-नीच का भाव हमारे मन को कभी भी स्पर्श न करे। ऊंच-नीच, जात-पात के आधार पर सोचना भी पाप है। संघ के स्वयंसेवकों के मन में ऐसे घृणित और समाज विघातक विचारों को कभी स्थान नहीं मिलना चाहिए। हिन्दुस्थान के प्रति भक्ति रखने वाला प्रत्येक हिन्दू मेरा भाई है— यही दृढ़ भावना प्रत्येक स्वयंसेवक की होनी चाहिए।"

डा॰ हेडगेवार कहा करते थे "तत्वज्ञान आचरण में लाने के लिए हुआ करता है, केवल शास्त्रार्थ और वाग्विलास के लिए नहीं। प्रथम तत्व का आविष्कार होता है और फिर उसके अनुसार व्यवहार होता है। जो तत्वज्ञान आचरण में नहीं आता, वह केवल "तोता रटन्त" अर्थात् निरर्थक है, शब्दाडम्बर मात्र है। ऐसे तत्वज्ञान को बांझ कहा जाना चाहिए। समाज जीवन को आकार देने का सामर्थ्य यदि किसी तत्वज्ञान में न हो तो वह व्यर्थ है। व्यक्ति के जीवन को तत्वज्ञान के सांचे में ही ढाला जाता है। तत्वाधिष्ठित जीवन-क्रम ही ध्येय पथ की कठिन चढ़ाई चढ़ने का सामर्थ्य प्रदान कर ध्येय प्राप्ति में सहायक बनता है। तत्वनिष्ठ जीवन में चढ़ाव-उतार आना स्वाभाविक है, लेकिन तत्व चिरन्तन रहता है।"

इस संदर्भ में डा॰ हेडगेवार अंग्रेजी की एक कहावत कहा करते थे— "गॉड हेल्प्स दोज हू हेल्प देमसेल्व्स"। (जो स्वयं की सहायता करते है ईश्वर उसी की सहायता करता है।) किन्तु मैं यह नहीं समझता कि भगवान को हमारी सहायता क्यों करनी चाहिए? उसे हमारे ऊपर दया क्यों आनी चाहिए? क्या हम स्वयं अपना पुरुषार्थ प्रकट कर रहे हैं? यदि नहीं, तो भगवान को हमारी सहायता के लिए दौड़कर क्यों आना चाहिए? गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है, "परित्राणाय साधूनां" अर्थात् सज्जनों की रक्षा करने के लिए वे अवतार लिया करते हैं। लेकिन वे साधु, वे सज्जन कौन हैं? उनकी पहचान क्या है? जिन्हें समाज, राष्ट्र और धर्म-संस्कृति की दुर्दशा की चिन्ता नहीं, जो अपने स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता— समाज के प्रति इस प्रकार के कृतघ्न लोगों के संहार के लिए ही तो भगवान अवतार धारण करते हैं। हिन्दू समाज में ये सभी दुगुर्ण आज चरम सीमा पर पहुंच गए हैं। क्या ऐसे लोगों को दुष्ट नहीं कहा जाएगा? साधु अर्थात् सज्जन तो वे ही लोग हैं जो धर्म, राष्ट्र और समाज के कल्याण के लिए अखण्ड कार्यरत रहते हैं। क्या इस प्रकार के लोग आज हिन्दू समाज में पर्याप्त मात्रा में हैं? यदि इस हिन्दू समाज के आधे लोग साधुता के गुणों से युक्त होते तो इस महान समाज पर आक्रमण करने का दुस्साहस ही किसी को न होता। और ऐसी स्थिति में भगवान भी धर्म की रक्षा करने के लिए हमारे मध्य अवश्य ही आए होते। आज समाज की जो अवस्था है उसमें हम भगवान की सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकते, और यदि कहीं भगवान का आविर्भाव हुआ भी तो वह हमारी रक्षा के लिए न होकर हमारा संहार करने के लिए ही

होगा।क्योंकि भगवान ने दुष्टों का संहार करने की घोषणा की हुई है। जब तक व्यक्तिगत स्वार्थ, सामाजिक भावना का अभाव एवं समाजहित की उपेक्षा का भाव हम में रहेगा, और जब तक हम यथार्थ में सज्जन नहीं होंगे, तब तक भगवान हमें दुष्ट समझकर हमारे विनाश में ही सहायता करेगा।"

डा॰ हेडगेवार के उपर्युक्त उद्‌गार से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे यथास्थितिवादी नहीं थे। हिन्दू समाज की प्रचलित दुष्ट रूढ़ियों और उनमें से निर्मित सामाजिक दोषों पर वे करारी चोट करते रहे। लेकिन यह कार्य उन्होंने समाज को अपना समझकर ही किया। समाज कल्याण के लिए उनकी वह बेचैनी हिन्दू एकात्मता के साक्षात्कार में ही निर्मित हुई थी। हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्त तथा उनके सामाजिक व्यवहार के कारण जो खाई निर्मित हुई है उसकी व्यथा जितनी बाबा साहब अम्बेडकर के विचार में प्रकट हुई है उतनी ही डा॰ हेडगेवार के विचारों में भी अभिव्यक्त हुई है। इस पार्श्वभूमि का ज्ञान न होने से अपने सिवाय अन्य सभी लोग प्रतिगामी हैं इस स्वकेन्द्रित अहंकार के कारण तथाकथित प्रगतिवादी लोगों ने संघ की प्रतिमा मलिन करने का प्रयास किया। लेकिन संघ के स्थापना काल से ही उसकी भूमिका यथार्थ में ऐसी ही रही है।

अन्य संस्थाओं में सर्वोच्च नेतृत्व में परिवर्तन के साथ बहुधा उनके लक्ष्य अथवा नीति में ही परिवर्तन हो जाया करता है। लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में इसकी तनिक भी संभावना नहीं होती। देशकाल और परिस्थिति के अनुसार मूलभूत सिद्धान्त एवं कार्यपद्धति का "प्रोग्रेसिव अनफोल्डमेंट" (प्रगत उन्मीलन) होते रहना किसी भी विकासोन्मुख राष्ट्रीय संगठन के लिए स्वाभाविक माना जाता है, लेकिन यह "प्रोग्रेसिव अनफोल्डमेंट— प्रगत उन्मीलन होता है, दिशा परिवर्तन नहीं। संघ के वर्तमान सरसंघचालक बालासाहब देवरस का पुणे की वसन्त व्याख्यानमाला में दिया गया भाषण उस समय चर्चा का विषय बन गया था। जाति, संस्था, अस्पृश्यता तथा हिन्दू समाज में विद्यमान अन्य दुष्ट रूढ़ियों के सम्बन्ध में श्री बाला साहब द्वारा प्रतिपादित सुस्पष्ट भूमिका के कारण महाराष्ट्र के प्रगतिवादी कहे जाने वाले लोगों को आश्चर्य हुआ। राष्ट्र सेविका समिति के स्वर्ण जयन्ती समारोह में दिए गए उनके भाषण से अनेक लोगों को विशेष रूप से सुखद आश्चर्य हुआ। श्री बालासाहब ने अपने भाषण में पुनः एक बार स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि "चातुर्वर्ण्य कालबाह्य हो चुका है और जाति-व्यवस्था को समाप्त कर देना होगा।" इसी भाषण में उन्होंने यह भी प्रतिपादन किया था कि "हिन्दू समाज की जातिप्रथा समाप्त होने पर सारा संसार हिन्दू समाज को वरण करेगा। इसके लिए भारतीय महिला समाज को पहले अपने हाथ में लेकर अपने घर से ही अन्तर्जातीय तथा अन्तर्प्रान्तीय विवाह का प्रारम्भ करना चाहिए।" महाराष्ट्र के लोकप्रिय समाचारपत्रों ने उनके इस आह्वान का स्वागत किया। संघ के प्रति सद्‌भावना रखने वाले, किन्तु संघ की रीति-नीति का सम्यक् ज्ञान न रखने वाले लोगों ने यहां तक कह दिया है कि संघ में हो रहा यह परिवर्तन स्वागत योग्य है। संघ का इस प्रकार स्वागत करने वाले लोगों के प्रति संघ के कार्यकर्ताओं के मन में निश्चित रूप से कृतज्ञता का भाव रहेगा। लेकिन यथार्थ में संघ ने सन् १९२५ की विजयादशमी से जिस भूमिका को स्वीकार किया है,

श्री बालासाहब ने उसी के अनुरूप विचार प्रकट किए हैं। देश, काल परिस्थिति के अनुसार सिद्धान्त और व्यवहार की प्रगत उन्मीलन की यह प्रक्रिया शास्त्रशुद्ध है। लेकिन इसे "परिवर्तन" नहीं कहा जा सकता।

हमारी ऐसी अनुभूति है कि जाति और वर्ण निरपेक्ष सम्पूर्ण हिन्दू समाज एक है। इस भावात्मक अनुभूति में से ही समाज की एकात्मता साकार होगी। इस विश्वास के कारण संघ ने प्रारम्भ से ही जातिभेद और अस्पृश्यता को अस्वीकार किया है। नकारात्मक प्रचार के द्वारा जिस बात को भुलाने का समाज से आग्रह किया जाता है, वह बात भूलने के बजाय जनमानस में दृढ़मूल हो जाती है। अतएव नकारात्मक प्रचार प्रारम्भ में कितना ही प्रभावी क्यों न प्रतीत हो, अन्ततोगत्वा विपरीत परिणामकारी सिद्ध होता है। भेदभाव को मिटाने वाले इस प्रकार के प्रयास उसे बढ़ाने में सहायक बनते हैं। देशभर के विभिन्न नकारात्मक आन्दोलनों की यही परिणति दिखाई देती है। प्रगतिवादी कहलाने वाले कुछ प्रामाणिक लोगों ने इसे स्वीकार भी किया है। संघ द्वारा अपनाया हुआ एकात्मता का मार्ग तत्काल फलदायी दिखाई न देने पर भी शास्त्रशुद्ध है और अन्ततोगत्वा इसी मार्ग से यथार्थ में एकात्मता का निर्माण होगा।

किसी भी प्रश्न पर समग्र रूप से चिन्तन करने के बजाय उस पर खण्डशः विचार करने के अभ्यस्त नेताओं के द्वारा कुछ ऐसे ही प्रश्न किए जाने पर संघ की भूमिका पुनः एक बार स्पष्ट करना आवश्यक हो गया था।

पूर्ववर्ती मध्यप्रान्त कांग्रेस कमेटी ने एक प्रश्नावली संघ के संस्थापक डा॰ हेडगेवार के पास भेजकर विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में संघ की भूमिका स्पष्ट करने को कहा था। डाक्टरजी ने सूचित किया कि इन प्रश्नों पर व्यक्तिगत चर्चा ही उपयुक्त रहेगी। उसके अनुसार ३१ जनवरी, १९३४ को प्रदेश कांग्रेस कमेटी की ओर से श्री जमनालाल बजाज और डा॰ हेडगेवार की नागपुर में भेंट हुई। अन्य प्रश्नों की चर्चा के साथ ही जब श्री जमनालाल बजाज ने अस्पृश्यता के सम्बन्ध में संघ की भूमिका स्पष्ट करने को कहा तो डाक्टरजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "दि संघ टोटली डिसएप्रूव्ज दि प्रैक्टिस ऑफ अंटचेबिलिटी," संघ अस्पृश्यता को पूरी तरह से अमान्य करता है।"

संघ की भूमिका को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने का काम द्वितीय सरसंघचालक स्वर्गीय श्री गुरुजी के द्वारा सम्पन्न हुआ। इसे श्रीगुरुजी के ही शब्दों में देना ठीक होगा। उन्होंने कहा कि समाज के अधिकांश लोगों की इस प्रकार की धारणा होना कि "अस्पृश्यता धर्म का एक भाग है और धर्माज्ञा का उल्लंघन महापाप है।" अस्पृश्यता का मूल कारण है। अनेक धर्माचार्य तथा समाज सुधारकों द्वारा शताब्दियों से किए जा रहे प्रयत्नों के बावजूद यह दुष्ट प्रथा जनमानस में अभी तक अपनी जड़ें मजबूती से जमाए हुए है। गुरु नानक, आचार्य रामानुज, बसवेश्वर, शंकरदेव, स्वामी दयानन्द, नारायण गुरु, गांधी जी और सावरकर जैसे अनेक महापुरुषों ने हिन्दू समाज पर लगे अस्पृश्यता के इस कलंक को मिटाने के लिए अथक प्रयास किए, लेकिन वह कलंक आज भी कायम है। आज भी स्वतः को उच्चवर्णीय समझने वाले लोग तथाकथित अछूतों के साथ समानता

का व्यवहार करने के लिए तैयार नहीं है। राजस्थान के एक हरिजन युवक द्वारा मूंछें रखने पर उसकी हत्या कर दी गई। ऐसा इसलिए किया गया कि मूंछें रखने का अधिकार केवल राजपूतों को ही है। ऐसी घटनाओं की धर्माचार्यों को निंदा करनी चाहिए थी। इसके कारण रुढ़ि और धर्म में सम्भ्रम होता है।"

इसी संदर्भ में १९६९ में कर्नाटक के उडुपी नामक स्थान पर सम्पन्न विश्व हिन्दू सम्मेलन का गौरव के साथ उल्लेख करते हुए श्री गुरुजी कहते हैं, "धर्म के सम्बन्ध में विकृत कल्पना के कारण ही अस्पृश्यता की दुष्ट सामाजिक प्रथा आज तक बनी हुई है। इस धर्म विरोधी प्रथा का समूलोच्छेद करने के लिए अब परम्परागत मठाधिपतियों को ही आगे आना होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि सर्वसाधारण समाज आज भी धर्माचार्यों को ही धर्म का अधिकृत प्रवक्ता मानता है।"

हिन्दू धर्मान्तर्गत शैव, मध्व, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख आदि समस्त पंथों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में उपस्थित थे। श्रद्धेय धर्माचार्यों का आदेश शिरोधार्य मानकर धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में से अस्पृश्यता का उच्चाटन करने का हिन्दू समाज का आह्वान करने वाला एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किया गया। जगद्गुरुओं के इस ऐतिहासिक आदेश में कहा गया है :

"अभेद्य एकता की भावना से सम्पूर्ण हिन्दू समाज सुसंघटित हो, उसका स्पृश्य-अस्पृश्य जैसी धारणाओं के कारण विघटन न हो, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण जगत के हिन्दुओं को परस्पर एकत्व तथा समानता की भावना से व्यवहार करना चाहिए।"

श्रीगुरुजी ने उडुपी के सम्मेलन में पारित प्रस्ताव को हिन्दू समाज के इतिहास की क्रान्तिकारी घटना बताया था। यह घटना शताब्दियों से चली आ रही एक समाज विघातक रुढ़ि पर धर्मभावना की विजय का शंखनाद करने वाली थी।

इसी ध्येय की सिद्धि के लिए अन्य मार्गों से किए जा रहे प्रयत्नों के विषय में श्री गुरुजी ने कहा, "लेकिन इस प्रकार के प्रस्ताव पर जोर-जबर्दस्ती से सहमति करा लेने से विपरीत परिणाम भी होते हैं। हमें विधायक और हृदय परिवर्तन के मार्ग से ही अपेक्षित परिणाम प्राप्त करने हैं।

श्रीगुरुजी के महानिर्वाण के पश्चात् उडुपी में नवम्बर, १९८५ में विश्व हिन्दू परिषद् के द्वारा आयोजित धर्म संसद के द्वितीय अधिवेशन में इस सम्बन्ध में विस्तृत मार्गदर्शन किया गया है।

कुछ वर्ष पूर्व समाचारपत्रों में एक खबर छपी थी कि एक प्रसिद्ध समाज सुधारक कुछ तथाकथित हरिजनों को साथ लेकर काशी विश्वनाथ मंदिर में जबरन प्रवेश करने आए थे। मन्दिर के पुजारियों के कड़े विरोध के कारण उनका मनोरथ सफल न हो सका। इस घटना के कुछ दिनों बाद मुझे काशी जाने का अवसर मिला। काशी विश्वनाथ मन्दिर के पुजारियों से मैंने पूछा, "आपने उन लोगों को मन्दिर में प्रवेश क्यों नहीं करने दिया" तो उन्होंने मुझे बताया कि "विश्वनाथ के दर्शन के लिए यहां प्रतिदिन हजारों लोग आते हैं। ये सभी भक्त गर्भगृह में भी प्रवेश करते हैं। पवित्र शिवलिंग को स्पर्श कर पूजा-अर्चना भी करते हैं। उनकी जाति-पंथ की हम कभी पूछताछ

नहीं करते। लेकिन ये नेता जी हरिजनों के हमदर्द बनकर उनके उद्धार के लिए आए थे। मानो इस धराधाम पर उनका अवतार केवल इसी कार्य के लिए हुआ है और हम सभी पुजारी मानो अपराधी हैं। इस प्रकार के घमंड से शोरगुल के साथ जब वे चढ़ाई करने आए, तो हमने इसे अपमान समझकर उन्हीं की भाषा में उत्तर दिया।"

हमारे अति उत्साही समाज सुधारक इस विषय में यही गलती कर बैठते हैं। इस प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए बल प्रयोग या समाज के विशिष्ट वर्ग की बदनामी तथा प्रचारतंत्र का उपयोग करने से विपरीत परिणाम निकलना अवश्यम्भावी है। अनेक बार तो रोग की तुलना में उसका उपचार ही भंयकर हो जाता है।

गांधी जी के द्वारा प्रवर्तित "हरिजन" शब्द के विषय में श्रीगुरुजी कहते हैं, "हमें समाज से अलग रखा गया है, इस प्रकार की भावना दूर करने के लिए "हरिजन" शब्द का बात-बात में प्रयोग करने का विपरीत परिणाम हो सकता है। एक बार गांधी जी के सम्मुख इस सम्बन्ध में मैंने अपनी आशंका प्रकट की थी। मैंने कहा था, "हरिजन" शब्द का अर्थ तो अच्छा है, लेकिन इस शब्द के अन्तर्गत एक ऐसे अलगाववादी गुट का निर्माण होगा, जिसे अपनी पृथकता बनाए रखने में निहित राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति दिखाई देगी और जो अपने समाज की एकता को चुनौती के रूप में खड़ा होगा। "लेकिन गांधी जी ने इस आशंका को निराधार बताया था। दुर्भाग्य से यह अन्तर बढ़ता ही जा रहा है और इस वर्ग ने राजनीतिक समीकरण में अपना स्थान बना लिया है।"

गुणवत्ता में हमारे तथाकथित अस्पृश्य क्या कभी किसी से पीछे हैं या कभी पीछे रहे हैं। श्रीगुरुजी इस सम्बन्ध में कहते हैं, "कुछ लोग यह कहते हैं कि तथाकथित अस्पृश्य वर्ग की बौद्धिक तथा मानसिक गुणवत्ता कम हुआ करती है। इस कारण दीर्घकाल तक वे शेष समाज की समता नहीं कर पाएंगे। यह उनका घोर अपमान ही नहीं, अपितु वस्तुस्थिति का विपर्यास भी है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि विगत हजार वर्षों से राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए जितने भी संग्राम हुए उनमें यह तथाकथित अस्पृश्य वर्ग हमेशा अग्रिम मोर्चे पर रहा है। राणा प्रताप, गुरु गोविन्द सिंह तथा शिवाजी की सेना में पराक्रमी योद्धाओं में इनकी गणना हुई है। शिवाजी महाराज ने दिल्ली तथा बीजापुर सल्तनत के विरुद्ध जो भी निर्णायक युद्ध किए उनमें इसी वर्ग के योद्धा अग्रिम पंक्ति में थे। अनेक युद्धों में इन्होंने नेतृत्व भी किया। केवल युद्ध क्षेत्र में ही नहीं आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अपने इन बंधुओं ने चमक दिखाई है। इस वर्ग में ऐसे अनेक साधु-संन्यासी हो गए हैं, जिन्हें सम्पूर्ण हिन्दू समाज श्रद्धा से देखता है।

अपने इन बंधुओं की स्वधर्म के प्रति निष्ठा भी धन्य है। धर्म के नाम पर सवर्ण लोगों द्वारा शताब्दियों से निरन्तर अत्याचार होते रहने पर भी स्वधर्म को त्यागकर विधर्मी बनाने का विचार उनके मन को तनिक भी स्पर्श नहीं कर सकता। देश विभाजन के बाद पूर्वी बंगाल से लाखों नाम शूद्र (अस्पृश्य) केवल इसलिए भारत आए ताकि वे यहां हिन्दू के रूप में रह सकें।

उडुपी सम्मेलन में पारित प्रस्ताव अथवा सम्मेलन के द्वारा दिए गए आदेश-पत्र शुभेच्छा से व्यवहार में आने वाले नहीं हैं। शताब्दियों से जो मानसिक ग्रंथियां पड़ चुकी हैं, उन्हें अथक

परिश्रम से खोलना होगा। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में प्रचार करना होगा। पारित प्रस्ताव परिस्थिति के दबाव के कारण नहीं, अपितु एक स्थायी सिद्धान्त, जीवन-पद्धति और अतीत की हमारी भूलों के परिमार्जन के रूप में विनम्र भाव से जीवन में चरितार्थ करने होंगे। इसके लिए जन-जन को प्रशिक्षित करना होगा। संक्षेप में कहें तो स्वयं का हृदय परिवर्तन करना होगा। आज तक उपेक्षित तथा पिछड़े वर्ग को आर्थिक तथा राजकीय क्षेत्र में विकास के लिए परिश्रम करके उन्हें समाज में बराबरी का स्थान प्राप्त कराना होगा। यद्यपि यह अत्यन्त प्रचण्ड कार्य है। राजकीय तथा आर्थिक समता का निर्माण अलगाव की भावना को यथावत बनाए रखकर भी हो सकता है। किन्तु यह टिकाऊ नहीं होगा। हमारा उद्देश्य सर्वांगीण समरसता का निर्माण करना ही होना चाहिए। हमारे प्रयासों का यही लक्ष्य है। राजनीतिक नेताओं की तिकड़मबाजी से एकात्मता का निर्माण असम्भव है। सतही प्रयत्नों से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अथक परिश्रम, नित्य के व्यवहार में उसके प्रकटीकरण, सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर इसके लिए कार्य करना होगा।

सामाजिक समरसता की सिद्धि के लिए श्रीगुरुजी ने कुछ कार्यक्रम भी सुझाए हैं जिनमें भजन-कीर्तन, पर्व-त्योहार, रामायण-महाभारत की कथा का समावेश है। भक्तिभाव में सराबोर होकर स्पृश्यास्पृश्यादि भेदों को विसर्जित कर समान बन्धुत्व के भाव से इन कार्यक्रमों में सभी बन्धओं को भाग लेना चाहिए। इसकेसाथ-साथ साक्षरता प्रसार, स्वास्थ्य सेवा तथा खेलकूद के कार्यक्रम भी करने चाहिएं। ऐसे कार्यक्रमों में जहां सम्भव हो, दृश्य और श्रव्य उपकरणों का भी प्रयोग करना चाहिए। परस्पर की हृदयतंत्रियों को जोड़ना और एकरस जीवन का निर्माण करना ही, हमारे सारे प्रयासों का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए।

संघ में यह कार्य सहज रूप में सम्भव और सम्पन्न होता है। इसका विशद विवेचन करते हुए श्रीगुरुजी कहते हैं, "संघ इस सूत्र को व्यवहार में लाने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ता। इसी कारण जात-पात, पंथ, भाषा आदि के कारण निर्मित होने वाले भेदों का संघ में कोई अस्तित्व ही नहीं है। संघ में समाज के विभिन्न स्तरों से आने वाले हजारों स्वयंसेवक एकत्र होकर खाना, खेलना, गाना आदि के कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। लेकिन अपने साथी की जाति, पंथ आदि जानने की इच्छा उन्हें कभी नहीं होती। "आप हिन्दू हैं, इतना ही हमारे लिए पर्याप्त है"—संघ के स्वयंसेवकों की यह मानसिकता ही संघ के अभूतपूर्व यश का रहस्य है।"

तथाकथित अस्पृश्य जैसे वनवासी समाज तथा घुमन्तू जनजातियों के प्रति आत्मीयता भी हिन्दुत्व निष्ठा का स्वाभाविक आविष्कार है। इस सम्बन्ध में श्रीगुरुजी ने कहा है, "सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने वाले अधिकांश कार्यकर्ता प्रतिकूल परिस्थिति के लिए अन्य लोगों पर दोष थोपकर अपना समाधान कर लेते हैं। इसके लिए कुछ लोग विद्यमान राजकीय विकृतियों को दोष देते हैं और अन्य कुछ लोग क्रिश्चियन, मुस्लिम तथा अन्य मतावलम्बियों की आक्रामक गतिविधियों को इसके लिए जिम्मेदार बताते हैं। किन्तु हमारे कार्यकर्ताओं को इन प्रवृत्तियों से मुक्त रहकर अपने धर्म तथा समाज के लिए शुद्ध भाव से कार्य करते रहना है। जिन्हें सहायता

की अपेक्षा होगी उनके लिए हमारा हाथ आगे रहेगा और जो संकटग्रस्त होंगे उनके संकट निवारणार्थ हम दौड़कर जाएंगे। सेवा के इस कार्य में मानव मात्र में हम अभेद दृष्टि रखें। हमें तो सबकी सेवा करनी है। फिर भले ही वह क्रिश्चियन या मुस्लिम क्यों न हो। संकट सबके लिए ही दुःखदायी होते हैं। दुःखी मानवता की सेवा का कार्य हमें दया अथवा उपकारकर्ता की भूमिका से नहीं, वरन प्राणिमात्र के हृदय में अधिष्ठित प्रभु की सेवा में सर्वस्वार्पण की भावना से अर्थात् अपने धर्म की शिक्षा के अनुसार **"त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च च सखा त्वमेव", "करोमि यद् यद् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि"** की ईश्वरार्पण बुद्धि से ही करना है। अपने इस प्रकार के कार्य से सनातन धर्म की गौरव गाथा तथा उसका उज्ज्वल प्रकाश दिग्दिगन्त में अवश्य फैलेगा।

संघ स्थापना के शुभ मुहूर्त से आज तक सम्पूर्ण समाज के प्रति आत्मीयता ही स्वयंसेवकों के पुरुषार्थ को प्रकट करने के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में रही है। इस समरसता के माध्यम से ही सामाजिक समता का सहज आविष्कार होता है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव संघ क्षेत्र में सभी को प्राप्त होता है।

९. स्वयंपूर्ण कार्यपद्धति

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का ध्येय "परम् वैभवम् नेतुमेतत्स्वराष्ट्रं" अर्थात् राष्ट्र को परम वैभव की ओर ले जाना है। इसे ध्येय सिद्धि की शर्त इस नाते कहा गया, "विधायस्य धर्मस्य संरक्षणम्"— अर्थात् धर्म की रक्षा हो, और धर्म की रक्षा का आधार है "विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः" अर्थात् संगठित विजयशालिनी कार्यशक्ति। सम्पूर्ण समाज का संगठन इसका आधार है। इसी आधार पर धर्म की रक्षा होगी और इसके फलस्वरूप राष्ट्र को परम वैभव प्राप्त होगा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विशेषता यह है कि केवल ध्येय सामने रखकर ही वह संतुष्ट नहीं हुआ, ध्येय की ओर ले जाने वाला रास्ता भी दिखाया है। ध्येय के अनुरूप अपनी कार्यपद्धति का भी निर्माण किया है। अपने सुदीर्घ अनुभव के आधार पर इस कार्यपद्धति के विषय में हम ऐसा कह सकते हैं कि यदि सम्पूर्ण हिन्दू समाज को संगठित करने की दृष्टि से कोई एक मात्र, उपर्युक्त और प्रभावी कार्यपद्धति है तो वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ही कार्यपद्धति है, कोई दूसरी नहीं।

देश में तरह-तरह की संस्थाएं चलती हैं। किन्तु शायद ही कोई ऐसी संस्था होगी जिसकी कार्यपद्धति इतनी रूखी, इतनी कठिन और इतनी धीरज वाली हो। इसमें कोई "रोमांटिक" बात भी नहीं है। इसमें केवल काम ही करना है और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में बीच-बीच में तरह-तरह के सुझाव भी आते रहते हैं कि संघ के कार्यक्रमों को जरा आकर्षक बनाना चाहिए, यह करना चाहिए, वह करना चाहिए। किन्तु ऐसा मालूम होता है, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेतागण "रोमांटिक" नहीं हैं। शायद इसी कारण इन आकर्षक सुझावों को वे स्वीकार नहीं करते। उनका आग्रह रहता है कि कार्यक्रम केवल आकर्षक नहीं, उपयुक्त संस्कार अंकित करने वाले होने चाहिएं। कार्यपद्धति के विषय में संघ का यह निष्कर्ष है कि यही एक मात्र रास्ता है जो हमें "विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः" की ओर पहुंचा सकता है।

हमारा विश्वास है कि समाज संगठन का अपना ध्येय प्राप्त करने की दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है। यह स्वयंपूर्ण है, इसके दो अर्थ हैं। पहला, यदि हम इस कार्यपद्धति से काम करते हैं तो संघ का ध्येय सिद्ध करने के लिए दूसरी किसी भी पूरक कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं, और किसी भी कारण यदि हम इस कार्यपद्धति को छोड़ देते हैं तो दूसरी कोई

वैकल्पिक कार्यपद्धति ऐसी नहीं हो सकती जो हमें वहां पहुंचा सके जहां राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हमें पहुंचाना चाहता है। दोनों अर्थों में, अर्थात् इसको लेकर चलते हैं तो फिर पूरक कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं है और इसको छोड़कर चलते हैं तो फिर ऐसी कोई वैकल्पिक कार्यपद्धति हो नहीं सकती जो हमारा उद्देश्य सिद्ध कर सकती हो।

अलग-अलग कार्यपद्धतियों को देखकर लोगों के मन में मोह होना स्वाभाविक है कि भाई इतना लम्बा रास्ता किसलिए लिया है, जरा छोटा रास्ता ले लेते। ऐसी बात नहीं है कि छोटा रास्ता नहीं लिया जा सकता। लेकिन छोटे रास्ते से ध्येय सिद्ध नहीं होगा। यदि हमने यह सोचा है कि ऐसा भवन बनाना है जो मैसूर के महाराजा के राजभवन जैसा हो तो हमें करो ड़ों रुपए लगाने होंगे, वर्षों तक काम करना प ड़ेगा, हजारों मजदूर और कारीगरों को काम पर लगाना पड़ेगा । और आप यदि कहेंगे कि हम करोड़ों रुपए खर्च करने और हजारों मजदूरों को काम पर लगाने के लिए तैयार नहीं, हमें तो दो मिनट में राजमहल बना दो, तो दो मिनट में राजमहल बन नहीं सकता, ऐसा नहीं। दो मिनट में भी महल बन सकता है। उदाहरणार्थ, एक लड़के को बाहर भेज दो। ताश मंगवा लो। दो-तीन रुपए में ताश आ जाएगी। दो मिनट में ताश का महल खड़ा हो जाएगा। आपको कम खर्च में काम करना है यह भी हो सकता है। लेकिन इतना ही है कि दो रुपए में और दो मिनट में मैसूर के महाराजा का महल नहीं, ताश का महल ही बन सकता है। और जैसे ही हवा का झकोरा आएगा यह महल उड़ जाएगा। वह मैसूर के महाराजा के महल की तरह मजबूत नहीं होगा। ये बातें एक साथ नहीं चल सकतीं कि महल होना चाहिए, दो रुपए में होना चाहिए, और मजबूत भी होना चाहिए। हरेक वस्तु की अपनी कीमत होती है। यदि उसे प्राप्त करना है तो उसकी वह कीमत चुकानी ही पड़ेगी। कम से कम घास खाने और कामधेनु के समान विपुल मात्रा में दूध देने वाली गाय किसी भी चतुराई से प्राप्त नहीं की जा सकती।

यदि कोई यह कहे कि यह ट्रेन बहुत अधिक समय लेती है। हमें थोड़ा समय लेने वाली ट्रेन में बैठा दो तो उसे वैसी ट्रेन में बैठाया जा सकता है। लेकिन फिर वह गंतव्य स्थान पर नहीं पहुंचेगी। बीच में किसी छोटे स्टेशन पर उसका प्रवास समाप्त हो जाएगा। गंतव्य स्थान पर पहुंचना है तो वही ट्रेन पकड़नी पड़ेगी जो वहां जाती है, छोटे रास्ते और शार्टकट की चाह हर समय अच्छी नहीं होती। मुगल सराय का रेलवे यार्ड बहुत प्रसिद्ध है। इस रेलवे यार्ड में हमेशा शंटिंग चलती रहती है। पुल भी है। फिर भी लोग छोटा रास्ता ढूंढ़ते हैं। पुल पर से जाने के लिए ऊपर चढ़ना होगा, नीचे उतरना पड़ेगा, समाय जाएगा, पैरों को तकलीफ होगी, इसलिए जो सीधे रेलवे लाइन पार करना चाहते हैं, उनके कारण दुर्घटनाएं होती हैं। रेलवे ने वहां एक साइन बोर्ड लगा रखा है जिस पर लिखा है "बड़े काम के लिए छोटा रास्ता नहीं हो सकता।" अपने शास्त्रों के कहे गए इस प्राचीन वाक्य में "एषः पन्था, नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" के अनुसार संघ की यह कार्यपद्धति ही हमें ध्येय तक पहुंचायेगी, इस श्रद्धा के साथ काम करना है।

इस कार्यपद्धति की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। दिन-प्रतिदिन एकत्रीकरण उसका केन्द्र बिन्दु है। चाहे शिविर के रूप में हो, चाहे वन विहार के रूप में हो या अन्य कार्यक्रम, बार-बार एकत्रित आना इसकी विशेषता है।

संघ कार्य की वृद्धि का भी अपना एक अनोखा तरीका है। यह तरीका प्रचार का नहीं, व्यक्तिगत संपर्क का है। आजकल की इस विधा पर संघ का विश्वास नहीं है कि समाचारपत्र में प्रचार कर दो, उससे सब कुछ हो जाएगा। लोग संघ को दोष देते हैं कि "लम्बा रास्ता क्यों चुना? संघ वालों के पास दिमाग नहीं है! कल्पना शक्ति जाग्रत नहीं है!" वे सलाह देते हैं कि "समाचार पत्र का उपयोग करो, आकाशवाणी का उपयोग करो, दूरदर्शन का उपयोग करो, धुआंधार प्रचार करो, इससे सब कुछ हो जाएगा। इसके लिए हर दिन शाखा पर आने, निकर पहनने, जाड़े के दिनों में कम्बल छोड़कर बाहर आने की जरूरत क्या है? अखबार, दूरदर्शन, रेडियो से राष्ट्र का काम हो जाएगा।

ऐसा नहीं है कि प्रचार का अपना उपयोग नहीं है। प्रचार का उपयोग मात्र मत परिवर्तन करने में है। बौद्धिक स्तर पर मत परिवर्तन ही उसका एक मात्र परिणाम है। किन्तु प्रचार के द्वारा हृदय में परिवर्तन, मन में परिवर्तन, आत्मा में परिवर्तन नहीं हो सकता। मान लीजिए, हमने ब्रह्मचारी क्लब शुरू किया और उसका ध्येय इतना ही रखा कि हिन्दुस्थान के सब लोगों को यह बात जंचाना है कि ब्रह्मचर्य का पालन अच्छा है, ब्रह्मचर्य को छोड़ना खराब बात है। मात्र बौद्धिक स्तर पर लोगों का मत परिवर्तन करने का उद्देश्य रखा तो हम ब्रह्मचर्य के पक्ष में धुआंधार प्रचार कर सकते हैं। समाचारपत्र, रेडियो, दूरदर्शन से जनता का मत परिवर्तन हो सकता है और कल यदि जनमत संग्रह हुआ तो जो लोग ब्रह्मचर्य के पक्ष में हैं उन्हें विशाल बहुमत भी मिल सकता है। लेकिन यदि कोई कहेगा कि इस धुआंधार प्रचार के फलस्वरूप देश में ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों की संख्या बढ़ेगी तो यह भ्रम है, भ्रान्ति है। प्रचार से ब्रह्मचर्य पालन करने वाले लोगों की संख्या नहीं, ब्रह्मचर्य के पक्ष में वोट करने वालों की संख्या बढ़ सकती है। ब्रह्मचर्य का पालन कराने के कुछ और माध्यम हैं। इसी प्रकार मतदाता बनाना अलग बात है, स्वयंसेवक बनाना एक अलग बात है। मतदाता और स्वयंसेवक में अन्तर समझ लेना चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन करना अच्छा है, जो इसके समर्थन में मतपेटी में वोट डालता है वह मतदाता है, और जो स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है, वह स्वयंसेवक है। यदि उदाहरण देकर बताना हो तो यह कहा जा सकता है कि सच बोलना चाहिए, अच्छा व्यवहार करना चाहिए, सम्पूर्ण विश्व को अपना मानना चाहिए, जिसका यह मत है वह वोटर है। परन्तु जिसका ऐसा व्यवहार है और जो उसके लिए आत्मबलिदान करने के लिए तैयार है वह स्वयंसेवक है। मत और जानकारी, वोट और अनुभूति में बहुत अन्तर है। यह केवल प्रचार के द्वारा होने वाला काम नहीं है। इसके लिए दिन-प्रति-दिन हृदय पर संस्कार अंकित करने की आवश्यकता है। जिस वायुमण्डल में यह संस्कार अंकित होते हैं, उस वायुमण्डल में हर एक को एक घंटा रहने की आवश्यकता है। लोगों को उस वायुमण्डल में ले जाने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से अपने विस्तार का माध्यम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने प्रचार को नहीं, एक-एक आदमी के साथ सम्पर्क, एक-एक आदमी के साथ हृदय से बातचीत को माना है, अपने एक संघ-गीत में भी कहा गया "सम्पर्क अमृत को पिलाने।" हमारे विस्तार का माध्यम है सम्पर्क। हम जितना अधिक सम्पर्क करेंगे, और जितना अच्छा सम्पर्क करेंगे, उतना

ही अधिक हमारा विस्तार होगा, और अच्छा होगा। इसके लिए हमारे स्वयंसेवकों के मन में, उनकी दृष्टि में, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आने की आवश्यकता है। संघ के संस्कार हृदय में अंकित होने की आवश्यकता तो है ही, लेकिन यह होने के बाद भी स्वयंसेवक की दृष्टि में यदि संघ न रहा तो अपने चौबीस घंटे का उपयोग वह संघ के लिए नहीं कर सकता।

संघ कार्य के विस्तार का माध्यम सम्पर्क है। स्वयंसेवकों का सम्पर्क अलग-अलग लोगों से आता है। जो विद्यार्थी हैं, उनका स्कूल-कालेज में प्रोफेसर और विद्यार्थियों से, दुकानदारों का अपने ग्राहकों से, वकीलों का अपने मुवक्किलों से, डाक्टरों का अपने मरीजों से सम्पर्क आता है। फैक्टरी मजदूरों का अपने बाकी के मजदूरों और प्रबन्धकों के साथ सम्पर्क आता है। जिसका जो जीविकोपार्जन का साधन है, मुख्य काम है, उससे सम्बन्धित लोगों के साथ उसका सम्पर्क आता है। अब हमें यह ख्याल में रखना है कि निजी और समाज जीवन में जो सम्पर्क है उसे संघ के लिए उपयोग में लाना है। कोई भी कार्य सोद्देश्य और उपयुक्त सम्पर्क के माध्यम से ही होता है। हर एक काम का उपयोग संघ के लिए करने की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पुरानी पद्धति है। संघ संस्थापक डाक्टरजी के जीवन चरित्र में यह लिखा है कि संघ की स्थापना के पश्चात भी डाक्टरजी ने कई कार्यों में हिस्सा लिया। भागानगर (हैदराबाद) सत्याग्रह में अपने स्वयंसेवकों को व्यक्तिगत हैसियत में भेजा, और भी कई आन्दोलनों में हिस्सा लिया, भागलपुर के हिन्दू महासभा के अधिवेशन के समय जो सत्याग्रह हुआ उसमें हिस्सा लिया। यह सब करते समय संघ के कार्यकर्ताओं के सामने यह प्रश्न सर्वप्रमुख नहीं था कि कांग्रेस का क्या होगा, या हिन्दू सभा का क्या होगा। भागानगर सत्याग्रह के समय भैयाजी दाणी प्रमुख थे और भागलपुर में हिन्दू महासभा के सत्याग्रह का नेतृत्व नागपुर के प्रान्त संघचालक बाबासाहब घटाटे ने किया था स्वयं डाक्टरजी यवतमाल के जंगल में सत्याग्रह में जेल गए थे। वे अकोला जेल में थे। हम सब लोगों ने उनके जीवन चरित्र में पढ़ा है कि जहां-जहां हम जाएंगे, जेल में रहेंगे तो भी वहां अच्छे-अच्छे, स्वार्थ त्यागी लोगों के साथ सम्पर्क आएगा। अपने सम्पर्क के माध्यम से हम उनको संघ की ओर आकृष्ट कर सकेंगे, और जेल में से बाहर आने के बाद जहां-जहां वे लोग फैले हैं, वहां जाकर हम शाखाएं शुरू कर सकेंगे, यह हिसाब-किताब मन में रखते हुए ही उनकी जेल-यात्रा हुई और अलग-अलग आन्दोलनों में हिस्सा लिया गया।

हम चौबीस घंटे कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। खासकर जीविकोपार्जन के लिए तो कुछ करना ही पड़ता है। शौक के नाते भी हम कुछ काम करते है। इसमें लोगों से सम्पर्क आता है। लेकिन सवाल यह है कि इस सम्पर्क का उपयोग हम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लिए करते हैं क्या? या हमने अपने मन में वर्गीकरण किया है? जैसे ईसाई लोगों के बारे में मजाक में कहते हैं कि रविवार का दिन सुबह मजहब के लिए, बाकी दिन मजहब छोड़कर बाकी धंधों के लिए। इस प्रकार हमने भी क्या यह सोचा है कि एक घंटा संघ के लिए, बाकी तेईस घंटा संघेतर कार्य के लिए। ध्यान रहे, संघ में इस प्रकार का विभाजन नहीं है कि एक घंटा संघ को दे दिया और शेष समय संघ को भूल जाना। स्वर्गीय बाबा साहब आपटे ऐसा कहते थे कि हम एक घंटा संघ स्थान पर आते

हैं। यह एक घंटा बाकी के तेईस घंटों में हमने संघ काम कितना किया है उसका मापदण्ड है। अतएव हमारा संघ चिन्तन चौबीस घंटे का होना चाहिए। संघ हमारी "दृष्टि" में आना चाहिए। आप कहेंगे, यह "दृष्टि में आना" कुछ समझ में नहीं आ रहा है। गंभीरता से विचार करेंगे तो समझ में आ सकता है। आप कल्पना कीजिए कि रास्ते के किनारे फुटपाथ पर दो कारीगर बैठे हैं। एक कारीगर है नाई, और दूसरा मोची। मोची और नाई तरह-तरह के हो सकते हैं। लेकिन आदर्श मोची कौन-सा है? रास्ते पर सैकड़ों लोगों का आना-जाना होता है। किन्तु आदर्श मोची यह नहीं बता सकेगा कि किस शक्ल का आदमी कौन-सा सूट पहनकर उसके सामने से गया। वह केवल यह बता सकेगा कि किस आदमी का बूट फटा हुआ था और किसकी चप्पल दुरुस्त करने की आवश्यकता थी। और आदर्श नाई यह सकेगा कि उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी या नहीं, उसने कंघी की थी या नहीं। वह गोरा था या काला था। आदर्श मोची यह नहीं बता सकेगा कि उसके वस्त्र कैसे थे, और आदर्श नाई यह नहीं बता सकेगा कि उसने बाटा का जूता पहना था या फटी हुई चप्पल थी, या वह नंगे पैर था। वह केवल यह बता सकेगा कि उसको दाढ़ी बनवाने की आवश्यकता थी या नहीं, बाल काटने की आवश्यकता थी या नहीं। उसके बाल सफेद थे या काले थे। आदर्श नाई के ख्याल में, उसकी दृष्टि में, उसका धंधा आता है। मोची का सारा ध्यान पैर पर केन्द्रित रहता है। नाई का सारा मनोयोग सूरत-शक्ल पर रहता है। जिस प्रकार उनकी दृष्टि में सदा उनका धंधा ही आता है, उसी प्रकार स्वयंसेवक की दृष्टि में स्वयंसेवकत्व और संघ आना चाहिए। हर चीज की ओर संघ दृष्टि से देखना और इस दृष्टि में जहां-जहां हम खड़े हैं, वहां-वहां सम्पर्क बढ़ाना संघ कार्य के विस्तार का माध्यम है। इस नाते हमें इसका विचार करना चाहिए कि हम जहां कहीं काम करते हैं, और जो-जो लोग हमारे सम्पर्क में आते है, उनको सम्पर्क करते हुए संघ का प्रभाव और आकर्षण उनके मन में कैसे बढ़ा सकते है। यह कार्य हरेक स्वयंसेवक थोड़ा बहुत करता ही है। किन्तु इसे जरा ज्यादा एकाग्रचित होकर करने की आवश्यक्ता है। समझ-बूझकर करने की आवश्यकता है। आज हम यह कार्य ज्यादा समझकर और सचेत होकर नहीं कर रहे हैं तो भी अच्छे परिणाम निकल रहे हैं, ज्यादा समझ-बूझकर करेंगे तो और अधिक अच्छे परिणाम निकल सकते हैं। इसी सम्पर्क माध्यम से, संघ कार्य के लिए पूरक आनुषंगिक कार्य इस नाते नहीं, क्योंकि संघ कार्य के लिए किसी पूरक कार्य की आवश्यकता नहीं, संघ कार्य स्वयं पूर्ण है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्वयंसेवक स्वाभाविक रूप से यदि सम्पर्क का प्रयास करते हैं तो कार्य क्षेत्र अनेक हों, स्वयंसेवक बहुत हों और सम्पर्क के लिए सबका प्रयास चल रहा हो तो उन प्रयासों में भी कुछ एकरूपता आनी स्वाभाविक है। जैसे-जैसे स्वयंसेवकों की संख्या बढ़ती है, सम्पर्क का प्रयास बढ़ता है तो वैसे-वैसे विभिन्न कार्य क्षेत्रों में स्वाभाविक रूप से कुछ संगठित कार्य का भी उदय और विकास हुआ, यह सम्पर्क का एक आनुषंगिक फल है।

संगठित प्रयासों को जनसंगठन कहा जाता है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में सम्पर्क कर रहे लोगों में तालमेल लाने की स्वाभाविक इच्छा और उसके फलस्वरूप संगठित प्रयास एक दृश्य परिणाम जनसंगठन के रूप में दिखाई देता है। अनेक जनसंगठनों में संघ के स्वयंसेवक काम कर रहे हैं।

विभिन्न क्षेत्रों में सम्पर्क के माध्यम का महत्व है और इस दृष्टि से वह कार्य ठीक-ठाक ढंग से करने की आवश्यकता है। हम अतिरेक पर न जाएं, दोनों तरफ से यह सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। जनसंगठन संघ के स्वयंसेवकों के माध्यम से ही शुरू हुआ हो, ऐसी बात नहीं। पहले से भी कुछ जनसंगठन चलते आए हैं। उनकी कार्य करने की अपनी अलग पद्धति भी है। संघ के स्वयंसेवक भी उन जनसंगठनों में भी कार्य कर रहे हैं और अपने जनसंगठन भी चला रहे हैं। किन्तु यह सब करते समय यदि हम मूल बात को भूल जाएंगे तो फिर ऐसा होगा जैसे एक छोटा बच्चा मां की गोद में बैठा हुआ होता है और जब वह देखता है कि कोई अच्छी लाल रंग की गेंद आंगन में पड़ी है तो अच्छे चमकदार रंग पर आकृष्ट होता है। वह मां को कहता है, मां! मैं यह गेंद लेकर आता हूं। 'मां' की गोद से उतरकर वह आंगन में जाता है। गेंद हाथ में लेता है तो उसको लगता है कि उसके साथ खेलना चाहिए। वह उसके साथ खेलने लगता है और उस खेल में वह इतना रम जाता है कि मां के पास जाना भूल जाता है । उसे मां का ध्यान ही नहीं रहता कि वह उसकी राह देख रही है। वह भूल जाता है कि मां के पास जाना उसका कर्तव्य है। बच्चे के लिए तो यह बात ठीक है, किन्तु हम लोगों के लिए यह बात ठीक नहीं है। हमें आंगन में जाना है, गेंद को उठाना भी है, उससे खेलना भी है, वह आकर्षक है तो भी उसको लेकर फिर से मां की गोद में आकर बैठना है। ऐसा यदि न हुआ तो उस बच्चे और हममें कोई अन्तर नहीं रहेगा। जनसंगठनों में जहां-जहां संघ के स्वयंसेवक काम कर रहे हैं, वहां एक सतर्कता यह रखने की आवश्यकता है कि हम स्वयं अपने सिद्धान्त का प्रभाव निर्माण कर सकेंगे।

अच्छा स्वयंसेवक बनने के लिए,दिन-प्रतिदिन शाखा पर उपस्थिति अपरिहार्य है, अनिवार्य है। कई लोगों के अंदर बहाना बनाने की प्रवृत्ति आ जाती है। वे कहते हैं कि देखिए, आपको पता ही नहीं। यदि पता होता तो नित्य शाखा में आने के लिए न कहते। अब हमारा मजदूर क्षेत्र है, मैं भी कह सकता हूं कि आपको क्या पता है, आप तो केवल दक्ष-आरम कर रहे हैं। आपको मालूम ही नहीं है कि दुनिया कहां जा रही है। हमको तो रात-रात भर बैठकर सारे हिन्दुस्तान के मजदूरों की फिक्र करनी पड़ती है, हम कैसे प्रभात शाखा में आ सकते हैं? पूरे देश की फिक्र करें या तुम्हारी शाखा की फिक्र करें? लेकिन यह कहते समय मैं भूल जाता हूं कि क्या मैं अकेला काम करने वाला हूं? क्या जो किसी जनसंगठन में नहीं है, केवल अपनी दुकान चलाना ही जिसका काम है, उसको रात में जागरण नहीं करना पड़ता? अपनी दुकान के बारे में सोचना नहीं पड़ता? कौन-सा माल मंगवाना है, कहां से धन लाना है, किस बैंक में पहुंचना है, अपने ग्राहक कैसे बढ़ाने हैं, विज्ञापन देना है या नहीं देना, आदि बातें क्या उसको अपने कारोबार के बारे में सोचनी नहीं पड़तीं? क्या उसका रात्रि जागरण नहीं होता है? काम छोटा हो या बड़ा , यदि ईमानदारी से किया जाय तो हर कार्य का भार समान होता है। फिर चाहे निजी जीवन में हो या सार्वजनिक जीवन में हो, कार्य के भार में कोई अन्तर नही पड़ता। कार्य का प्रकार और नमूना अलग होगा, किन्तु कार्यभार की दृष्टि से देखा जाए तो कोई छोटा नहीं है, कोई बड़ा नहीं है, सब समान है। हाई स्कूल में "पहाड़ और गिलहरी" की एक कविता पढ़ी थी। जिसमें पहाड़ गिलहरी से कहता है कि

"अरे, तुम तो छोटी हो, देखो, हम पहाड़ कितने बड़े और फैले हुए हैं।" तो वह कहती है, "ठीक है, तुम तो बहुत बड़े हो और मैं छोटी हूं।" यह भी ठीक है कि मैं तुम्हारे समान अपनी पीठ पर जंगल नहीं उगा सकती, लेकिन मेरे समान तुम भी अखरोट नहीं तोड़ सकते। मेरी अपनी विशेषता है, तुम्हारी अपनी" प्रश्न दायित्व-बोध का है। छोटा दुकानदार भी उतना ही काम करता है और बड़ा सेठ साहूकार भी उतना ही काम करता है। हमारा छोटा गटनायक भी चौबीस घंटा काम करता है, और सबसे श्रेष्ठ अधिकारी भी चौबीस घंटा काम करता हैं। यदि प्रामणिकता और आंतरिकता समान है तो कार्य के प्रकार में अन्तर होते हुए भी कार्य का भार और दायित्व-बोध समान होता है। हम जनसंगठनों में हैं इसलिए हमने यह कहना कि साहब हमारी तो बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, आपको पता ही नहीं है। अरे भाई, उन्हें भारतीय मजदूर संघ के काम का पता नहीं, तो तुमको दुकानदारी का पता नहीं। उनको यूनियन चलाने को दिया तो वह यूनियन नहीं चला सकते और तुमको दुकान चलाने के लिए बताया तो तुम दुकान खत्म कर दोगे। अलग-अलग आदमी का अलग-अलग काम हो सकता है। लेकिन बहानेबाजी करते हुए, हम स्वयं को धोखा देने की कोशिश न करें। प्रतिदिन संघ स्थान पर जाना है, यह आग्रह हमें रखना चाहिए। आग्रह न रखा तो कार्य नहीं होगा। बहानेबाजी से काम का नाश होगा। उसी के साथ यह दूसरी बात भी समझनी चाहिए कि संघ कार्य एक परिवार के रूप में है। हमें स्वाभाविक रूप से ऐसा लगता है कि हम काम कर रहे हैं, सम्पर्क भी बढ़ रहा है तो जरा हमें सहायता करने के लिए संघ की ओर से यहां और ज्यादा स्वयंसेवक भेजे जाने चाहिएं। यह बात तो अच्छी है, लेकिन काम करते समय हमारी यह भी दृष्टि में होना चाहिए कि यह दोतरफा रास्ता हो, एकतरफा रास्ता नहीं कि संघ से तो व्यक्ति आ रहे हैं, लेकिन यहां से लौटकर कोई वापस जा नहीं रहा। अर्थात् विनियोजन होना चाहिए, व्यर्थ नहीं होना चाहिए। विनियोजन के अनुपात में मातृसंगठन को लाभांश मिलना चाहिए। केवल लेना ही लेना है और देने की बात नहीं, इस तरह का विचार नहीं होना चाहिए। यह सतर्कता रखी जाएगी तो कार्य में संतुलन रहेगा। संतुलन तभी ध्यान में रह सकता है जब आदमी स्वयं अपने को संभालता है। यह इस बात पर अवलम्बित है कि वहां काम करने वाले हमारे स्वयंसेवकों की मनोवृत्ति क्या है? हमारी ठीक मनोवृत्ति रही तो हम हर जनसंगठन का उपयोग संघ के लिए सम्पर्क का क्षेत्र बढ़ाने में कर सकते हैं। मनोवृत्ति ठीक न रही तो शायद हमारा अन्य क्षेत्रों में काम करना संघ के लिए बहुत बड़े घाटे के रूप में भी हो सकता है। इस विषय में मेरे स्मरण में दो उदाहरण आते हैं। सम्पर्क का माध्म इस नाते जो लोग विभिन्न क्षेत्रों में है और जो संगठित सामूहिक प्रयास कर रहे है, उन्हीं का एक दृश्य स्वरूप अर्थात् जनसंगठन भी कई क्षेत्रों में खड़ा हुआ, लेकिन वहां काम करने वाले हमारे स्वयंसेवक बंधुओं की मनोवृत्ति कैसी रहनी चाहिए और कैसी हो सकती है, दोनों उदाहरण मेरे सामने हैं। मैंने बचपन में एक फिल्म देखी थी। उसका नाम था 'माया मछिन्दर'। मछिन्दर नाथ जी शंकर जी के शिष्य और गोरखनाथ जी के गुरु थे। भिक्षा मांगते-मांगते वे स्त्री राज्य में चले गए। रानी के यहां भिक्षा मांगने गए तो वह उनका रूप देखकर आसक्त हो गई। कहा कि तुम यहीं ठहरो। मछिन्दरनाथ ने कहा, "नहीं, यह स्त्री राज्य है। मैं योगिराज हूं। मैं यहां नहीं

ठहरूंगा।" वह चालाक थी। कहा—"अच्छा, तुम डरते हो। तुमको खुद के ऊपर भरोसा नहीं है कि तुम स्त्रियों के साथ रहोगे तो तुम्हारा अधःपतन, स्खलन होगा।" उन्होंने कहा, "नहीं" "नहीं", मुझे अपने ऊपर पूरा भरोसा है। मैं तो योगियों का राजा हूं। मेरा क्या स्खलन हो सकता है। तो रानी ने कहा, "फिर ठहरो यहां!" बोले— अच्छा मैं ठहरता हूं।" रानी की चुनौती स्वीकार की। लेकिन कहते हैं, वहां ठहरने के बाद धीरे-धीरे वहां की सुख-सुविधाओं और विशेष प्रतिष्ठा के शिकार हो गए। कोई आदमी कहता है कि मैं बहुत ध्येयनिष्ठ हूं, आदर्शवदी हूं। आकर्षक वायुमण्डल में रहने के बाद भी मेरा अधःपतन नहीं हो सकता किन्तु यह कहते-कहते धीरे-धीरे परिणाम होता है। मछिन्दर नाथ पर भी परिणाम हुआ और उन्होंने वहां से बाहर जाने की इच्छा त्याग दी। उनके शिष्य गोरखनाथ बड़ी चिंता में थे कि हमारे गुरु महाराज गए कहां? खोज करते-करते उस शहर में आए। वहां अपने गुरु महाराज के बारे में बताया तो लोगों ने कहा, "अरे, वह काहे का संन्यासी, वह तो महान ढोंगी है। रानी के साथ रहता है। विलास कर रहा है।" यह सुनकर गोरखनाथ को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सोचा कि उनके पास जाएंगे, मुलाकात करेंगे। लोगों ने कहा कि "मुलाकात नहीं कर सकते। वहां अनके प्रकार की बाधाएं हैं। आप सीधे नहीं जा सकेंगे।" ऐसी स्थिति में भिखारी के रूप में गोरखनाथ और उनके साथी वहां पहुंचे तो देखा कि मच्छिन्दर नाथ बगीचे में रानी के साथ झूला झूल रहे थे। उस भिखारी दल ने अपनी ढोलक बजानी शुरू की। मछिन्दर नाथ योगी पुरुष तो थे ही, उन्होंने जो कुछ सुना वह बहुत ही विचित्र था। ढोलक से रानी को तो ढुम ढुम ढुम ढुम की आवाज सुनाई देती थी, लेकिन मछिन्दरनाथ को सुनाई देता था कि "जलो मछिन्दर गोरख आया, चलो मछिन्दर गोरख आया।" उन्होंने भिखारियों की ओर देखा और यह बोल सुने कि "चलो मछिन्दर गोरख आया" तो घबड़ा गए। सोचा, "मेरा गटनायक यहां भी छोड़ने को तैयार नहीं है। मैं तो सबको जालकर यहां आया था, लेकिन मेरा पीछा करता हुआ वह यहां तक आ पहुंचा और फिर कहते हैं कि मछिन्दर नाथ रात के समय वहां से भाग गए। इससे अपना मात्र इतना सम्बन्ध है कि मैं अच्छा हूं। मैं अच्छा स्वयंसेवक हूं। क्या मेरा स्खलन हो सकता है? ऐसा कहते-कहते हम स्वयं अपने बारे में सतर्क नहीं रहे तो हमारा भी माया मछिन्दर हो सकता है और सतर्क रहे तो दूसरा भी हो सकता है। उसका भी दूसरा उदारहण है देवासुर संग्राम का। देवासुर संग्राम चल रहा था। देवासुर संग्राम के समय शल्य क्रिया की विद्या असुरों के गुरु शुक्राचार्य के पास थी। देवताओं ने सोचा कि उनसे वह विद्या सीखने के लिए किसी को भेजा जाए तो वृहस्पति के पुत्र कचदेव को वहां भेजा। उन्होंने वहां वह विद्या सीखी। विद्या सीखने के लिए शुक्राचार्य के पास रहने के उस कालखण्ड में उनकी गुणवत्ता और सौंदर्य के कारण शुक्राचार्य की लड़की देवयानी उन पर आसक्त हो गई। जब वह वहां से आने के लिए निकले तो उसको दुःख हुआ और उसने उनका उत्तरीय पकड़ लिया। कहा कि "नहीं, मैं तुमको ऐसे जाने नहीं दूंगी। तुम्हें मेरे साथ विवाह करना होगा और हम दोनों मिलकर ही जाएंगे। मैं अकेले नहीं जाने दूंगी।" अब आज इसका विचार कैसे होगा, कहना कठिन है। क्योंकि आज भी लोग अमरीका और इंग्लैण्ड में सीखने के लिए जाते है, डाक्टरेट प्राप्त होता है या नहीं पता नहीं, लेकिन देवयानी को लेकर वापस आते हैं। विद्या

तो शायद आती नहीं, लेकिन देवयानी आ जाती है। लेकिन कचदेव इतने आधुनिक और प्रगतिशील नहीं थे। वे ध्येयनिष्ठथे, आदर्शवादी थे। एकाग्रचित से ध्येय की साधना करने वाले थे। इसलिए उन्होंने विद्या तो प्राप्त कर ली, किन्तु सौंदर्यमयी देवयानी को कहा कि "नहीं, तुम मेरी भगिनी हो।" क्योंकि इनको जो कार्यक्रम दिया गया था उसमें विद्या प्राप्त करना ही उसका विषय था, देवयानी के साथ प्यार करना उस कार्य-सूची में शामिल नहीं था, इसलिए उन्होंने कहा कि "मैं तो विद्या प्राप्ति के लिए आया था। विद्या प्राप्त करके जा रहा हूं। मैं विवाह वगैरह नहीं करूंगा। तुम मेरी गुरुभगिनी हो". यह कहते हुए वह वापस आ गए।

अतः दोनों ही प्रकार की मनोवृत्तियां बन सकती हैं। हमारा कार्यकर्ता विभिन्न जनसंगठनों में काम करने वाला माया मछिन्दर भी बन सकता है और कचदेव के समान भी हो सकता है। यह उसके ऊपर निर्भर है। ऊपर से पानी डालने से गंगा नहीं बन सकती है, गंगा पिघल-पिघलकर बनती है। स्वयं को ठीक रखने से ही काम हो सकता है। यदि हमने, जहां-जहां जनसंगठन है वहां, काम किया और अपने को स्वयंसेवक के नाते अच्छा रखा तो फिर सम्पर्क के माध्यम के रूप में अनेक माध्यमों में से एक माध्यम अर्थात् जनसंगठन का पूरा उपयोग संघ कार्य के विस्तार के लिए हो सकता है। इस तरह से अपने कार्य की कुल रचना है। वह रचना ध्यान में रखकर हम काम करेंगे तो शास्त्रीय ढंग से काम होगा।

यह रचना क्या है? संक्षेप में मैं दोहराऊंगा कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का अपना एक ध्येय है। उस उद्देश्यं की प्राप्ति का आधार है सम्पूर्ण समाज का संगठन और उसकी सिद्धि के लिए एक विशेष कार्यपद्धति का किास किया गया है। यह कार्यपद्धति स्वयंपूर्ण है। दोनों अर्थों में स्वयंपूर्ण है कि यदि इस कार्यपद्धति को लेकर चलते हैं तो संघ को ध्येयसिद्ध करने के लिए दूसरी किसी भी पूरक कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं है और किसी भी मोह के कारण यदि हम इस कार्यपद्धति को छोड़ देते हैं तो कोई भी दूसरी ऐसी वैकल्पिक कार्यपद्धति नहीं, जो हमें वहां पहुंचाएगी, जहां संघ पहुंचाना चाहता है। संघ का विस्तार माध्यम सम्पर्क है। व्यक्तिगत जीवन में जहां, जैसे, जिसके साथ हमारा सम्बन्ध आता है, वहां-वहां संघ को दृष्टि में रखते हुए हम व्यवहार करेंगे तो चौबीस घंटा हम संघ को बढ़ाने का काम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कर सकते हैं। इस दृष्टि से संघ हमारे हर एक स्वयंसेक की दृष्टि में आ जाए यह बहुत आवश्यक बात है। संघ दृष्टि में आएगा तो हम जहां कहीं काम करते हैं वहां हमारे सम्पर्क में आने वाले हर एक व्यक्ति के विषय में हम भावी स्वयंसेवक के नाते सोचेंगे और उसके साथ ऐसा व्यवहार करेंगे जिसके कारण संघ का कार्य बढ़ सकेगा। लेकिन इस तरह से जहां हम जगह-जगह सम्पर्क बढ़ा रहे हैं, विभिन्न लोगों के जो अलग-अलग प्रयास हैं, उनमें एकसूत्रता आनी चाहिए। इस दृष्टि से सम्पर्क के प्रयास के परिणाम के रूप में जनसंगठन दिखाई देते हैं। ऐसी यदि परिस्थिति रही तो ऐसे जनसंगठनों के काम करने वाले हमारे स्वयंसेवकों को अपनी मूल भूमिका को कचदेव के समान हमेशा ख्याल में रखते हुए काम करना चाहिए और वह दोतरफा चलना चाहिए। यदि इस प्रकार हम अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करेंगे तो कुल मिलाकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की जो कार्यपद्धति है, उसको सफलता से हम निभा सकेंगे।

१०. मानदण्ड

संसार में अलग-अलग और तरह-तरह के जीवन मूल्य हैं। यह सोचने की बात है कि उनमें से कार्यकर्ताओं को अपने लिए कौन-सा जीवन-मूल्य स्वीकार करना चाहिए। यह आज की ही नहीं, हमेशा की सोचने की बात है। आज की परिस्थिति में विशेष रूप से यह सोचने की इसलिए जरूरत है कि आज हमारे सार्वजनिक जीवन में कुछ अलग प्रकार के मापदण्ड प्रभावी हैं। विशेष रूप से राजनीतिक क्षेत्र में इस बात की होड़ लगी है कि ज्यादा से ज्यादा ऊंचा ओहदा कौन प्राप्त कर सकता है।बड़ी "पोजीशन" पर कौन पहुंचता है। चालाकी और कई प्रकार के ऊंचे-नीचे, हथकण्डे अपनाते हुए जो ऊंचा पद और ज्यादा सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है उसी को आजकल व्यवहार चतुर माना जाता है।

यह भी कहा जा रहा है कि राजनीतिक वायुमण्डल के कारण लोगों को कुछ बुरी आदतें लग रही हैं और उनमें कुछ बुरे संस्कार आ रहे हैं। इसमें सबसे बुरी आदत यह है कि चतुराई से सब कार्य जल्दी किए जा सकते हैं। इसे राजनीतिक भाषा में गोटियां बिछाना कहते है। इस कारण किसी काम को निष्ठापूर्वक सतत और अधिक दिनों तक करते रहने को मूर्खता समझा जाता है। चतुर व्यक्ति जल्दी से अपना काम पूरा कर लेता है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है, "चालाकी से महान कार्य नहीं हो सकते।" हां, चालाकी से कार्य हो सकते हैं, पर महान कार्य नहीं हो सकते। राष्ट्र जीवन पर पड़ने वाला विधायंक परिणाम और प्रभाव डालने वाला कार्य चालाकी से नहीं हो सकता।

कहा गया है कि कुछ लोगों को कुछ समय के लिए बेवकूफ बनाया जा सकता है, पर सब लोगों को, सब समय के लिए बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता। इसलिए महान कार्य धीरज से और समझकर लगातार करना पड़ता है। लेकिन राजनीतिक वायुमण्डल के कारण धीरज छूट चुका है। मान लें कि एक पत्थर तोड़ना है। उस पर पांच-दस हथौड़े मारने से कुछ नहीं होना है। सौवें हथौड़े की चोट से ही उसे टूटना है। अब जिसे वह पत्थर तोड़ना है, उसे यह निश्चय करना ही होगा कि हमें सौ बार हथौड़ा मारना ही है। जल्दबाजी से काम नहीं होगा। एक कहावत है कि 'छोटा मार्ग तुम्हें ही छोटा कर देगा।' (Short cut will cut you short) इसलिए हम शार्टकट

से नहीं, धैर्य से काम करें। समय आने पर काम पूरा होकर ही रहेगा।

राजनीतिक लोगों का अधिक जोर प्रसिद्धि तथा हवा पर रहता है। इस तरह का चतुरतापूर्ण विचार राजनीतिक क्षेत्र में आज प्रबल हो गया है कि वे प्रसिद्धि को ही संगठन का विकल्प मानते हैं। उनका कहना है कि "यदि प्रसिद्धि जोरदार रही तो अपने पक्ष में हवा निर्मित होगी और उस हवा के कारण हम जीत जाएंगे और कार्य करने के लिए कार्यकर्ताओं की जो आवश्यकता हुआ करती है वह भी स्वयं पूरी हो जाएगी। हवा के प्रभाव से पोस्टर चिपकाने वाले स्वयं ही सामने आ जाएंगे। इसलिए केवल हवा निर्माण करना और इस हेतु हवादार प्रचार और प्रसिद्धि की व्यवस्था करना यश प्राप्ति के लिए पर्याप्त है।

किन्तु इतना चतुर बनना उचित नहीं है। प्रचार और प्रसिद्धि का महत्व है, किन्तु वह बहुत ही सीमित है। प्रसिद्धि वर्षा के समान है। वर्षा आवश्यकता से कम हुई तो सूखा अकाल आता है, किन्तु आवश्यकता से अधिक हुई तो गीला अकाल आता है। इष्टतम बिन्दु से कम या अधिक वर्षा घातक है। यही नियम प्रसिद्धि के लिए भी लागू होता है। आवश्यकता से अधिक प्रसिद्धि के कारण लोकप्रियता बढ़ने की कुछ संभावना अवश्य रहती है, किन्तु उसका दूसरा भी परिणाम ध्यान में रखने योग्य है। आवश्यकता से अधिक प्रसिद्धि के कारण प्रतिस्पर्द्धियों की जिद बढ़ती है और अपने आसपास आत्मसंतोष का भाव और प्रभाव बढ़ता है। प्रचार के कारण लोग आत्मवंचना के शिकार हो जाते हैं कि बहुत काम कर लिया है। यह विचार मन में दृढ़ होने लगता है कि प्रसिद्धि ही कार्य का विकल्प है। इतना ही नहीं, यह भी सोचा जाता है कि धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके अपना आधार बढ़ाते रहना एक मूर्खतापूर्ण प्रक्रिया है। बुद्धिमानी का सरल मार्ग यही है कि एक-एक व्यक्ति या सदस्य को तैयार करने में अपना समय तथा शक्ति नष्ट करने के बजाय प्रसिद्धि के माध्यम से खटाक से अपनी प्रतिभा उज्ज्वल बनायी जाए।

प्रसिद्धि की इच्छा किसी भी समूह में यदि एक बार उत्पन्न हो जाती है तो उसके कारण प्रत्यक्ष ठोस काम करने की प्रवृत्ति समाप्त होने के साथ ही जीवन-मूल्य भी बदल जाते हैं। इसके कारण नेतृत्व प्राप्त करने का सस्ता और आसान मार्ग सामने दिखायी देता है। प्रत्यक्ष काम की दृष्टि से स्पर्धा करना मेहनत का काम है। किन्तु प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए उतनी मेहनत नहीं करनी पड़ती। प्रसिद्धि के काम के लिए वास्तविक योग्यता की आवश्यकता नहीं हुआ करती। प्रसिद्धि के साधनों से सम्पर्क कायम करने में परिश्रम तथा योग्यता की आवश्यकता अधिक नहीं होती, लाभ बहुत दिखायी देता है। इस कारण प्रसिद्धि के लिए आपस में ही स्पर्धा प्रारम्भ हो जाती है। जो व्यक्ति पूर्णरूपेण ध्येयवादी है उसके ऊपर यह परिणाम भले ही न हो, किन्तु इस तरह के व्यक्ति स्वाभाविक ही कम संख्या में रहते हैं, लेकिन अन्य सभी व्यक्ति अवसरवादी होते हैं, यह कहना भी गलत होगा। वे भी ध्येयवादी ही होते हैं, किन्तु ध्येयवादिता की मात्रा कम-अधिक हुआ करती है। उन पर प्रयासपूर्वक अच्छे संस्कार अंकित किए गए तो वे भी थोड़े ही समय में शत-प्रतिशत ध्येयवादी भले ही न हों, परन्तु अच्छे संस्कार प्राप्त हुए तो ध्येयनिष्ठ बन सकते हैं।

यह ठीक है कि कार्य की वृद्धि के लिए प्रचार की आवश्यकता होती है, किन्तु जब धीरे-धीरे प्रचार होने लगता है तो फिर यह भावना जाग्रत होने लगती है कि अपनी खबर नित्य पढ़ने को मिले और धीरे-धीरे अपनी फोटो अखबार में देखने का शौक हो जाता है। अपनी आवाज कैसेट में सुनने की इच्छा जाग्रत होती है। इसको कहते हैं "नार्सिसस् भाव"। ग्रीक पुराण में एक कहानी है : "नार्सिसस नाम का एक अठारह-उन्नीस साल का लड़का था। वह अतीव सुंदर था। उसका सौंदर्य नारी-स्वरूप का था। उन दिनों आईने नहीं होते थे, इसलिए उसने अपना रूप कभी देखा ही नहीं था। एक बार वह एक निर्झर के पास होकर जा रहा था तो लकड़ी की पट्टी पर से उसने नीचे से शांत पानी में अपना स्वरूप देखा और अपने सौंदर्य पर आसक्त हो गया। उसकी इच्छा हुई कि अपनी सुंदरता के साथ अपना मिलन होना चाहिए। स्वयं का स्वयं के साथ में मिलन संभव नहीं हो सका, तो अपना ही चिंतन करते-करते विरह वेदना के कारण उसकी मृत्यु हो गई। यूरोप में उन विशिष्ट फूलों को, जो नदी के किनारे रहते है और जिनका प्रतिबिम्ब नदी में पड़ता है "नार्सिसस" का फूल कहते हैं। अपने ही प्रतिबिम्ब पर आसक्त और उसके साथ अपना विलीनीकरण होने की बेचैनी को 'नार्सिसस भाव" कहते हैं। अपनी फोटो देखी जाए, अपनी खबर पढ़ी जाए, अपनी आवाज सुनी जाए— यह नार्सिसस भाव का ही एक रूप है। फिर धीरे-धीरे यह मूल बात भूल जाती है कि प्रचार कार्य की वृद्धि के लिए किया जाना चाहिए। होता यह है कि प्रचार के लिए जितना आवश्यक होता है उतना ही कार्य किया जाता है। वक्तव्य छपता रहे, केवल इतना ही बाकी बच जाता है। धीरे-धीरे अनजाने में ही यह परिवर्तन हो जाता है।

कहने का अर्थ यह है कि कोई भी बड़ा काम करने के लिए जल्दबाजी अच्छी बात नहीं। यदि हम आनन्द से, धीरज से सोच-समझकर काम में लगें तो अगाध आत्मसंतोष प्राप्त होगा। अपने यहां कहा गया है—

शनैः पन्था शनैः कन्था शनैः पर्वतमस्तके ।
शनैः विद्या शनैः वित्तम् पंचैतानि शनैः शनैः।।

मार्ग चलना, कम्बल बनाना, पर्वतारोहण, विद्या और धन, ये पांचों धीरे-धीरे आते हैं। इसलिए यह न सोचें कि राजनीतिक ढंग से गोटी बिछाने, चालाकी या बेईमानी से काम होगा। कार्य प्रामाणिकता से और धीरे-धीरे करने से होगा। महान कार्य के लिए धीरज की आवश्यकता होती है। पर धीरज कौन रख सकता है? अहंकारी आदमी धीरज नहीं रख सकता। स्वार्थी आदमी धीरज नहीं रख सकता। ध्येयवादी आदमी ही धीरज रख सकता है। धीरज के कारण ध्येयवादी की शक्ति असीम हो जाती है। उसका आत्मविश्वास बढ़ जाता है। जिसमें आत्मविश्वास नहीं होता, वह लड़ाई हारता है। वह लड़ाई में जाने से पहले ही हार जाता है।

आचार्य चाणक्य के विषय में सम्यक् जानकारी रखने वाले साहित्यिक ने "मुद्राराक्षस" में एक प्रसंग दिया कि "प्रातः स्नान-सन्ध्या के पश्चात चाणक्य अपने गुप्तचर से पूछताछ कर रहे हैं। उस दिन केवल यह सुनने का अवसर आया कि वह राजा उनको छोड़कर शत्रुपक्ष में शामिल

हुआ है, वह सेनापति शत्रु पक्ष में गया है, वह वीर भी उनको छोड़ गया है," आदि-आदि। सभी समाचार साथ छोड़कर जाने को ही थे। यह सब सुनकर चाणक्य कहते हैं कि—

"एका केवलमर्थसाधनविधौ सेना शतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलन दृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा यातुमाम् ।।"

"जिन्होंने छोड़कर जाना था, वे पहले ही चले गए हैं। जो भविष्य में छोड़कर जाना चाहते है वे भी चले जाएं। कोई चिंता की बात नहीं। केवल मेरी बुद्धि मुझे छोड़कर न जाए। इक्षित प्राप्त करने में जो सैकड़ों सेनाओं से भी अधिक बलवान हैं और नन्द साम्राज्य के निर्मूलन के कार्य में जिसके शौर्य की महिमा दुनिया ने देख ली है केवल वह मेरी बुद्धि मुझे छोड़कर न जाए।"

कितना प्रचण्ड आत्मविश्वास है। ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता के लिए आत्मविश्वास का यह आदर्श उदाहरण हो सकता है।

केवल जय-पराजय, नेतृत्व को आंकने की एकमात्र कसौटी नहीं मानी जा सकती। कभी-कभी तो पराजय भी विजय से अधिक शानदार मानी जाती है। कहा गया है कि "दन्तच्छेदो हि नागानाम् श्लाघ्यो गिरिविदारणे" यदि पहाड़ को फोड़ने के प्रयास में टूट गए हों तो हाथियों के टूटे हुए दांत भी सराहनीय माने जाते हैं। इस पृष्ठभूमि में हम कल्पना कर सकते हैं कि डंकर्क की भीषण पराजय के पश्चात उस संकट में से अधिकाधिक सिपाहियों तथा युद्ध सामग्री को बचाकर वापस ले आने वाले सेनापति की सफल वापसी के लिए चर्चिल ने सराहना क्यों की होगी। मतलब यह कि एकाध पराजय के कारण नेतृत्व की निंदा करने, निराश होने या कुण्ठित होने और एकाध विजय के लिए आत्मश्लाघा की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जय-पराजय कई परस्पर सम्बन्धित बातों पर अवलम्बित रहती है, जिनमें से एक बात नेतृत्व की क्षमता भी है।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के इतिहास में ऐसा देखा गया है कि जो लोग संकट के समय आगे आकर उसका सामना करते हैं, विजयकाल या प्रमादकाल या यश प्राप्त होने पर जब उनमें थोड़ा "उपलब्धि का संतोष" आ जाता है तो वे सोचते हैं कि हम अब बन गए, पूर्ण हो गए। इस कारण स्वयं अपने को पता न लगते हुए पहले की लगन धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है।

सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांस के लुई का उदाहरण हमारे सामने है। लुई के सरदार बड़े बहादुर थे। सभी यूरोपीय राष्ट्रों पर फ्रांस का प्रभाव था। राजा लुई को चिंता हुई कि ये सरदार जिस प्रकार बाहर के राष्ट्रों के लिए आतंक बन गए हैं उसी प्रकार किसी दिन उन्हें भी तकलीफ दे सकते हैं। राजा को उनके प्रधानमंत्री ने सलाह दी कि यदि आप चाहते हैं कि ये सरदार आपको तकलीफ न दें तो इनको दबाने की कोशिश मत करो। इन्हें आराम दो। अतः उन्होंने एक बड़ा महल बनवाया। उसको "पैलेस ऑफ बर्सेल्स" कहते हैं। उस महल में एक बड़ा दरबार बनाया गया। सबके रहने की यथोचित सम्मानजनक व्यवस्था की गई। उन पराक्रमी सरदारों को बड़े-बड़े ओहदे और बड़े-बड़े पदक बगैरह देकर वहां बुलाया गया। राजा के समान उनको भी बड़ा स्थान प्रदान किया गया। वहीं ऐशो-आराम की सब तरह की सुख-सुविधाएं उपलब्ध करा दी गईं। सभी आराम

"सम्पत्ति मात्र सम्पत्ति है, वह तो भगवान कृष्ण की है।" हमारे भारत का 'प्रगतिवादी आदमी' इसे मूर्खतापूर्ण बात कहेगा। लेकिन हेनरी फोर्ड का नाती यह बात स्पष्ट शब्दों में कहता है। यह विचार करने की बात है कि अमरीका जैसे भौतिक दृष्टि से समृद्ध देश के धनपति का नाती और रूसी तानाशाह स्टालिन की लड़की श्वेतलाना ऐसा क्यों सोचते और कहते है। कोई गंगा के किनारे कुटिया में रहकर अपना अन्तकाल बिताना चाहता है, तो कोई यह कहता है कि सब कुछ भगवान कृष्ण का है। इस प्रकार की भावना क्यों पैदा होती है?

केवल अर्थ और काम के प्रभाव से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। इससे दुःख ही बढ़ता है। इस कारण हमारे यहां यह कहा गया कि अर्थ और काम का अभाव नहीं होना चाहिए तो अर्थ और काम के प्रभाव में भी नहीं आना चाहिए, तभी मनुष्य सुखी हो सकता है और वह सुख अखण्ड चिरंतन निरंतन घनीभूत होगा। वह सुख आने-जाने वाला सुख नहीं होगा। इसे ही हमारे द्रष्टाओं ने मोक्ष कहा है। घनीभूत, चिरंतन, निरंतन सुख अर्थात् मोक्ष मनुष्य जीवन का यही लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपनी रुचि, प्रतिभा, प्रकृति, परिस्थिति, अपने-अपने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक स्तर आदि सभी बातों का विचार करते हुए अपने मार्ग का निर्धारण करना चाहिए।

अर्थ और काम का किसी को भी अभाव न हो, यह जिम्मेदारी समाज रचना की है। अर्थ और काम का प्रभाव मन पर न हो यह जिम्मेदारी व्यक्ति की मनोरचना की है। इसलिए राष्ट्रीय श्रम आयोग के सामने हमने अपना जो प्रतिवेदन दिया था उसमें जहां लाभांश, महंगाई भत्ता, पेंशन के नियम आदि विषय हैं, वहीं पहले ही पृष्ठ पर यह दिया है **"अभावो वा प्रभावो वा यत्र नास्ति"** अर्थात् अर्थ और काम का अभाव भी न हो और अर्थ और काम का प्रभाव भी न हो। जब ऐसी अवस्था आती है तो समाज स्वात्म रूप में आ जाता है और फिर धर्मचक्र प्रवर्तन शुरू हो जाता है।

आज देश बहुत आगे बढ़ चुका है। सभी लोग चतुर हो गए हैं। **" सत्तातुराणाम् न दलम् न राष्ट्रम् "** वाली अवस्था है। १९४७ के पहले जीवन-मूल्य दूसरे थे। रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने फांसी दिए जाने के पूर्व जेल में कहा कि :

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है,
देखना है ज़ोर कितना बाजु-ए-क़ातिल में है।
खींचकर लाई थी सबको क़त्ल होने की उम्मीद,
आशिकों का आज जमघट कुचा-ए-क़ातिल में है।।

वे कत्ल होने की आशा से ही यहां आए थे। आज यदि देश का कोई आदमी ये पंक्तियां कहेगा तो उसको जरूर पागलखाने भेजा जाएगा। और यदि ये पंक्तियां कहनी ही हों तो जरा सुधार कर कहेंगे। वे यह नहीं कहेंगे कि " खींचकर लाई थी सबको, कत्ल होने की उम्मीद ", वे कहेंगे, "खींचकर लाई थी सबको, मंत्री होने की उम्मीद।" अब नब्बे करोड़ में से नब्बे करोड़ लोग प्रधानमंत्री बनना चाहते हैं। सन् ४७ के पहले की भावना लेकर चलने वाले को अब पागल कहा जाता है। हम लोग तो ढूंढ रहे हैं कि देश में ऐसे "पागल" लोग कहां मिलेंगे? मिलते ही नहीं।

अपने देश में एक ऐसे संत हो गए हैं जिनको बादशाह अकबर ने अपने दरबार में बुलाया तो उन्होंने कहा कि मैं वहां नहीं जाता। क्योंकि "आवत-जात पनहियां टूटे, बिसरि जाय हरि नाम।" आते-जाते जूता घिसता है और भगवान का नाम भी भूल जाता है। इसलिए मैं तुम्हारे पास नहीं आता, आना है तो तुम मेरे पास आओ।" वे नहीं गए। संत तुकाराम का भी ऐसा ही एक उदाहरण है। उन्हें शिवाजी राजा ने बुलाया था। वे नहीं गए। शिवाजी राजा ने उनके लिए पालकी भेजी तो उन्होंने कहा—

तुम्हापासी येण्या थकोनिया काया।
व्यर्थ शीण आहे चालण्याचा।।

"तुम्हारे पास आकर मुझको क्या लाभ है? फिजूल चलने का कष्ट होगा, मैं यह कष्ट नहीं उठाना चाहता।" तीसरा एक उदाहरण है सिकन्दर बादशाह के समय का। डायजेनिस नाम के एक बड़े दार्शनिक थे। वे हमेशा हौज में बैठकर सूर्य-स्नान किया करते थे। सिकन्दर ने उनका नाम सुना तों यह सोचा कि उसके राज्य में दुनिया का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक है। यह उसका बड़प्पन है। इसलिए उसको दरबार में बुलाना चाहिए। राजा के दूत उन्हें बुलाने गए तो उन्होंने कहा कि "मैं नहीं आता। मैं तो हमेशा हौज में बैठकर सूर्य-स्नान करता हूं। राज दरबार में जाने से यह क्रम टूट जाएगा।" विश्वविजयी सिकन्दर यह सुनकर पहले तो गुस्सा हुआ। फिर सोचा कि दार्शनिक ऐसे ही पागल होते हैं, चलो मैं ही उससे मिलने चलता हूं। डायजेनिस को बताया गया कि सिकन्दर बादशाह खुद आ रहे हैं। बोले "आने दो, मैं क्या उसको रोक सकता हूं?" बादशाह सिकन्दर सुबह-सुबह उनके यहां पहुंच गया। उस समय सुबह का सूरज ऊपर आया ही था। सूरज की किरणें वहां आ रही थीं। "बादशाह आ गए, बादशाह आ गए" का शोर मचा। फिर भी वे आराम से लेटे रहे, उठे नहीं। बादशाह की तरफ देखा भी नहीं। लोगों को यह देखकर बड़ा अजीब-सा लगा कि दुनिया का सबसे बड़ा बादशाह आया है और उन्होंने उसकी तरफ देखा भी नहीं। बादशाह ने बोलना शुरू किया कि "साहब, मैं आ गया हूं। मैं एलेक्जेंडर (सिकन्दर) हूं।" वे बोले नहीं। केवल "हां" सूचक सिर हिलाया। उस ओर देखा भी नहीं। स्मित-हास्य भी नहीं किया। फिर सिकन्दर ने कहा कि "मुझे इसका बड़ा गर्व है कि आपके जैसे दुनिया के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक मेरे प्रजाजन हैं।" फिर भी वे कुछ नहीं बोले। बादशाह बोलता रहा, वे चुप रहे। आखिर में सिकन्दर ने कहा, "मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूं। इस दुनिया में ऐसी कोई चीज नहीं जो मैं आपको नहीं दे सकता। आप दुनिया की कोई भी चीज मुझसे मांग लीजिए। मैं आपको दे दूंगा।" तब डायजेनिस ने सिकन्दर की तरफ थोड़ा देखकर स्मित हास्य किया और कहा, "बादशाह, मैं जो मांगूंगा, आप देंगे?" वे बोले, "हां मैं दूंगा।" डायजेनिस ने कहा कि "आपके शायद ख्याल में नहीं है कि आपकी छाया मेरे शरीर पर आ रही है। इसके कारण मेरा सूर्य-स्नान नहीं हो पा रहा है। आप एक ही बात कीजिए कि जरा एक ओर हट जाइए ताकि सूर्य की किरणें सीधे मेरे शरीर पर आ सके।" एक ओर दुनिया का बादशाह कह रहा है कि मुझसे कुछ मांग लीजिए और दूसरी ओर यह आदमी कह रहा है कि जरा अलग हट जाइए ताकि सूर्य की किरणें सीधे मेरे शरीर पर आ सके।

दुनिया में इसका सबसे बड़ा उदाहरण रोमन साम्राज्यवाद का है। जब रोमन साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था तो सारा यूरोप उसके अन्तर्गत था, क्राइस्ट के पश्चात तीन सौ साल तक इस महान साम्राज्य का वर्चस्व बना रहा। सम्पूर्ण वैभव और सारे यूरोप की सम्पत्ति रोम में इकट्ठी थी। तीन सौ साल तक यह अवस्था चली और इसका परिणाम यह रहा है कि इस तीन सौ साल के कालखण्ड में लोग इतने विलासी हो गए कि उनका कर्तव्य समाप्त हो गया। बहादुरी समाप्त हो गई। इन तीन सौ साल में किसी भी महान व्यक्ति का वहां उदय नहीं हुआ। वैभवशाली इटली का पूर्व काल जब चुनौतियों और संकटों से ग्रस्त था, वहां के बहादुरों ने उन चुनौतियों को स्वीकार किया, बुद्धिमान लोगों ने अपनी प्रतिभा का प्रगटन किया और इटली का यह कालखण्ड इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा गया। एलिजाबेथ के काल में इंग्लैण्ड के सामने बहुत बड़ी चुनौती आई। वहां के बहादुरों ने उसका उचित प्रत्युत्तर दिया। एलिजाबेथ का युग इंग्लैण्ड के इतिहास में 'स्वर्णाक्षरों' में लिखा गया है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के काल में फ्रांसीसी इतिहास के पृष्ठ भी स्वर्णाक्षरों में लिखे गए हैं। जैसे-जैसे आवाहन, संकट, आपत्तियां आती गईं, उन लोगों की बहादुरी, पराक्रम, कर्तृत्व निखर उठा और उनका नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा गया।

किन्तु इसी के साथ यह भी अनुभव में आया कि संकटों के समय जिनकी बहादुरी का थोड़ा प्रकाश दुनिया को दिखाई देता है, उन्हें थोड़ी विजय प्राप्त होती है और कुछ अच्छी व्यवस्था तैयार हो जाने पर धीरे-धीरे स्वयं को पता न चलते हुए उन्नीसवीं शताब्दी की इटली सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांस की तरफ वे निष्प्रभावी हो जाते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। यह परिवर्तन इतना आहिस्ता-आहिस्ता होता है कि यदि व्यक्ति स्वयं अपने बारे में सचेत न रहे तो उसका संभलना बहुत कठिन होता है। इसका और भी एक कारण है। हम अच्छे हैं तो लोगों के मन में हमारे प्रति आदर भी रहता है और इस आदर के कारण वे हमारी सेवा करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। धीरे-धीरे वे सेवाभावी हो जाते हैं। यहां तक तो ठीक है, लेकिन इसके कारण नेताजी को भी सेवाएं लेने की आदत पड़ जाती है। उनका भी स्वावलम्बन समाप्त हो जाता है। लोग उपहार देते हैं तो उपहार लेते-लेते वे उसका औचित्य सिद्ध करने लगते हैं। कहने लगते हैं कि उपहार दिया है तो प्रेम से दिया है, मैं कैसे मना कर सकता हूं, बेचारा नाराज हो जाता। धीरे-धीरे स्वयं को पता न लगते हुए यह गिरावट आती जाती है। इसके बारे में स्वयं यदि सतर्क न रहे तो खुद को बचाना बड़ा मुश्किल होता है। आरम्भ में उसके सद्‌गुणों में कमी नहीं आती है। लेकिन जब नेतृत्व स्थापित हो जाता है तो धीरे-धीरे गिरावट आने की गुंजाइश होने लग जाती है। यह विचार आने लगता है कि अब तो नेतृत्व स्थापित हो गया इसलिए अब कुछ करने और सोचने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ पाना चाहता था, वह मैं पा चुका हूं। काम करने की उसकी इच्छा और चिंता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। नेतृत्व के कारण जो सुविधाएं एवं विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं, उनका अधिक से अधिक उपयोग करने के उपयों और रास्तों की खोज शुरू हो जाती है।

जिस प्रकार व्यवहार चतुर कहे जाने वाले लोगों के सामने मापदण्ड हैं उसी प्रकार जो व्यवहार चतुर नहीं होते, जिन पर आदर्शों का पागलपन सवार होता है, उनके भी अपने जीवन-मूल्य होते

हैं। दुनिया जिसे पागलपंन कहती है, उस आधार पर जो लोग काम कर रहे हैं, वे बड़प्पन और जीवन की सार्थकता को दूसरे ढंग और दृष्टि से देखते है। नेपोलियन जब आदर्शवाद खो बैठा, पद और स्थान के पीछे लगा और फलस्वरूप उसकी विचार-पद्धति में परिवर्तन हुआ तो उसने एक बात कही जो बहुत प्रसिद्ध है, शायद उसी का अनुसरण आज हमारे सार्वजनिक क्षेत्र में हो रहा है। उसने कहा कि "Men are like figures. They are valued according to the position they occupy." – अर्थात् व्यक्ति आंकड़ों के समान है। उनका बड़प्पन इस बात पर अवलम्बित है कि वे किस स्थान पर है।

इस प्रकार उन्होंने कहा कि यदि कोई व्यक्ति ऊंचे पद पर जाएगा तो ही उसका बड़प्पन बढ़ेगा। हमारे यहां इससे उलटा कहा गया है। हमारे यहां कहा गया है कि **प्रासाद शिखरस्थो Sपि काको न गरुड़ायते।** गरुड़ जमीन पर बैठा हो या पेड़ पर बैठा हो और कौवा राजप्रासाद के शिखर पर जाकर बैठा है तो कौवा कौवा ही रहेगा, वह गरुड़ नहीं बन सकता। हमारी ऐसी धारणा है कि केवल पद और स्थान के आधार पर बड़प्पन नहीं होता। बड़प्पन एक यथार्थ है। वह अन्तर्भूत मूल्य है।

विचार और व्यवहार के दो अलग-अलग तरीके हम इतिहास में देखते हैं। अपने यहां पिछले दिनों की कुर्सी की लड़ाई सर्वविदित है। बड़प्पन का अर्थ ही जिन्होंने कुर्सी लगाया, उन्होंने कुर्सी से चिपके रहने में अपने जीवन की सार्थकता आंकी। लेकिन यदि हम इतिहास के कुछ उदाहरण देखें तो सत्य इसके विपरीत नजर आता है। आज जो देश दुनिया के सम्पन्न राष्ट्र के नाते गिने जाते हैं, उनमें से एक है अमेरिका। अमेरिका के निर्माताओं में जार्ज वाशिंगटन का बहुत बड़ा स्थान है। उनके जीवन की एक घटना है। वाशिंगटन के नेतृत्व में अंग्रेजी के खिलाफ चल रहा अमेरिका का स्वातंत्र्य संग्राम लगभग समाप्ति पर था। वाशिंगटन अब लड़ाई जीत जाएंगे यह स्पष्ट दिखायी देने लगा था। जैसे-जैसे लड़ाई जीतने की संभावना दिखाई देने लगी, वैसे-वैसे राजनीतिक सूत्र-संचालकों के मन में ईर्ष्या पैदा होने लगी। उन्होंने सोचा, "अरे, हमने इसको "कमाण्डर-इन-चीफ" के नाते नियुक्त किया, लेकिन आज जनता के सामने हमारा नहीं, केवल इसी का नाम आ रहा है। कहीं यह बाजी न मार ले जाए, आगे चलकर इसी के हाथ में सत्ता न चली जाए। इसलिए इसकी लोकप्रियता कम करने के लिए कुछ करना चाहिए।" इस दृष्टि से छोटे मन वाले उन लोगों ने वाशिंगटन के युद्ध प्रयत्नों का अन्तर्ध्वंस करना शुरू किया। यह बड़ा विचार उन्होंने नहीं किया कि वास्तव में यह देश का स्वातंत्र्य संग्राम है। यह जितनी जल्दी और अच्छी तरह से समाप्त हो सके उतना ही अच्छा। उनके मन में तो वाशिंगटन की लोकप्रियता खटक रही थी। उनकी लोकप्रियता को समाप्त करने के लिए उन्होंने अन्तर्ध्वंस का तरीका खोज निकाला। सिपाहियों के लिए मंगाए जाने वाले सामान यथा जूते, कपड़े, अनाज आदि भेजने में इस कारण विलम्ब करने लगे कि इसमें देर हो जाएगी तो फिर लड़ाई जीतने में भी देर होगी। इस कारण सिपाहियों में असंतोष होगा। सिपाहियों को यह खबर लग गई कि राजनीतिक नेता यह गंदा काम कर रहे है। सेना में घोर असंतोष व्याप्त हो गया। सैनिक नेताओं ने आपस में कुछ

चर्चा की और वे वाशिंगटन के पास पहुंचे। वाशिंगटन से कहा कि राजनीतिक नेता बड़े गंदे हैं। उन्हें देश की चिंता नहीं है। वे अपने व्यक्तिगत मान-सम्मान का विचार कर रहे हैं। लड़ाई तो अब समाप्त होने वाली है। हम जीतने ही वाले हैं। लेकिन लड़ाई समाप्त होने के बाद क्या ऐसे गद्दार लोगों के हाथ में हम देश का कारोबार सौंप देंगे? यह अच्छा नहीं होगा। हमारा सुझाव है कि जैसे ही लड़ाई समाप्त हो, आप देश का कारोबार अपने हाथ में ले लीजिए। आज देश में सेना के अलावा दूसरा कोई भी शक्ति केन्द्र नहीं है। अतएव आपने यदि देश की बागडोर अपने हाथ में ली तो आपका विरोध करने के लिए कोई भी खड़ा नहीं हो सकता। आप सारी सत्ता अपने हाथ में ले लीजिए। हम आपके साथ हैं। सेना आपके साथ है।" यह कितना अच्छा मौका था? वास्तव में उस समय अमेरिका में दूसरा कोई शक्ति-केन्द्र था भी नहीं। किन्तु वाशिंगटन ने कहा, "नहीं, यह उचित नहीं होगा। यह बात अपने सिद्धान्त के अनुकूल नहीं होगी।" उन्होंने इस सुझाव को अमान्य कर दिया और एक संविधान समिति का गठन किया। विधिवत् चुनाव कराया। यह बात अलग है कि उन चुनावों में जनता ने प्रथम राष्ट्रपति के नाते वाशिंगटन को ही चुना। लेकिन चुनाव का झंझट न करते हुए सीधे सत्ता हाथ में लेने का एक मौका था। वह मौका उन्होंने स्वयं छोड़ दिया।

आज हमारे सार्वजनिक क्षेत्र में जो जीवन-मूल्य हैं उनको देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि उन्होंने पागलपन की ही बात की थी। किन्तु जिन्होंने कुछ बड़ा काम किया है ऐसे लोगों के जीवन में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं जो आज के हमारे सार्वजनिक जीवन में पागलपन जैसे लग सकते हैं। इस दृष्टि से इटली का एक बड़ा अच्छा उदाहरण हमारे सामने है। इटली आस्ट्रियन साम्राज्य के अन्तर्गत आता था। उस समय लोगों में इटालियन राष्ट्रीयत्व की भावना जाग्रत करने, जाग्रत लोगों का संगठन करने, साम्राज्य के खिलाफ लड़ने के लिए लोगों को प्रवृत्त करने का सारा काम जोसेफ मैझिनी ने किया। उनको "इटली का राष्ट्रपिता" कहा जाता है। लेकिन एक मौका ऐसा आया कि आस्ट्रिया के साथ प्रत्यक्ष युद्ध करने की स्थिति पैदा हो गई। युद्ध के अवसर पर उन्होंने अपने साथियों से कहा, "ठीक है, मैं आपका नेता हूं और ऐसा आप मानते भी हैं। लेकिन यह मौका युद्ध का है। इस समय नेता के नाते ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो लड़ाई का तंत्र जानता हो। मैं युद्धतंत्र नहीं जानता, दूसरे कार्य अच्छी तरह से कर सकता हूं। युद्धतंत्र के जानकार गारिबाल्डी हैं। इस समय हम सबको गारिबाल्डी को अपना नेता बनाना स्वीकार करना चाहिए।" इतिहास साक्षी है कि जिस गारिबालडी को उस समय मैझिनी जितनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं थी, उसको उन्होंने अपना नेता बनाया और मैझिनी स्वयं सैनिक वेश पहनकर, हाथ में रायफल लेकर एक सिपाही के नाते गारिबाल्डी की कमाण्ड के अन्तर्गत जाकर खड़े हो गए। क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि आज हमारे सार्वजनिक जीवन की जो मनोभूमिका है, उसमें आज का कोई नेता इस तरह का व्यवहार कर सकता है?

गारिबाल्डी ने लड़ाई लड़ी। शत्रु को परास्त किया। रोम को जीता। रोम में विजयी वीर के रूप में प्रवेश किया। पूर्व निश्चय के अनुसार पिडमांट के विक्टर इमन्युअल को गद्दी पर बिठाया, उनका राज्याभिषेक कराया और राज्याभिषेक के पश्चात जब नई सरकार बनाने की रूपरेखा पर

चर्चा जली तो गारिबाल्डी ने कहा कि "मैं छुट्टी मांगने आया हूं।" विक्टर इमन्युअल आश्चर्यचकित हो गए। बोले "जिसके कारण इतनी बड़ी विजय हुई है वही यह कह रहा है कि मैं छुट्टी मांगने आया हूं, मैं तो घर जा रहा हूं।" गारिबाल्डी ने कहा "आप ठीक कहते हैं। अब तक का काम लड़ाई का काम था। मैं युद्धशास्त्र जानता था इसलिए मैंने युद्ध किया। इसके पश्चात का काम राजनीति का है, कूटनीति का है, उसमें मेरी गति नहीं है इस दृष्टि से इटली का नेतृत्व अब आपके प्रधानमंत्री कैहर ही कर सकते हैं। आप उनके हाथ में शासन की बागडोर दे दीजिए। मैं अपने गांव कैप्री में खेती करने के लिए जाता हूं। मुझे छुट्टी दे दीजिए।" उन्होंने छुट्टी ली और अपने गांव की खेती पर चले भी गए। अर्थात् सारी विजय उन्होंने सम्पादन की, परन्तु देश के व्यापक हित में आगे की जिम्मेदारी के लिए कहा कि "अब जिन गुणों की आवश्यकता है वे गुण अलग प्रकार के हैं। वे मेरे अंदर नहीं, दूसरों के अंदर है। उनको नेता बना दीजिए।" और स्वयं निरपेक्ष भाव से अपने गांव वापस चले गए।

क्या आज हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि हमारे देश में भी यह हो सकता है। मैं "आज" शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूं कि हमारा सारा इतिहास आज जैसा नहीं रहा है। वास्तव में श्रेष्ठतम जीवन-मूल्यों की आराधना ही हमारी परम्परा है। इसके अनेक उदाहरण हैं। उदाहरण के लिए एक प्रसंग बताता हूं। पाण्डव वनवास में थे। माता कुन्ती के हाथ से कुछ अच्छा काम हुआ तो भगवान प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "वर मांगो।" वस्तुतः उनके सामने उस समय पहला सवाल यही था कि खोया हुआ राज्य कैसे प्राप्त हो। स्वाभाविक ही कुन्ती चाहती तो सीधे राज्य प्राप्ति का वरदान मांग लेती। लेकिन उन्होंने जो कुछ मांगा वह बहुत ही आश्चर्यजनक था। उन्होंने कहा, "भगवान! मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि हमारे ऊपर हमेशा आपत्तियां बनी रहें ताकि तुम्हारा स्मरण हमें हमेशा होता रहे।" जब राज्य प्राप्त करने के चक्कर में सब पड़े हुए थे, उस समय इस तरह का वरदान मांगा और जब युद्ध समाप्त हुआ, जीत हुई, राज्य प्राप्त हुआ, तो उस समय की एक घटना है। धृतराष्ट्र वन जाने के लिए निकले। पाण्डवों नें उन्हें रुकने के लिए कहा, लेकिन वे नहीं माने। उन्होंने कहा कि अब मैं वनवास को जाऊंगा ही। उनके साथ जाने के लिए जब कुन्ती तैयार हुई तो पाण्डवों ने कहा, "मां! तुमने आग्रह किया था, इसलिए हमने यह युद्ध लड़ा। अब राज्य प्राप्त होने के पश्चात तुम जा रही हो", तो कुन्ती माता ने कहा, "मैंने तुमको राज्य प्राप्त करने का आदेश इसलिए नहीं दिया कि हम लोग राज्य का उपभोग करेंगे, बल्कि युद्ध का आदेश इसलिए दिया था कि तुम क्षत्रिय हो। तुम्हारा कर्तव्य अन्याय का प्रतिकार करना है। धर्मपालन के लिए राज्य प्राप्ति आवश्यक थी। वह मैंने तुम्हें बताया। अब धर्म का आदेश मुझे है कि जब मेरे जेठ वनवास के लिए जा रहे हैं तो मैं भी उनकी सेवा में वनवास ही स्वीकार करूं। मेरा धर्म मुझे यही बताता है। इसलिए मैं भी वनवास में जा रही हूं।" अर्थात् समस्त प्रयास करके राज्य प्राप्त करने के बाद जंगल में जाने की बात सोचने का यह आदर्शवादी जीवन-मूल्य उनके जीवन में हमें दिखाई देता है।

पुराने इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं। भरत का है, चाणक्य का है। कितने ही उदाहरण हैं। किन्तु कोई सोचेगा कि ये तो पुराने उदाहरण हैं। क्या हमारे नए इतिहास में भी ऐसे उदाहरण हैं।

जी हां, ऐसे उदाहरण आज के इतिहास में भी हैं। स्वयं अपनी ओर से नेतृत्व छोड़ने की घटनाएं अभी-अभी के इतिहास में मिलती हैं।

लोकमान्य तिलक १९१६ के पश्चात् एक तरह के सम्पूर्ण देश के नेता थे। उसी समय महात्मा जी दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्थान आए। दक्षिण अफ्रीका में किए गए उनके सत्याग्रह की बहुत चर्चा थी। उनके शांतिपूर्वक असहयोग के प्रयोग को कांग्रेस को भी करके देखना चाहिए, यह विचार कांग्रेस के लोगों के मन में आ रहा था। तिलक जी ने जब देखा कि शायद कांग्रेस इस तरह का आंदोलन छेड़ने का विचार कर सकती है तो उन्होंने गांधी जी से कहा, "ठीक है, ये लोग मेरी बात मानते हैं। मैं नेता हूं। किन्तु यदि आपके ढंग से आंदोलन चलाने का ही निर्णय हुआ तो उसका तंत्र मैं नहीं जानता, उसे आप जानते हैं, अतएव उसका नेतृत्व आपको करना होगा।" यह बात और है कि उसके बाद उनकी मृत्यु हो गई। किन्तु इस बात से यह स्पष्ट होता है कि यदि उनकी मृत्यु न हुई होती तो एक सिपाही के नाते गांधी जी के नेतृत्व में खड़े होने की उनकी मानसिक तैयारी थी।

गांधी जी के जीवन में भी एक ऐसा उदाहरण आता है जो आज के राजनीतिक वायुमण्डल के परिप्रेक्ष्य में बहुत ही उद्‌बोधक है। उन्होंने स्वीकार किया। उस समय चर्चा चल रही थी कि विधान मण्डलों में जाना है या नहीं। गांधी जी इस मत के थे कि नहीं जाना चाहिए। जो इस मत के थे कि जाना चाहिए, उन्होंने कांग्रेस के अन्तर्गत स्वराज्य पार्टी के नाम से एक अलग गुट तैयार किया था। इसका बैरिस्टर चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू आदि कर रहे थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई तो उस समय बहुमत गांधी के विचारों के पक्ष में था। गांधी जी ने छह महीने तक देश का दौरा किया और लोगों के साथ बातचीत की तो उनको दिखाई दिया कि यद्यपि कांग्रेस अधिवेशन के समय बहुमत उनके साथ था, किन्तु धीरे-धीरे लोगों के विचार में परिवर्तन आ रहा है और अब लोगों को ऐसा लग रहा है कि विधान मण्डलों में एक बार जाकर देखना चाहिए कि स्वातंत्र्य की प्राप्ति में उसका क्या उपयोग हो सकता है।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों के मन में यह विचार परिवर्तन हो रहा है, इस बात का पता और किसी को नहीं था क्योंकि लोग अपने-अपने स्थान पर अलग-अलग विचार कर रहे थे। स्वराज्य पार्टी के लोगों को भी इस बात का पता नहीं था। लेकिन गांधी जी को पता था। यह पता होने के पश्चात उन्हें लगा कि मेरा कुछ नैतिक कर्तव्य है। जुलाई महीने में उन्होंने स्वराज्य पार्टी के उस समय के नेता मोतीलाल जी को एक पत्र लिखा कि आप शायद नहीं जानते हैं कि कांग्रेस में उस समय मेरे विचारों के पक्ष में बहुमत था, लेकिन अब बहुमत की राय बदल रही है। अब बहुमत आपके ही विचार को पसंद कर रहा है। इस दृष्टि से मैं त्यागपत्र दे रहा हूं। आप कांग्रेस की अध्यक्षता स्वीकार कर लीजिए। उन दिनों कांग्रेस का अध्यक्ष पद सार्वजनिक क्षेत्र में उतना ही महत्वपूर्ण माना जाता था, जितना महत्वपूर्ण आज प्रधानमंत्री का पद है। कांग्रेस अध्यक्ष का महत्वपूर्ण पद छोड़ने की कल्पना करना भी आज के जीवन में कठिन प्रतीत होता है।

अतएव जिनके आदर्शवादी जीवन-मूल्य होते हैं वे अलग ढंग से सोचते हैं और जिनके केवल व्यक्तिवादी—मेरा बड़प्पन, मेरा गौरव, मेरा नाम—विचार का ढंग क्या होना चाहिए, इसके बारे में बारीकी से सोचना आवश्यक है। क्योंकि हमारे नेतृत्व की जो गुणवत्ता होगी, उसी का असर हमारे क्षेत्र और देश, दोनों पर होगा। हमारे सोचने के ढंग और भावना क्या रहे, इसका बहुत महत्व है।

आज जब हम नेतृत्व के बारे में सोचते हैं तो हमारा ध्यान राजनीतिक क्षेत्र में प्रचलित शब्द "नेताजी" की ओर स्वाभाविक रूप से जाता है। कई लोगों को तो "नेताजी" की उपाधि भी प्राप्त हो गई है। सुभाषचन्द्र बोस को तो यह उपाधि प्राप्त करने के लिए आत्मबलिदान करना पड़ा था। किन्तु आज वैसा कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। आज हर एक व्यक्ति नेता बनने की कोशिश कर रहा है, और नेता का व्यवहार कैसा होना चाहिए, उसका स्वरूप और तरीका भी तय हो चुका है कि नेता अर्थात् वह जो "कमाण्ड" करता है, लोगों को आदेश देता है, किन्तु स्वयं काम नहीं करता। सभा, सम्मेलन, बैठक होगी तो दरियां उठाने का काम नहीं करेगा, किन्तु भाषण देने के लिए आएगा। आज यह एक तरीका निर्माण हो गया है कि वह बाहर निकलेगा तो सीना तानकर, गर्दन ऊंची करके। किसी ने प्रणाम किया तो उसके उत्तर में उसे पूरा प्रणाम नहीं करेगा। गर्दन जरा सी झटककर प्रणाम स्वीकार करेगा। अर्थात् "मैं कुछ हूं, मैं कुछ कम नहीं हूं, मैं तुम्हारा नेता हूं" यह विचार लेकर चलने वाले नेताओं की बड़ी फसल आज हिन्दुस्तान में आ रही है। जो नए-नए लोग राजनीति में प्रवेश कर रहे हैं, उनके ऊपर यह संस्कार नहीं है कि देश की सेवा करनी है। उनके ऊपर यह संस्कार है कि ये जो बुड्ढे लोग हैं उनके अंदर कौन-सी बड़ी योग्यता है? हम क्या कम हैं? अब ऐसे वायुमण्डल में हमारा व्यवहार, विचार, भावना और ढंग आदि "नेताजी" का ही रहा तो क्या हम कोई बड़ा काम कर सकेंगे?" आज के नेता कहलाने वाले लोगों का व्यवहार देखेंगे और जिनके आदर्शवादी जीवन-मूल्य हैं या थे, उनके लोगों के व्यवहार के साथ तुलना करेंगे तो आपको दिखाई देगा कि उनका व्यवहार बिल्कुल अलग ढंग का था। वह आज के नेताओं के व्यवहार से मेल नहीं खाता।

जब चुनाव के बाद चर्चा हुई, जगह-जगह से रिपोर्ट आई तो लोगों ने कहा कि हमें चुनाव में एक बहुत बड़ा विचित्र दृश्य दिखाई दिया। इसके पूर्व तो कार्यकर्ता छोटा-छोटा काम करते थे— मतदाताओं के नाम लिखना, पर्चियां बांटना, दरियां उठाना, कुर्सियां लगाना आदि। किन्तु इस बार तो ऐसा दिखाई दिया कि जो कार्यकर्ता के नाते आते थे, वे नेता बन गए हैं। सामान्य प्रबन्ध देखना और निरीक्षण-परीक्षण करना सभी को प्रिय है। प्रत्यक्ष क्षेत्र में जो छोटा-छोटा कार्य करना है उसे कौन करेगा, वे इसकी फिक्र नहीं करते। यह सुनकर हमने कहा कि भाई, आपने जो बीज बोए हैं उसी का यह फल है।"

आदर्शवादी जीवन-मूल्य के प्रति प्रतिबद्ध लोगों का व्यवहार उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से हमारे सामने किस तरह आता है, इस सम्बन्ध में तिलक जी का एक और उदाहरण देता हूं।

उनके जीवन में एक बिल्कुल छोटी सी घटना १९१६ में लखनऊ में हुए कांग्रेस अधिवेशन की है। महाराष्ट्र और दक्षिण से भी उसमें प्रतिनिधि आए थे। अधिवेशन में चर्चा लम्बी चलने के कारण बड़ी देर से सोए। लेकिन सुबह हुई, लोग हाथ-मुंह धोने और स्नान आदि के लिए निकले तो उन्होंने देखा कि पानी गरम करने के लिए बड़े-बड़े बर्तन रखे थे। तिलक जी चूल्हा जला रहे थे। लोगों ने उनसे पूछा "आप चूल्हा क्यों फूंक रहे हैं?" तो तिलक जी ने कहा, "भाई, लखनऊ के लोग इस बात को समझ नहीं पाएंगे कि जो प्रतिनिधि दक्षिण के प्रदेशों से यहां आए हैं, वे इस सर्दी को सह नहीं सकेंगे। उत्तर का जाड़ा उन्हें बर्दाश्त नहीं होगा। नहा-धोकर बैठक में जल्दी पहुंचना है। इसलिए पानी गरम कर रहा हूं।" आज के नेता क्या व्यवस्था सम्बन्धी इतनी चिंता कर सकते हैं? छोटी-छोटी बातों का और स्वयं परिश्रम करने का इतना ध्यान रखना क्या उन्हें जम सकेगा? "नेताजी" तो जोड़-तोड़ में इतने फंसे रहते हैं कि ये सब बातें उनके लिए निरर्थक हैं।

हिन्दुस्थान की राष्ट्रभक्ति से प्रेरणा और संस्कार पाकर समाज के विभिन्न क्षेत्रों में पुनः एक नई शक्ति का जागरण हो रहा है। इस जागरण की वेला में यशस्वी होने के बाद हमारी मनोवृत्ति कैसी रहनी चाहिए इस दृष्टि से प्रथम बाजीराव का उदाहरण अनुकरणीय है।

वे उत्तर दिग्विजय करना चाहते थे। किन्तु हिन्दवी स्वराज्य नया-नया था और दिग्विजय के लिए आवश्यक साधन-सामग्री स्वराज्य में उपलब्ध नहीं थी। इस कारण शाहू छत्रपति बाजीराव को उत्तर दिग्विजय करने की अनुमति नहीं दे रहे थे। उस समय छत्रपति को बाजीराव ने लिखा कि "आप हमें दिग्विजय करने की केवल अनुज्ञा दीजिए। सेना खड़ी करने और आवश्यक कोष निर्माण करने का काम हम कर लेंगे। श्रेष्ठ पूर्वजों का नाम लेना और उनके समान पराक्रम न करना, यह बात हमारे लिए शोभादायक नहीं है। हम सब कुछ कर लेंगे। आपके आशीर्वाद से हम हिन्दुस्थान जीत लेंगे।"

दिग्विजय के पश्चात् भी वे अपनी मूल भूमि को भूले नहीं। वे कहते हैं, यहां के लोग हमें "स्वामी", "स्वामी" ऐसा पुकारते हैं। हम "स्वामी" कैसे? हमारे स्वामी तो वहां (सतारा में) बैठे हुए हैं। जब तक यह भूमिका कायम रही, तब तक हिन्दवी स्वराज्य का विस्तार होता गया। जिस दिन यह मनोवृत्ति बदली, उसी दिन साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हुआ।

जब तक अहंकार रहा है, शक्ति भी एकत्र नहीं की जा सकती। यदि दो निरहंकारी व्यक्तियों की शक्ति १ + १ = ११ हो जाती है तो अहंकार के कारण यही शक्ति दशमलव एक-एक (.११) अर्थात् एक से भी कम हो जाती है। कुशल संगठन सदा इस विचार को ध्यान में रखता है। इस दृष्टि से मुहम्मद पैगम्बर साहब के जीवन की एक बहुत रोचक घटना है।

उनके यहां परिवार में असंतोष रहता था। असंतोष का कारण था उनका अपने लिए कुछ भी एकत्रित करके न रखने का स्वभाव। जब कभी लड़ाई होता थी तो लड़ाई में जीत के बाद लूट से जो सम्पत्ति मिलती थी, उसे सरदार आपस में बांट लेते थे। मुहम्मद साहब उसमें से कुछ नहीं लेते थे। इस कारण वे गरीब थे। उनके सरदार उनकी तुलना में धनी थे। गरीबी इतनी थी कि रात के

समय दीपक भी नहीं जला सकते थे। इसलिए वे खजूर आदि ऐसा ही भोजन रखते थे जो अंधेरे में खाया जा सके। बाद में उनके जीवन की सबसे बड़ी और पहली यशस्वी लड़ाई हुई, जिसको बद्र का युद्ध कहा जाता है। इस लड़ाई में विजय के साथ-साथ लूट में काफी माल भी प्राप्त हुआ। उसे देखकर उनकी पत्नियों में चर्चा हुई कि "हमेशा तो ये अपना हिस्सा नहीं लेते। लेकिन अब उनको कहा जाए कि कम से कम इस बार तो वह अपना हिस्सा लें। इससे हम लोगों को पारिवारिक सुविधा होगी।" इसलिए उनकी सबसे प्रिय पत्नी आयशा के नेतृत्व में उनकी पत्नियां उनसे मिलीं और कहा कि "इस बार लूट में से आप भी अपना हिस्सा ले लीजिए।" यह सुनकर मुहम्मद साहब ने कहा कि जहां तक हिस्सा लेने की बात है, यदि सम्पूर्ण सम्पत्ति मैं अपने पास रख लूं तो भी कोई आपत्ति उठाने वाला नहीं है। मैं पूरी सम्पत्ति लेकर आपके जिम्मे दे देता हूं। आप आपस में बंटवारा कर लें। केवल एक शर्त है कि एक बार मैंने यह सारी सम्पत्ति लेकर आपको दे दी और आपने उसे आपस में बांट लिया तो उसके बाद यह कहने का अधिकार आप में से किसी को नहीं रहेगा कि "मैं पैगम्बर की पत्नी हूं।" यह सुनते ही वे सब असमंजस में आ गईं। थोड़ा विचार किया और कहा कि "नहीं, हमें सम्पत्ति नहीं चाहिए। हम हमारी मांग वापस लेती हैं।" यह छोटा-सा उदाहरण, जिन्हें संगठन करना, बड़ा काम करना है, उनके लिए यह विचार अच्छी प्रेरणा और समुचित दिशा दे सकता है।

आदर्शवादी व्यक्ति को अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन का ध्यान नहीं रहता। उसके पास अपना काम करने के लिए समय ही नहीं होता। अपना निज का कुछ करने की इच्छा ही नहीं होती। वह पूरी शक्ति से यह प्रयास करता है और उसकी यह प्रबल इच्छा होती है कि दूसरों का जीवन सफल हो, उनको सुविधाएं मिलें, उनका आर्थिक जीवन उन्नत हो। अपने लिए कठोर, लेकिन दूसरों के लिए मृदु। जब दूसरों का दुःख देखकर उनके हृदय में पीड़ा होगी तभी वह यह काम कर सकेगा। "वैष्णव जन तो तेणे कहिए जो पीर पराई जाणे रे"। पराई पीर समझने वालों को अपनी पीड़ा मालूम नहीं होती, क्योंकि अपने प्रति उनके जीवन का व्यवहार कठोर होता है। अपने साथ अपना व्यवहार कठोर होना कितनी बड़ी बात है। हम तो अपना कार्य करते हैं, दूसरों का क्या होता है उसकी चिंता क्या करना, ऐसा सोचने वाला वैष्णव जन नहीं कहलाता। वैष्णव जन वह होता है जो खुद के बारे में अतीव कठोर हो और दूसरों के बारे में अति मृदु हो। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि"—फूल से भी मृदु, वज्र से भी कठोर व्यक्ति ही महान कार्य कर सकता है।

गांधी जी के जीवन की एक घटना है। परचुरे शास्त्री उनके एक अनुयायी थे। अच्छे विद्वान, शास्त्री पंडित थे। उन्हें कोढ़ हो गया था। गांधी जी ने उनको अपने पास आश्रम में रहने के लिए बुलाया। स्वयं कुष्ठ रोग से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना शुरू किया। उसमें एक बात आई कि जैतून के तेल की मालिश करने से कोढ़ कुछ कम हो सकता है। मालिश करने का काम गांधी जी ने स्वयं अपने हाथ में लिया। वे हर तीसरे दिन उनकी मालिश करते थे। उस समय सत्ता के हस्तान्तरण की चर्चा अंग्रेजों के साथ चल रही थी। लार्ड माउन्टबेटन के साथ चर्चा करने के लिए

गांधी जी दिल्ली आए थे। शास्त्री की मालिश करने का समय क्रम तय था। उसके अनुसार दिल्ली से वापसी का आरक्षण गांधी जी ने करा रखा था। परन्तु इसमें शक था कि ट्रेन के समय तक यह चर्चा पूरी होगी या नहीं होगी। सत्ता हस्तान्तरण जैसी महत्वपूर्ण बातचीत के लिए दिल्ली जाते हुए भी महात्मा गांधी स्वयं के लिए निर्धारित मालिश के काम को नहीं भूले। इतना ही नहीं, दिल्ली पहुंचकर उन्होंने लार्ड माउंटबेटन को कहा कि मुझे इस ट्रेन से वापस जाना है। उस समय तक चर्चा हुई तो ठीक है, वरना इसका समय बढ़ाना होगा।

सोचने की बात यह है कि गांधी जी ने अपने एक अनुयायी की मालिश को इतना महत्व क्यों दिया? उनमें सत्ता पर अधिकार जमाने की लालसा होती तो उनका व्यवहार अलग होता। क्या आज के नेतागण इस प्रकार का व्यवहार करते दिखाई देते हैं?

गांधी जी ने अपना स्वाभाविक कर्तव्य समझकर यह जो कार्य किया, उसके पीछे महत्वपूर्ण बात है जीवन-मूल्य। फोटो खिंचवाने और नाम कमाने की भावना इसमें नहीं है। मैंने आरम्भ में जीवन-मूल्य के नाते मुहम्मद पैगम्बर का नाम लिया था। उनके जीवन में आता है कि मदीना में पहली बार बड़ी मस्जिद बनाने का जब उपक्रम शुरू हुआ तो उस समय अपने अन्य साथियों के साथ सिर पर पत्थर उठाकर ले जाने का काम स्वयं मुहम्मद साहब ने भी किया था। उन्होंने यह नहीं सोचा कि "मैं नेता हूं, बाकी लोग काम करें और मैं सामान्य प्रबन्ध और निरीक्षण का काम करूंगा।" यह बात नहीं थी कि यदि वह ऐसा करते तो किसी के मन में उनके प्रति नाराजी आ जाती। ईसा मसीह केजीवन के अन्तिम दिनों की जो घटनाएं हैं उनमें आता है कि एक बार अपने शिष्यों के साथ किसी के यहां भोजन के लिए गए। उनका अन्तिम भोजन (Last supper) बहुत प्रसिद्ध है। वहां जाकर भोजन के लिए बैठे तो उनके ख्याल में एक बात आई कि नेता के पास पहुंचने की होड़ सी लगी है। सभी इस कोशिश में थे कि भोजन के समय नेता के साथ कौन बैठे। इस कारण आज के सार्वजनिक जीवन जैसा दृश्य वहां भी उपस्थित हुआ। अर्थात् एक-दूसरे को धक्का देकर घुसने की कोशिश जारी थी। यह देखकर उन्हें अतीव दुःख हुआ। बोले, "भाई, जरा हम सब लोग खड़े हो जाएं।" और जिसका मकान था उसे कहा, "पानी की बाल्टी और तौलिया ले आइए।" फिर अपने एक-एक शिष्य को बुलाया, पानी से उसके पैर स्वयं अपने हाथों से धोए, तौलिए से अपने हाथ से एक-एक के पैर पोंछे फिर पूछा "यह मैंने क्यों किया, इसका आपको पता है क्या? यह सब मैंने इसलिए किया है कि आप सबक सीख सकें कि जिस तरह का प्रेम और व्यवहार मैं आपके साथ करता हूं, उसी तरह का व्यवहार आप आपस में रखें ताकि दुनिया पहचाने कि आप मेरे हैं।"

हमारे इतिहास में नेतृत्व का सबसे अच्छा उदाहरण भगवान श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत किया था। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ की एक घटना है। बहुत बड़ा समारोह था। उसमें तरह-तरह के विभाग संभालने की आवश्यकता थी। पाण्डवों ने सबसे पूछा कि " भाई, तुम कौन सा विभाग देखोगे? हरेक ने अपनी-अपनी इच्छा का विभाग ले लिया। जब श्रीकृष्ण से पूछा गया तो उन्होंने कहा, "मैं भोजन होने के पश्चात जूठन उठाने का काम करूंगा।" अर्थात् चक्रवर्तियों का नेतृत्व करने वाला पुरुष जूठी पत्तलें उठाने का काम स्वयं मांग लेता है।

अपने सामने ये दो तरह के जीवन-मूल्य हैं। इनमें से हमें यह देखना है कि जो एक विशाल ध्येय हमने अपने सामने रखा है, उसको यदि प्राप्त करना है, राष्ट्र निर्माण करना है तो इन दोनों जीवन-मूल्यों में से कौन-सा जीवन-मूल्य हम अपनाएं? हमें यह देखना होगा कि "सामूहिक नेतृत्व" के नाते हममें से हर एक का जीवन-मूल्य क्या हो? किस तरह के नेतृत्व की अपेक्षा बड़े काम में हुआ करती है? केवल पद और स्थान के कारण मिलने वाला बड़प्पन वास्तविक बड़प्पन नहीं है। वास्तविक बड़प्पन पद और स्थान पर अवलम्बित नहीं होता। वह अन्तर्गत मूल्यों पर आधारित है। उसका आधार है व्यक्ति की आन्तरिक योग्यता, वही व्यक्ति के कार्य, विचार और व्यवहार का वास्तविक मानदण्ड होता है।

११. आदर्श वीरव्रती

यह वसुंधरा वीरप्रसवा है।

इसके वीरों की गिनती कौन कर सकता है?

वैदिक साहित्य में जिनके पराक्रमों, उपलब्धियों का वर्णन है वे व्यक्ति। वाल्मीकि, व्यास, होमर, प्लूटार्क आदि से लेकर अत्याधुनिक इतिहासकारों-चरित्रकारों ने जिनका गुणगान किया है वे सभी लोग।

संसार के विभिन्न भागों की लोककथाओं, लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोकनाट्यों के वर्ण्य-विषय बने हुए नायक-नायिकाएं; अपनी श्रेष्ठ भूमिका के कारण व्यक्ति तथा राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों को गौरव प्रदान करने वाले कर्मवीर— फिर वह देश परिचयात्मक कर्म का हो, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य का हो, क्षात्र धर्म का हो या अध्ययन, अध्यापन, अन्वेषण तथा शास्त्र, कला दर्शन के निर्माण-संवर्धन का हो।

हिन्दू संस्कृति अर्थात् विश्व संस्कृति के निर्माता, हिन्दू धर्म अर्थात् विश्व धर्म के द्रष्टा, बार-बार युगानुकूल समाज परिवर्तन द्वारा समाज धारणा करने वाले अवतारी पुरुष परिव्राट।

मानव जाति को तम से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले जाने का प्रयास करने वाले सभी देशों तथा कालखण्डों के आध्यात्मिक महापुरुष।

दिग्विजयी सेनानी, सम्राट तथा उनको तुच्छ सिद्ध करने वाले आत्मविजयी सूर्यमण्डलभेदी परिव्राट।

" स्वदेशों भुवनत्रयम् " का साक्षात्कार करने वाले विश्व नागरिक।

सभी ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्मयोगी।

इस "निरवधि काल" के प्रवाह में "विपुला पृथ्वी" के हर एक भाग में निर्माण हुए अलौकिक कर्तृत्व के असंख्य धनी।

इन सब वीरों की गिनती करना असंभव है।

जगज्जननी भारतमाता की वीर संतानों का अत्यल्प उल्लेख "एकात्मतास्तोत्र" में आता है,

किन्तु उसका स्वरूप प्रतिनिधित्व का, प्रतीकात्मकता का है, सर्वंकषत्व का नहीं।

* * * *

"वीर" संज्ञा के उच्चारण से विभिन्न मनों से निर्माण होने वाली प्रतिमा एक जैसी नहीं होती वैसे भी नीत्शे का "सुपमैन" कार्लाइल के "हीरो" से भिन्न है और ऋषि अरविंद की संकल्पना का भावी मानव नीत्शे के "सुपरमैन" से।

आज सर्वसाधारण व्यक्ति कार्लाइल के "हीरो" को भी पूरी तरह से नहीं समझ सकता। उसकी दृष्टि से लिओनार्दो, मायकेल एंजलो, मोजार्ट, और बीदोवीन आदि वीरों की श्रेणी में नहीं आते।

वह सेंट फ्रांसिस ऑफ असीसी, फादर डर्मीयन, राबर्ट काक, हनसेन, जान इंटर को "वीर" नहीं मानता।

शास्त्रज्ञों, मर्मज्ञों, दार्शनिकों, समाज सुधारकों को वह श्रेष्ठ तो मानता है, उनका यथोचित सम्मान भी करता है, किन्तु उनको "वीर" कहना उसे अटपटा सा लगता है।

जोन ऑफ आर्क की वीरता वादातीत है, किन्तु फ्लोरेंस नाइटिंगेल को "वीर" कैसे कहा जा सकता है?

सिकंदर, सीजर, हानिवॉल, चंगेज खां, अटिल्ला, तैमूरलंग, विलियम दि कांकरर, फ्रेडरिक दि ग्रेट आदि को "वीर" उपाधि से वंचित रखना अन्याय होगा, किन्तु गौतम बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, नानकदेव, कन्फ्यूशियस आदि को किस निकर्ष पर "वीर" घोषित किया जा सकता है? आल्हा-ऊदल, तच्चोल, उदयन या रुस्तम-सोहराब निस्संदेह वीर थे, किन्तु तुलसीदास, एलतेशन या जरथ्रुष को उस श्रेणी में कैसे रखा जा सकता है?

वह समझ सकता है वीरता गारिबाल्डी की, मैझिनी की नहीं। बिस्मार्क की, गेटे की नहीं। वाशिंगटन-लिंकन की, बेंजामिन फ्रेंकलिन-जैफरसन की नहीं। नेपोलियन की रूसो-वाल्टेयर की नहीं। मार्शल जुकोव की, मैक्सिम गोर्की की नहीं।

कैनेडी के "प्रोफाइल इन करेज" के नायकों के समान ये सभी महापुरुष थे इसमें संदेह नहीं, किन्तु "वीर" शब्द से जो प्रतिमा सामान्य व्यक्ति के मन में उभरकर आती है, उससे मेल खाने वाले चेहरे इन महापुरुषों के नहीं हैं।

फिर व्याधियों या प्राकृतिक विपदाओं से ग्रस्त लोगों की सेवा करने वाले स्वयंसेवी; गरीबी में कुशलता से कष्टपूर्वक गृहस्थी का सफल संचालन करने वाली गृहिणियां; अपंग अवस्था के बावजूद शिक्षा तथा रोजगार प्राप्त करने वाले युवक; अपना-अपना नियत कार्यःकारीगरी, दस्तकारी, किसानी, दुकानदारी, नौकरी आदि अधिकतम कुशलतापूर्वक करने की लगन से दिन-रात परिश्रम करने वाले लोग; "कल रोटी कैसे मिलेगी?" यह चिंता मन में होते हुए भी खुद का और परिवार वालों का हौसला बांधने वाले उपेक्षित बेरोजगार आदि को "वीर" की परिधि में लाने का विचार सर्वसाधरणा व्यक्ति के मन में कैसे आ सकता है? सम्युअल स्माइल्स का यह

उपदेश उसको जंचना संभव ही नहीं कि "यह मत सोचो कि जीवन में तुम्हें प्राप्त होने वाला काम कितना छोटा है बल्कि उसमें श्रेष्ठतम उपलब्धि प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयास करो। लोगों के जूतों की पालिश करने का ही काम तुम क्यों न कर रहे हो, किन्तु वही काम इतने अच्छे ढंग से करने की आकांक्षा रखो जिससे कि लोग परिणामस्वरूप कहें कि तुम "नेपोलियन ऑफ शू शाइंस" अर्थात् "चमकदार जूता पालिश" करने में नेपोलियन हो।

* * * *

गीता में " दैवी संपद् " का वर्णन करते समय जिस सद्गुण को प्रथम क्रमांक दिया गया है, वह है "अभयम् "। यह निश्चित है कि इस सद्गुण का चर्मचक्षु से दिख सकने वाला आविष्कार शारीरिक स्वरूप का ही होगा। क्योंकि इसका मानसिक, बौद्धिक या आत्मिक स्तर का आविष्कार चर्मचक्षु से देख पाना संभव नहीं है। इस कारण "वीरता" का मानसिक साहचर्य सामान्य जनमानस में शारीरिक पराक्रम से ही हो पाता है। यह अनुमान भी लगाना क्वचित् ही संभव होता है कि इसका स्रोत पराक्रमी पुरुष के मन में होगा तो भी दृश्य आविष्कार शारीरिक स्तर का ही होता है। वही प्रथम प्रभावित करता है।

उदाहरणार्थ, किसी ने प्रभु रामचन्द्र जी के समान यदि यह वृत्ति प्रकट की कि "मैं टूट सकता हूं, किन्तु झुक नहीं सकता", तो उसके विषय में स्वाभाविक रूप से श्रद्धा एवं आदर की भावना निर्माण होती है।

"अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे— न दैन्यं न पलायनम्, देहं वा पातेयम्—अर्थं वा साधयेयम् " की तरह के वचन दुर्बल मन को भी क्षण मात्र में सबल बना सकते हैं। परशुराम का शत्रुओं को आवाहन था कि "तुम पहले मेरे ऊपर प्रहार करो, पहले मेरी तरफ चाप खींचो, शत्रु प्रथम मेरे ऊपर प्रहार करे, यही मैं पसंद करता हूं।

"प्रहर नमतु चापम्— प्राक्प्रहारप्रियोऽहम् ", "मयि तु कृतनिधाने— किं विदध्याः परेण।" क्योंकि यदि मैं पहले आघात करूंगा तो उसका उत्तर प्रत्याघात से देने के लिए शत्रु बचेगा ही नहीं' आत्मविश्वास का यह आविष्कार कायर को भी क्षण भर के लिए शूर बना सकता है। महाकवि बाण ने प्रतिज्ञा ग्रहण करने वाले वीरपुरुष के विषय में कहा है कि प्रतिज्ञा करने वाले वीर पुरुष के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी आंगन है, महासागर नाला मात्र है, पाताल समतल स्थल के समान और सुमेरू पर्वत बांबी के समान है।

"आंगनवेदी वसुधा, कुल्या जलधिः, स्थली च पातालम्, वाल्मीकश्च समेरूः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य।"

यह वर्णन अत्यंत ही स्फूर्तिदायक है परन्तु है शारीरिक स्तर पर। इस आविष्कार का प्रेरणा-स्रोत वीरमानस है, यह अनुमान सामान्यजन धीरे-धीरे लगा सकते हैं।

बोलिविया के जंगलों में व्याधिग्रस्त होते हुए भी गुरिल्ला युद्ध का नेतृत्व करने वाले वे चे-ग्वेवारा; आपत्काल में भीषण रोग से पीड़ित होते हुए भी लोकसंघर्ष का मार्गदर्शन करने वाले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाहक स्व. माधवराव मूल्ये; गिरफ्तार होते समय केवल आक्सीजन सिलेंडर जिनके पास मिला, वे नक्सलवादी सम्प्रदाय के प्रणेता चारू मजूमदार आदि की अवस्था शारीरिक दृष्टि से स्पृहणीय नहीं थी।

कैंसर जैसे रोग से विकल होने के बाद भी अपना नियत कर्म यथापूर्व करते रहने वाले श्री रामकृष्ण परमहंस, श्री रमण महर्षि, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री गुरुजी, कोमल आयु में मृत्यु को आलिंगन करने वाले खुदीराम बोस, श्री अनन्त कान्हेरे जैसे क्रान्तिकारी; रोग की स्थिति गम्भीर होते हुए भी पैरोल की बात न मानने वाले सत्याग्रही; अपना जीवन कार्य अब पूरा हो चुका है, इस विचार के कारण स्वातंत्र्य वीर सावरकर जी के समान "आत्मविसर्जन" करने वाले वार्धक्यग्रस्त ध्येयवादी लोग— इन सबके उदाहरण इसी तथ्य के परिचायक हैं। इसी कारण नाई के उस्तरे से थोड़ा सा भी कट जाने के बाद "सू-सू" करने वाले बापू गोखले लड़ाई के मैदान में मरने-मारने का काम कर सकते थे। इसी कारण जौहर संभव हुए। इसी कारण दशम गुरु के पुत्र फतेह सिंह, जोरावर सिंह आत्मोत्सर्ग कर सके। इसी कारण हरीश भनोत की बेटी नीरजा हवाई जहाज में अद्भूत स्थितप्रज्ञता का व्यवहार कर सकी।

वीरता का वास्तविक स्रोत आंतरिक है। उसका आविष्कार मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक स्तरों पर भी होता रहता है।

संघ कार्य में रत, प्रसिद्धिपराङ्मुख कर्मयोगी कार्यकर्तागण, 'तत्सुखसुखित्वम्" का आदर्श चरितार्थ करने वाली भक्तियोगी ब्रजगोपिकाएं; मृत्यु के समय भी निग्रहपूर्वक "पिलवः पिलवः" की रट लगाने वाले ज्ञानयोगी कणाद के समान दार्शनिक; **"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"** सिद्धान्त को प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने के लिए अपने सामान्य प्रापंचिक जीवन में "योगः कर्मसु कौशलम्" का परिचय देने वाले सभी व्यावहारिक जीव इस श्रेणी में आते हैं।

"वीरता" की संकल्पना बहुआयामी तथा बहुस्तरीय है।

इसका एक आयाम "कालावधि" भी है— तात्कालिक, जीवन-व्यापी; क्षणिक; चिरकालिक, प्रासंगिक उद्रेक, प्राकृतिक स्थायी स्वभाव।

यह सही है कि एकाध बार, भीष्म के शरसंधान से स्तंभित अर्जुन के समान बड़े-बड़े सूरमा भी क्षण-दो-क्षण के लिए स्तंभित हो सकते हैं, और दूसरी ओर क्षणिक आवेश में आकर प्रसंगोपात कायर भी प्रासंगिक वीरता प्रकट कर सकते हैं। किन्तु नियम रूप से यही कहा जा सकता है कि प्रासंगिक वीरता और स्थायी वीरवृति, दोनों अलग-अलग बातें हैं। कहा गया है कि समविचारी समूह के बीच कायर भी वीर बन जाता है, किन्तु कारागार में अफ्रीकी मंडेला नेता नेल्सन के समान, विजनवासन में मैझिनी के समान या विषम लड़ाई में अकेलापन महसूस करते हुए भी बाजीप्रभु,

लिओनिडस या होराशिओ के समान वीरत्व कायम रखना अत्यंत कठिन है। यह अनिवार्य नहीं है कि प्रासंगिक वीरों में स्थायी वीरवृति पाई ही जाए। यही कारण है कि विविध सामूहिक आन्दोलनों में त्यागपूर्वक सहभागी होने वाले कार्यकर्ताओं का अगला जीवन निराशाजनक दिखाई देता है। ध्येयवाद के लिए प्रासंगिक वीरता नहीं, वीरवृत्ति अभिप्रेत है।

किन्तु इस वीरवृत्ति की जड़ें गहरी न रहीं तो प्रसंगवश विपरीत प्रतिक्रिया भी हो सकती है। स्काटलैंड के राजा राबर्ट ब्रूस की, हमारे राणा प्रताप की या यहूदियों के मोजेस की गिनती संसार के श्रेष्ठ वीरों में होती है। वीरवृत्ति उनका स्थायी स्वभाव था। उनके विषय में यह कहा जा सकता है कि तूफान कितना ही प्रबल क्यों न हो, वह वृक्षों को उखाड़ कर क्यों न फेंक दे किन्तु हिमालय को हिला नहीं सकता। किन्तु यह सत्य है कि परिस्थिति के अति तीखे प्रहार ऐसे ही पुरुषों पर होते हैं। भट्ठी में परीक्षा सोने की ही ली जाती है, शीशे की नहीं। क्योंकि यह सर्वज्ञात है कि शीशे का पिघल जाना निश्चित है। श्रीराम प्रभु के समान इस प्रकार के व्यक्तियों पर ही यह कहने की बारी आती है **"दुःखस्य सहनायैव रामे चेतन्यमाहित्।"**

और इस प्रकार की स्थिति में एकाध बार क्षणिक आत्मग्लानि का अनुभव होना असम्भव नहीं है। सिर पर कफन बांधकर चलने वाले, और सरफरोशी की तमन्ना रखने वाले व्यक्ति के जीवन में एकाध क्षण ऐसा आ सकता है।

परन्तु इस प्रकार की परीक्षा के समय उनको आत्मग्लानि से बचाने वाला तत्व भी है। गुफा में छिपकर बैठे हुए राबर्ट ब्रूस के लिए मकड़ी का सातत्यपूर्ण प्रयास; जंगल में भटकने वाले राणा प्रताप के लिए कवि मित्र का पत्र; लाल समुद्र और शत्रु सेना के बीच असहाय अवस्था में फंसे हुए मोजेस के लिए दृष्टान्त का आभास; ये सब दर्शनी और निमित्त मात्र थे। इन सबका कोई असर न होता यदि उनकी वीरवृत्ति की जड़ें गहराई तक न पहुंचती हुई होतीं। यह गहराई आत्मिक स्तर की है। इस स्तर तक जिनकी वीरवृत्ति पहुंची है, वे ही वीरव्रती हो सकते हैं। आत्मिक वीरवृत्ति ही वीरव्रत का स्रोत है। इस वीरव्रत के कारण ही सच्चे वीरपुरुष अपरिहार्य आत्मग्लानि से स्वयं को ऊपर उठा सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आत्मिक वीरव्रत ही उन्हें परीक्षा की भट्ठी में से और अधिक चमकदार बनाकर बाहर निकालता रहता है। इसी वीरव्रत को समुत्कर्ष निःश्रेयस का एकमात्र उग्र साधन बताया गया है।

वीरवृत्ति को आत्मिक स्तर तक पहुंचाने की प्रक्रिया सभी धर्मग्रंथों में दी गई है। श्रीमद्भगवद्गीता ने सभी शास्त्रों का दोहन करते हुए उसका निचोड़ संक्षेप में मानव जाति के सामने रखा है। गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ के लक्षण शताब्दियों से संसार के सभी लोगों के लिए आत्मविकास का मार्गदर्शन करते आए हैं। धर्मशास्त्र तथा गीता के रहते हुए इस विषय में कोई अन्य भाष्य करना धृष्टता है। ध्रुव तारे की ओर देखकर ही पूर्वकाल में लोग दिशाबोध प्राप्त करते थे। गीता में आदर्श वीरव्रती का वर्णन ध्रुव तारे के समान है। उसी ध्रुव तारे की ओर अपनी दृष्टि निश्चल रखते हुए ही मार्गक्रमण करना सबके लिए श्रेयस्कर है। योगेश्वर श्री कृष्ण द्वारा गीता में वर्णित वीरव्रती हैं :

"मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते।।

अर्थात् आसक्ति रहित, अहंकारशून्य, धैर्य और उत्साह से युक्त कार्य की सफलता या असफलता से हर्ष और शोक आदि के विकास से मुक्त व्यक्ति ही सात्विक व्यक्ति है। वीरव्रतियों को परख करने की यही एकमेव कसौटी है।

१२. एक सम्पूर्ण राष्ट्र की संकल्पना

हम यदि अपने राष्ट्र का स्वरूप समझना चाहते हैं तो हमें सर्वप्रथम मैकाले और उनके मानसपुत्रों की सिखाई हुई गलत बातें भूलनी होंगी। यह सर्वविदित है कि हिन्दुओं में आत्मविश्वास का अभाव निर्माण करने की दृष्टि से ही हमारा सारा इतिहास प्रस्तुत किया गया। हिन्दू यदि अपना सही इतिहास जान लेंगे तो उनमें आत्मगौरव का भाव जाग्रत होगा, फिर अंग्रेजों का यहां रहना संभव नहीं होगा। अतएव अंग्रेजों की सत्ता बनी रहे इस उद्देश्य से सम्पूर्ण भारतीय इतिहास का विकृतिकरण किया गया।

पाश्चिमात्य लोगों ने अपने अहंकार के कारण दूसरी बात यह कही कि पश्चिमी देशों के इतिहास का जो विकासक्रम है वही विकासक्रम संसार के हर देश और हर समाज का भी होना चाहिए। ऐतिहासिक विकास का और कोई दूसरा ढंग या कोई चित्र हो ही नहीं सकता।

पश्चिम में पहले सर्वसत्तावादी राजशाही थी। इसलिए उन्होंने कहा कि हिन्दुस्थान में भी ऐसा ही है। वास्तव में हिन्दुस्थान में सर्वसत्तावादी राजतंत्र नाम की व्यवस्था कभी नहीं रही। हां, अहिन्दुओं के सम्पर्क में आने के पश्चात उनमें जो सर्वसत्तावादी पद्धति थी उसकी थोड़ी-बहुत नकल हमारे यहां के राजाओं ने की। हमारे देश में हजारों साल तक विभिन्न शासन प्रणालियां तो रहीं, किन्तु सर्वसत्तावादी राजतंत्र नाम की प्रणाली कभी नहीं रही।

यूरोप के आरम्भिक विकासक्रम में सामंतशाही रही, इसलिए उन्होंने सोचा कि हिन्दुस्थान में भी सामंतशाही रही होगी। वास्तव में हमारे देश में सामंतशाही जैसी कोई रचना नहीं थी। हां, लार्ड कार्नवालिस द्वारा परमानेंट सेटलमेंट लाने के पश्चात सामंतशाही का सीमित स्वरूप यहां दिखाई दिया। अब तो यह बात कम्युनिस्टों को भी माननी पड़ रही है और इसीलिए अब उन्हें सामंतशाही पद्धति कहने के बजाय उसको एक अलग नाम देने के लिए उसे एशियाई सामाजिक व्यवस्था कहा। किन्तु यह प्रचार सदा चलता रहा, क्योंकि यूरोप में भी सामंतशाही थी, इसलिए हिन्दुस्तान में भी रही होगी या होनी चाहिए।

जहां तक धर्म का प्रश्न है, हम सब जानते हैं कि हमारे यहां के "धर्म" शब्द के समकक्ष पश्चिम में कोई भी शब्द नहीं है। गलती से "धर्म" का भाषांतर "रिलीजन" किया गया। यह विषय भी बहुत

चर्चित है, इसकी अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन पश्चिम में रिलीजन की भूमिका अन्य प्रकार की थी, धर्म की वही भूमिका हमारे यहां भी होगी, यह समझकर उसका आरोपण हमारे सांस्कृतिक इतिहास पर किया गया। वास्तव में रोमन कैथोलिक चर्च सम्पूर्ण यूरोप में छाया था। उसका प्रभुत्व न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में अपितु भौतिक क्षेत्र में भी था। सब लोगों को, यहां तक कि वहां के राजाओं को भी, उसका प्रभुत्व मानना पड़ता था। लेकिन इस तरह की कोई रचना हमारे यहां नहीं रही। हमारे यहां पुरोहित तो थे। किन्तु संगठित चर्च जैसा कुछ भी नहीं था, और इस कारण संगठित चर्च के फलस्वरूप जो दुष्परिणाम होते हैं वे दुष्परिणाम हमारे यहां कभी नहीं हुए।

हमारी रचना के अंगभूत दुष्परिणाम हो सकते हैं लेकिन पश्चिम की तरह की बात नहीं थी। यहां धर्म के क्षेत्र की प्रमुख विचारधारा से मतभेद रखने वाले कुछ विचार दिखे तो एकदम कहा गया कि जैसे पश्चिम में कैथोलिक चर्च के खिलाफ प्रोटेस्टेंट विद्रोह हुआ वैसे ही यहां भी हुआ होगा। वास्तव में यहां विद्रोह हुए ही नहीं, क्योंकि यहां संगठित चर्च नहीं था। यहां अलग-अलग विचारधाराएं हमेशा रही हैं। विविधता में एकता रही है और इसके कारण कहीं बौद्ध, कहीं जैन और कहीं सिख विचारधारा का प्रभाव रहा।यहां तक कि उस भौतिकवाद का दर्शन भी काफी मात्रा में हमारे यहां रहा है जिसको "लोकायत" कहा गया। किन्तु ये मतमतांतर एक-दूसरे के विद्रोह के रूप में नहीं थे। सभी विचारधाराओं में सह-अस्तित्व था। पाश्चिमात्य पंडित इस बात को इसलिए नहीं समझ सकते, क्योंकि उनके यहां सम्पूर्ण यूरोप को व्याप्त करने वाला एक संगठित चर्च था, और उसके खिलाफ विद्रोह हो गया तो उन्होंने भारत में भी वही बात लागू कर दी।

"साहब वाक्यं प्रमाणम्" की मनोवृत्ति के कारण हमारे देश के पढ़े-लिखे लोगों ने पश्चिम के देशों के इतिहास के विकासक्रम को अपना भी विकासक्रम मान लिया। ऐसे कई उदाहरण दिए जा सकते है जिनमें हमारे इतिहास के विकासक्रम की धारा उनके ऐतिहासिक विकासक्रम से भिन्न है। लेकिन इस मूल बात को भुलाकर पश्चिमी विकासक्रम के प्रकाश में हमारी सारी रचना बनाई गई। हमें आत्मविस्मृत करने के लिए यह गलत बात जानबूझकर हमारे ऊपर थोपी गई।

एक तीसरी बात भी है। हमारे विद्वान लोगों पर संस्कार डाला गया कि हिन्दुस्थान में तो कुछ भी नहीं था, जो कुछ है वह पश्चिम में है। तभी तो यहां हमारा साम्राज्य है। तुम्हारे अंदर क्षमता होती तो तुम भी हमारे जैसे साम्राज्य का निर्माण करते। मनुष्य जाति की प्रगति का अगर कहीं कोई नमूना है तो वह नमूना पश्चिम का है। वही पश्चिमी नमूना सभी स्थानों का और सभी देशों का होना चाहिए।

वास्तव में प्रत्येक समाज की अपनी एक संस्कृति होती है। उसकी संस्कृति के अनुरूप ही उसकी प्रगति का नमूना होता है। अंग्रेजी में एक शब्द है "पैराडाइम" अर्थात् सर्वमान्य उदाहरण। लेकिन किसी भी एक देश की प्रगति का नमूना सार्वलौकिक नमूना नहीं हो सकता। उस समय पश्चिमी साम्राज्य से हम लोग चकाचौंध हो चुके थे। अतः उन्होंने कहा और हमारे लोगों ने मान लिया कि पश्चिम की नकल करना अर्थात् प्रगति और प्रगतिशील होना है। आधुनिकीकरण

अर्थात् पाश्चिमात्य देशों की नकल, इस कारण एक गलत भाव पैदा हुआ और पश्चिम के मापदंड से हमारे देश की प्रगति को नापा जाने लाग। हमारे यहां वैचारिक संभ्रम निर्माण किया गया। लार्ड मैकाले के समय से लेकर अब तक जान-बूझकर नव स्वतंत्र अविकसित देशों में सभी श्वेत राष्ट्रों (साम्राज्यवादी) ने यह गलत प्रचार अभियान चलाया।

जब तक इस गलत प्रचार से हम अपने मन को मुक्त नहीं करते तब तक अपना सही विचार क्या है, इसे ठीक से समझ पाना हमारे लिए बहुत कठिन होगा। जैसे मैले कपड़े को पहले धोया जाता है, बाद में उसको रंग देना संभव होता है, वैसे ही अब तक जो गलत बातें हमें सिखाई गई हैं वे भूलनी होंगी और सही बातें क्या हैं उन्हें समझना और परखना होगा।

अब यह सोचने के लिए उपयुक्त समय आ गया है कि क्या पश्चिम की राष्ट्र अवधारणा और हमारी राष्ट्र संकल्पना दोनों की जाति एक ही है? क्या दोनों एक ही संकल्पना के नाम हैं? क्या "नेशन" और "राष्ट्र" को पर्यायवाची माना जा सकता है? श्री स्नायडर के "वेरायटीज ऑफ नेशनलिज्म" से तो यह स्पष्ट होता है कि पश्चिम में भी विभिन्न देशों की राष्ट्रीयता के मनोवैज्ञानिक अवयव तत्व एक जैसे नहीं हैं। अलग-अलग देशों का ऐतिहासिक विकास क्रम अलग-अलग ढंग का रहा है और अपने-अपने ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार अलग-अलग देशों में गुणात्मक दृष्टि से भिन्नता रखने वाली राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। किन्तु उस भावना को एक ही नाम दिया गया— राष्ट्रीयता। ऐतिहासिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होने के कारण यद्यपि यह भावना देश-सीमा तक मर्यादित रही तो भी इसके अवयव विभिन्न देशों में एक जैसे नहीं रहे। उनमें गुणात्मक भेद हैं। उनकी मनोवैज्ञानिक रचना और हमारी मनोरचना के तत्व एक समान ही होने चाहिएं, यह आग्रह उचित होगा क्या? इस संदर्भ में अब तक चलती आई शब्दों की गुलामी के बारे में पुनर्विचार आवश्यक है।

भारत में विकास का क्रम इस तरह रहा कि बिल्कुल प्रारंभ में यहां लोग तो थे, लेकिन संस्थाएं नहीं थीं। ऐसा कहा गया कि "विराड्वा इदमग्र आसीत् "। जो लोग थे वे भी तरह-तरह के थे। अथर्व वेद हमें बताता है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसं
सहस्रं धारा द्रविणस्य में दुहां
ध्रुवेव धेनुरनप्रस्फुरन्ती।।

(अथर्व १२-१-४५)

अर्थात् विभिन्न भाषाएं बोलने वाले, विभिन्न धर्मों अर्थात् स्वभाव-धर्म के लोगों को, विभिन्न प्रकारों से एक ही मकान में रहने वाले एक परिवार के लोगों के समान जो धारण करती है वह हमारी मातृभूमि बिना हिचकिचाहट दूध देने वाली गाय के समान धन की सहस्रों धाराएं हमें प्रदान करें। पहले अलग-अलग व्यक्ति थे। अथर्व वेद के अनुसार सर्वप्रथम परिवार संस्था का निर्माण हुआ।

"सा उद् क्रामत्— सा गार्हपत्ये न्यक्रामत।" (अथर्व ८-१०-२)

इसका अर्थ यह है कि विराट् स्थिति से उत्क्रान्ति हुई गार्हपत्य स्थिति में, अर्थात विवाह संस्था तथा परिवार संस्था का निर्माण हुआ। पहले गृहपति का निर्माण हुआ। उत्क्रांति की ओर अगली अवस्था भी अथर्व वेद में है— "सा उद् क्रामत्-सा आहवनीये न्याक्रामत्।" इस संस्था की उत्क्रान्ति आहवनीय संस्था में हुई जहां एक ही क्षेत्र में रहने वाले परिवारों के लोग एकत्रित होकर सामूहिक कार्य, यज्ञ आदि तथा विचार-विमर्श करने लगे। इससे अगली अवस्था सभा की थी जिनके सदस्य को सभ्य कहा जाता था।

सा उद् क्रामत सा सभायां न्यक्रामत्
यंति अस्य सभ्यो भवति।।

इस तरह स्थान-स्थान पर ग्राम सभाओं का निर्माण हुआ। उसकी उत्क्रान्ति राष्ट्र समिति में हुई। जो राष्ट्र समिति का सदस्य था उसे "सामित्य" की संज्ञा दी गई।

सा उद् क्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्
यंति अस्य समितिं सामित्यो भवति।।

जो राष्ट्र समिति थी उसकी उत्क्रांति आमंत्रण परिषद् में हुई। उसमें से मंत्रिमण्डल का निर्माण हुआ। उसके सदस्यों को "आमंत्रणीय" संज्ञा दी गई थी—

सा उद् क्रामत सामंत्रणे न्यक्रामत्
यंति अस्य आमंत्रणं आमंत्रणीयो भवति।।

इसके पश्चात् विभिन्न शासन प्रणालियों का हमारे यहां निर्माण हुआ। पश्चिम में दुराग्रह रहता है कि यदि कोई एक शासन प्रणाली चुन लेता है तो वही सारी दुनिया में सभी परिस्थितियों और सभी कालखण्डों के लिए उपयुक्त पद्धति है। लेकिन हमारे यहां ऐसा नहीं माना गया। यहां यह सोचा गया कि परिस्थितियों और मनोरचनाओं को देखकर अलग-अलग कालखण्डों में अलग-अलग शासन प्रणालियां रहें। एक ही कालखण्ड में देश के अलग-अलग विभागों में अलग-अलग शासन प्रणालियां भी चल सकती हैं और इस तरह की बारह-तेरह शासन प्रणालियां भारत में प्राचीनकाल में चलती थीं। उनमें अब और पद्धतियां भी जोड़ी जा सकती हैं।

"स्वरित-साम्राज्यं भौज्यं स्वराज्यं वैराज्यं पारमेष्टयं राज्यं"
माहाराज्यमाधिपत्यम् समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वयेषु
आन्तापधापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तात् एकराटिति।" —ऐतरेय

ये तरह-तरह की शासन प्रणालियां अलग-अलग समय तथा क्षेत्र में निर्माण हुईं। लेकिन इन शासन प्रणालियों का विकास किसने गिया? इनके प्रथम निर्माता कौन थे? अपने देश की विशेषता यह है कि सम्पूर्ण पहल राजनीतिक नेताओं ने नहीं की। इनका विकास उन लोगों ने किया जो सत्ता से दूर थे।

भद्रम् इच्छन्त ऋषयः स्वर्णिदः
तपो दीक्षां उपसेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्
तदस्मै देवा उपसंनयन्तु।।

अर्थात् आत्मज्ञानी ऋषियों ने प्रारम्भिक काल में जो तप किया उससे राष्ट्र का, बल का तथा ओज का निर्माण हुआ। यह राष्ट्र देवताओं की सेवा करने योग्य है। उन्होंने उदाहरण भी दिया है कि यह जो राष्ट्र था वह बिखरा हुआ था। कोई किसी को मानता नहीं था। दुर्बल हो गया था। उस समय ऋषियों ने किस प्रकार काम किया, इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

दण्डा इवेद् गो आवनास आसन्
परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्य पुरएता वसिष्ठ
आदित् तृत्सनां विशो अप्रथन्त।।

गायों को आगे बढ़ाने (हांकने) के लिए इस्तेमाल की जाने वाली लाठियां जिस तरह निर्बल तथा पृथक हुआ करती हैं वैसे ही निर्बल तथा पृथक-पृथक भारत के लोग दुर्बल तथा परिच्छिन्न थे। किन्तु उनके नेता जब ऋषि वशिष्ठ बने तब ये ही भारतीय लोग प्रख्यात तथा समृद्ध हुए। सत्ताकांक्षा से जो अलग है, "पद्मपत्रमिवांभसि" वाली भूमिका वाले लोगों ने जनकल्याण के लिए स्वयं आकांक्षा न रखते हुए कौन-सी व्यवस्था उचित हो सकती है इसका वस्तुनिष्ठ बुद्धि से, निष्पक्ष विचार करते हुए अलग-अलग विभागों में अलग-अलग शासन प्रणालियों का निर्माण किया था। राजतंत्र अनेक प्रणालियों में से एक प्रणाली थी और वह राजा भी सर्वसत्तावादी नहीं था। राजतंत्र के अन्तर्गत बाद में जो दोष आए वे आधुनिक काल के हैं। हिन्दुस्थान में अहिन्दुओं का शासन होने के पश्चात, जिसमें ब्रिटिशों का भी समावेश होता है, वहां की शासन-प्रणाली के जो दोष थे वे सर्वसत्तावाद के दोष थे, उनका प्रतिबिम्ब हमारे देश की राज्य-रचना पर पड़ा।यह विकृति अभी-अभी की, कुछ शताब्दियों की है। प्रारम्भ में यह सर्तकता बरती गई थी कि इस तरह की सर्वसत्ता या एकाधिकार निर्माण न हो। इस दृष्टि से राजा के बारे में बारीकी से विचार किया गया था। राज्याभिषेक के मंत्र इसे प्रगट करते हैं। राज्याभिषेक के समय जनता राजा को कहती थी—

आत्वा हार्षमन्तर भूर धुवस्तिष्टाविचाचलन्।
विशस्त्वा सर्वा वांच्छन्तु मात्वद्राष्ट्र अधिभृशत। (अथर्व वेद ६-८७-१)
सर्वादिशः संमंनस सग्रीचीः।
ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।। (अथर्व वेद ६-८८-३)

अर्थात् तेरे कारण राष्ट्र भ्रष्ट न हो। सब दिशाओं में रहने वाले प्रजाजन एकमत से तुझे राज्यपद पर रखने की इच्छा रखें। तेरे राज्यपद को स्थिर रखने में यह राष्ट्र समिति समर्थ हो। अर्थात् वह

सर्वेसर्वा नहीं था। प्रजा सर्वेसर्वा थी। सर्वेसर्वा प्रजा तथा राजा के बीच में राष्ट्र समिति थी। राजा को राष्ट्र समिति के मार्गदर्शन में कार्य करना पड़ता था, नहीं तो उसको हटना पड़ता था। इसे यूरोपीय मापदण्ड से नापा नहीं जा सकता। प्रारंभ में राजा का निर्वाचन होता था। यहां आनुवंशिक राजपद काफी देर के बाद आया। प्रजा यदि नाराज हो जाती थी तो राजा टिक नहीं सकता था। इसके कई उदाहरण हैं। एक उदाहरण राजा प्रजापति का है। उन्होंने उस समय की राष्ट्र समिति को अपमानित करने का प्रयास किया तो उसे जनता ने अति निमर्मता के साथ हटा दिया। दूसरा सुप्रसिद्ध वर्णन आता है वेण राजा का। उसने जनता विरोधी कुछ व्यवहार किया तो उसको हटाया गया। उसको हटाने के पश्चात उसके लड़के को कहा गया— "बेटा, तुमको हम राजा तो बनाते हैं, लेकिन हमारी कुछ शर्तें हैं। वे तुम्हें स्वीकार करनी होंगी।" वे शर्तें ध्यान में रखने योग्य हैं। उसको यह प्रतिज्ञा ग्रहण करने को बाध्य किया गया कि—

"यन्माम् भवन्ती वश्यन्ति कार्यम् अर्थ समविन्वतम्
तदहं वः करिष्यामि नात्र कार्याविचारणा।।

"प्रजाजन जो कुछ भी कहेंगे, वही मैं करूंगा। मैं दूसरा कुछ नहीं करूंगा। आपको खुशी हो, ऐसा ही करूंगा।" और यह प्रतिज्ञा करने के बाद ही उसको राजपद सौंपा। राजाओं को पहले यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी—

प्रतिज्ञां चामिरोहाच, मनसा कर्मणा गिरा
पालमिष्यामहं भौम, ब्रह्म इत्येवमासकृत।
यश्चाय धर्मनीत्युक्तो, दण्डनीति व्यपाश्रयः
तमसमः करिष्यामि, स्वववासो न कदाचन।।

"अपनी इच्छा के अनुसार मैं नहीं चलूंगा"। यदि राजा के द्वारा कुछ पथभ्रष्टता हो जाती थी तो सामान्य आदमी जाकर उसको डांट-फटकार करता था। तीसरी शताब्दी का एक उदाहरण है। उस समय राजा कुछ गड़बड़ करने वाला था तो एक बौद्ध भिक्षु आर्यदेव ने उससे कहा—

"जनदासस्य ते दर्पः षड्भागेन भृतकस्यकः।"

"अरे तू, तो जन का दास है। तुझे यह गर्व हो रहा है। तू तो हमारा १/६ हिस्सा अपने वेतन के रूप में हमसे लेकर हमारी सेवा करने वाला नौकर है।" एक भिक्षु राजा को खुलकर यह कह सके, हमारे यहां इस तरह की व्यवस्था थी।

समाज में सर्वोच्च सत्ता धर्मदण्ड और नैतिक नेताओं की थी। राजदण्ड-शासकीय सत्ता-धर्मदण्ड से नियंत्रित रहती थी। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर जो रचना होगी वही भारतीय ढंग की मानी जा सकती है। पश्चिमी देशों में राष्ट्रीय जीवन में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान शासन संस्था को दिया जाता है वह भारत में कभी भी नहीं रहा। शासन संस्था के माध्यम से राष्ट्र निर्माण की कल्पना अहिन्दू कल्पना है। इस कारण अपने राष्ट्र का निर्माण करते समय हिन्दू पद्धति के अनुसार सबसे महत्वपूर्ण आधार मानना पड़ेगा सर्वसाधारण नागरिक की राष्ट्र चेतना को। इस

चेतना का स्तर जितना ऊंचा रहेगा, राष्ट्र का स्तर भी उतना ही उंचा हो सकेगा। केवल शासकों या कुछ नेताओं की उच्च छवि निर्माण करने के सहारे देश बहुत बड़ा नहीं हो सकता।

दूसरी अवस्था है ऐसे चेतनायुक्त नागरिकों को स्वायत्त, स्वयंशासित जनसंगठनों में संगठित करना, यह जनसंगठन अपने-अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करें, उनकी सभी शक्तियों का उपयोग राष्ट्र-निर्माण के कार्य में हो, यह व्यवस्था करें और तीसरी बात यह कि यदि सरकार ठीक ढंग से काम करती है तो उसके साथ सहयोग करें और गलत ढंग से काम करती है तो उसको नियंत्रित करें। इस तरह के विविध दायित्व निभाने वाले जनसंगठन आवश्यकता पड़े तो वैकल्पिक शक्ति केन्द्रों का कार्य भी कर सकें, यह अवस्था निर्माण होनी आवश्यक है।

शासन संस्था का उपयोग तो है किन्तु यह सीमित है। सर्वसाधरण नागरिक की राष्ट्र चेतना के फलस्वरूप तथा सशक्त जनसंगठनों के निर्माण के कारण समाज में स्वाभाविक रूप से नैतिक नेतृत्व का निर्माण होता है। नीचे से जागरूक नागरिक तथा उनके जनसंगठन और ऊपर से नैतिक नेतृत्व, दोनों पाटों के बीच में रहने से ही शासन के ठीक ढंग से चलने की संभावना रहती है। हमारे देश में तथा विदेशों में भी राजर्षि निर्माण हुए हैं। किन्तु आज ऐसे लोगों को अपवाद ही माना जाता है। दोनों पाटों के बीच काम करने वाले शासकों की सहायता करने वाला आदर्शवादी कार्यकर्ता समूह हर स्तर पर और क्षेत्र में सक्रिय रहा तो किसी भी योजना को क्रियान्वित करने में अधिक सफलता मिल सकती है। केवल अफसरशाही के भरोसे किसी भी देश में राष्ट्र-निर्माण का कार्य नहीं हो सका। यथास्थिति में अफसरशाही का निहित स्वार्थ होता है। यदि शासकों ने परिवर्तन लाने का प्रयास किया तो वह उसमें अप्रत्यक्ष रूप से अड़ंगा डालती है। उन पर दबाव लाने के लिए आवश्यक है कि शासकों की सहायता के लिए हर स्तर पर, हर क्षेत्र में आदर्शवादी कार्यकर्ताओं के समूह रहें। इन सब बातों को लेकर राष्ट्र पुनर्निर्माण हो सकता है और यही भारतीय हिन्दू पद्धति भी है।

व्यक्ति जीवन से लेकर विश्व जीवन तक सम्पूर्ण जीवन की रचना का अधिष्ठान हमारे देश में धर्म को ही माना गया है। हमारे द्रष्टाओं ने उन वैश्विक नियमों का दर्शन किया था जो त्रिकालबाधित सत्य हैं जो अपरिवर्तनीय हैं। यह सच है कि जैसे-जैसे समय बीतता है, परिस्थितियां बदलती हैं, वैसे-वैसे समस्याएं बदलती हैं। पूर्व काल में समाज की धारणा के लिए जो नियम पर्याप्त थे, सक्षम थे, वे बदलते समय की नई समस्याओं का मुकाबला नहीं कर सकते, इसलिए नई रचना करने की आवश्यकता होती है। अतः अपरिवर्तनीय वैश्विक नियमों के प्रकाश में अखण्ड परिवर्तनशील युगधर्मानुकूल समाज-रचना करते रहना ही हिन्दू पद्धति है। इसी कारण यहां बार-बार नई स्मृतियों का निर्माण हुआ। वैश्विक नियमों के प्रकाश में नई रचना का हमारे यहां बार-बार विचार किया जाता है।

जो धर्म को रिलीजन मानते हैं उनके लिए यह रचना समझ पाना कठिन है। उदाहरण के लिए न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर कहते हैं :

"जब हम हिन्दू धर्म के बारे में सोचते हैं तो उसे परिभाषित कर पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य लगता है। विश्व के अन्य धर्मों की भांति हिन्दू धर्म एक भगवान की आराधना नहीं करता और न ही यह किसी एक रुढ़ि से जुड़ा है। यह किसी एक दर्शन की अवधारणा में विश्वास नहीं रखता और न ही किसी एक मजहब के कर्मकाण्डों या कृतियों का अनुसरण ही करता है। वास्तव में यह किसी भी मजहब की संकीर्ण, परम्परागत प्रथाओं और मजहबी मूल्यों से संतुष्ट नहीं होता। यह प्रमुख रूप से केवल एक जीवन पद्धति है और कुछ नहीं। विश्व के मान्य मजहबों की परीक्षा के लिए जो सामान्य कसौटी अपनाई जाती है वह हिन्दू धर्म के परीक्षण के लिए अक्षम और अपर्याप्त है। सामान्यतः कोई भी मान्य मजहब या मजहबी प्रथा निश्चित दार्शनिक अवधारणा और पारमार्थिक विश्वास से जुड़ी होती है। क्या यह कसौटी हिन्दू धर्म पर लागू होती है?"

स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारतीय संस्कृति के अनुकूल धर्माधिष्ठित समाज रचना करने का हमें स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ था। किन्तु हमने उसका उपयोग नहीं किया। सनातन धर्म के प्रकाश में भारत के लिए अनुकूल रचना नहीं बनाई गई। जब तक यह कार्य नहीं होता तब तक शांति, सामंजस्य, सुख तथा वृद्धि का लक्ष्य प्राप्त कर पाना संभव नहीं है। राष्ट्र की एकात्मता का भी टिक पाना कठिन होगा। यह आवश्यक है कि सनातन धर्म के प्रकाश में अपने देश की नई रचना बने। आज की परिस्थिति में सनातन धर्म का युगानुकूल आविष्कार करने का एक महान प्रयास पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने किया था। उनके इस प्रयास का नाम है "एकात्म मानव दर्शन"। इस दर्शन को राष्ट्र निर्माण की शर्त मानकर, उसके प्रकाश में जो नई रचना बनेगी, उसी को धर्माधिष्ठित समाज रचना कहा जा सकेगा। वही रचना समाज को धारण करने में समर्थ रहेगी।

एकात्म मानव दर्शन में से उदित राष्ट्रीय संचेतना का उन्नत स्तर हमको उन परम्परागत भारतीय मूल्यों का स्मरण कराएगा जो कि वर्तमान पश्चिमी जीवन मूल्यों से विशिष्ट एवं श्रेष्ठ हैं। ये जीवन मूल्य व्यक्ति को यह विश्वास दिलाकर कि भौतिकता और अभौतिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, उसके अंतस् का क्रांतिकारी आमूल परिवर्तन करने में सक्षम हैं। केवल भौतिक पक्ष पर असंतुलित रूप से अधिक बल देने से वह व्यक्ति और समाज जीवन में असंतुलन उत्पन्न कर देता है।

हिन्दू संस्कृति एवं धर्म का पुनर्जागरण न केवल हमारे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और शीघ्र प्रगति के लिए आवश्यक है बल्कि पीड़ित मानवता को शांति, सामंजस्य और खुशहाली प्रदान करने के लिए जरूरी भी है।

हिन्दू संस्कृति की शक्ति से भारत और सम्पूर्ण मानवता के विकार दूर किए जा सकते हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ सामाजिक अनुशासन का मेल करना क्या पश्चिम के लिए संभव है? भौतिकतावादी पश्चिम में स्वतंत्रता का स्वच्छंदता में और अनुशासन का कठोर नियंत्रण में बदल हो जाता है। भौतिकतावादी पश्चिमी जगत दृश्यमान विभिन्नताओं में मूल एकता का अंगांगी विचार सोच ही नहीं सकता। वह एकरूपता को एकता मानने की भूल करता है। पश्चिमी जगत भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के गुण-दोष को कभी समझ ही नहीं पाया। वह हमारे

स्थायित्व को गतिहीनता और अपने दुस्साहस को गतिशीलता मानता है। पश्चिम के विचार एकात्मक शासन के अन्तर्गत प्रशासनिक अधिकारों के अधिकतम विकेन्द्रीकरण की बात की कल्पना तक नहीं कर पाए। क्योंकि यह उनकी अवधारणा से परे की बात है कि केन्द्रीय राजसत्ता के साथ-साथ कोई क्षेत्रीय, औद्योगिक एवं नागरिक स्वायत्त राज्य व्यवस्था भी हो सकती है। जहां सब के लिए परिधि समान थी। जिसमें जिसका भौतिक सुख का क्षेत्र जितना अधिक होता था, सामाजिक प्रतिष्ठा का क्षेत्र उतना ही कम, और सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही बड़ी, उसी मात्रा में भौतिक सुख कम क्योंकि दोनों को मिलाकर बनाने वाली परिधि समान थी। इस कारण सत्ता और समाज का संतुलन सदा बना रहता था। यह व्यवस्था और संकल्पना भारतीय सामाजिक व्यवस्था का एक विशेष चरित्र और गुण है। पश्चिम राष्ट्रीय स्वावलम्बन को अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी भावना से असंगत मानता है। पश्चिम राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को अपने देश के साथ गैर-वफादारी की परिभाषा दे सकता है। भारत के एकात्म मानव दर्शन ने पश्चिम के टुकड़े-टुकड़े में सोचने के तरीके की अनुपयुक्तता, एकपक्षीय झुकाव, असंतुलन और निरर्थकता को उजागर कर दिया है। इस एकात्म व्यवस्था ने हमें विश्वराज्य की कल्पना करने में सक्षम बनाया है। इसमें विभिन्न राष्ट्रों की अपनी-अपनी संस्कृतियों के विकास और ऐसे मानव धर्म का प्रसार और संरक्षण करने की क्षमता है जो भौतिकता सहित सभी मजहबों के योगदान से समृद्ध हो।

हिन्दू संस्कृति ने जीवन के भौतिक और अभौतिक मूल्यों को समेकित करके एक ऐसी समग्र व्यवस्था का विचार किया था जो मनुष्य को उसके व्यक्तिगत विकास के लिए प्रेरित किया करती थी। हमारे यहां जीवन के भौतिक पक्ष की न तो उपेक्षा की गई और न उसे बहुत महिमामय ही माना गया। परिणामतः दो प्रकार की प्रेरणाएं यहां जन्मीं— भौतिक और अभौतिक। भौतिक उपलब्धि में सांसारिक आनन्द का सुख था, किन्तु समाज में प्रतिष्ठा और मान्यता अभौतिक मूल्यों पर आश्रित थीं। लेकिन यहां यह शर्त थी कि भौतिक आनंद तथा सामाजिक सम्मान, दोनों किसी एक व्यक्ति को साथ-साथ नहीं मिल सकता। आर्थिक सुख और सामाजिक सम्मान में किसी एक को चुनना होता था। भौतिक सुखोपभोग जितना कम होता था, सामाजिक मान्यता और प्रतिष्ठा उतनी ही अधिक होती थी। समाज में पूरी तरह समानता थी। आनंद और ऐश्वर्य का अवसर प्रत्येक व्यक्ति को बराबर-बराबर प्राप्त होता था किन्तु किस व्यक्ति को कितना अधिक सामाजिक सम्मान और कितना अधिक भौतिक आनन्द चाहिए यह उस व्यक्ति के चयन पर निर्भर करता था। समाज में प्रत्येक व्यक्ति प्रेरणा की समान परिधि में रहता था। इस परिधि में दोनों ही प्रकार की प्रेरणाएं उपलब्ध थीं। यदि भौतिकवादी प्रेरणा की परिधि को बड़ा कर दिया जाता था तो अभौतिकवादी प्रेरणा की परिधि स्वतः संकुचित हो जाती थी। इसी प्रकार यदि अभौतिकवादी प्रेरणा की परिधि को बड़ा कर दिया जाता तो भौतिकवादी प्रेरणा की परिधि संकुचित हो जाती थी। जैसा कि कहा जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रेरणा चुनने के लिए स्वतंत्र था, अतएव वास्तविक और स्थायी समानता प्राप्त करने का यही वैज्ञानिक

हिन्दू दृष्टिकोण था। जीवन का चतुर्विध लक्ष्य प्राप्त करने की इस व्यवस्था के कारण स्थायी और वास्तविक समतावादी व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है।

प्राचीन भारत में यह मनोवृति योजना में भी प्रतिबिम्बित होती थी। योजना का मूल उद्देश्य उस प्रगतिशील धर्म को अभिव्यक्त करना था जो अभ्युदय और निःश्रेयस, को सुनिश्चित करे। इन दो बातों में से केवल एक से सम्बन्ध रखने वाली कोई योजना एकपक्षीय और समाज का संतुलित विकास करने में अक्षम होगी। व्यक्ति का व्यावहारिक रूप और आवश्यक न्यूनतम आध्यात्मिक उत्थान उसे अपने श्रम के फल को समाज के चरणों में समर्पित करने की प्रेरणा देगा। इस निष्ठा की भावना के अभाव के कारण ही विभिन्न व्यक्तियों के विशिष्ट गुण, आदर्श और उपलब्धियां सम्पूरक होने के स्थान पर प्रतियोगी हो जाती हैं। हमारे समाज में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भौतिक स्तर पर जीवित रहने का अधिकार था। प्रत्येक व्यक्ति के स्वभावानुरूप कार्य करने के अधिकार को उसका मूल अधिकार माना जाता था। यह विडंबना है कि संविधान ने अभी तक कार्य के अधिकार की भारतीय व्यवस्था को मूल अधिकारों में शामिल नहीं किया है। यह सामान्य रूप से सभी को मान्य है कि जब तक जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं उपलब्ध नहीं हो जाती हैं, व्यक्ति उच्च जीवनादर्शों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने की मानसिक स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तब तक संभव नहीं है जब तक उसे उसके गुण कर्म के अनुसार काम नहीं मिल जाता। व्यक्ति के गुण कर्म के अनुसार रोजगार का प्रबंध भारतीय सामाजिक व्यवस्था का विशेष गुण था। समान गुण कर्म और समान रोजगार में लगे व्यक्ति एक पेशे के परिवार के रूप में माने जाते थे। समान उद्योगों में कार्यरत समान वित्तीय परिवार की इकाइयां मानी जाती थीं। समान औद्योगिक परिवार मिलकर क्षेत्रशः और उद्योगशः सामाजिक-आर्थिक समूह की संरचना करते थे। हमारे यहां आत्मानुशासन पर सर्वाधिक बल दिया जाता था। विभिन्न स्तर पर उत्पन्न होने वाले विवादों को लोकप्रिय पंचायतें अपने स्तर पर समाधान कर लेती थीं। राज्य का हस्तक्षेप बहुत कम था। स्वयं राजा को भी समाज के उन नैतिक नेताओं द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना होता था जिनके पास न सत्ता होती थी, न शक्ति और न ही सम्पदा। इस विषय का विशद विवेचन आगे किया गया है।

संक्षेप में यह हमारे समाज का चित्र था। इस प्रकार की स्वयं संचालित, स्वायत्त, स्वयंशासित सामाजिक-आर्थिक इकाइयां अपनी जो योजना बनाती थीं, वही विस्तृत राष्ट्रीय योजना का आधार होता था। भारतीय चिंतन के अनुसार यह एक आदर्श स्थिति है। यदि राज्य को योजना का एक मात्र अधिकारी मान लिया जाएगा तो एकाधिकारवाद अवश्यम्भावी हो जाएगा। यदि विभिन्न हितों वाले वर्गों को अपनी समस्याओं को हल करने का अवसर नहीं दिया जाएगा, यदि समाज में नैतिक नेतृत्व का अभाव होगा और प्रत्येक समूह अपनी-अपनी ओर खींचतान करने को बाध्य हो जाएगा तो राष्ट्रीय योजना की कल्पना असंभव हो जाएगी। प्रत्येक समूह की आंतरिक स्वायत्तता अपरिहार्य है। किन्तु इस स्वायत्तता में एक सबल राष्ट्रीय भाव का निहित होना भी आवश्यक है। उसका निर्देशन निःस्पृह, निःस्वार्थी और समाज के प्रति पूरी तरह समर्पित व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए।

एकात्म मानवदर्शन मानवीय चेतना के विकास में विश्वास रखता है। बच्चा जब पैदा होता है तब वह स्वयं अपने ही साथ एकात्म रहता है। बाद में चेतना के विकास के साथ-साथ परिवार, समुदाय, समाज, राष्ट्र के साथ उसकी उत्तरोत्तर आत्मीयता होती जाती है। किन्तु धर्म की अपेक्षा है कि चेतना का विकास इससे भी अधिक "वसुधैव कुटुम्बकम्" की सीमा तक होना चाहिए। सम्पूर्ण सजीव और तथाकथित निर्जीव अस्तित्व के साथ अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के साथ व्यक्ति एकात्म हो कि स्वयं के साथ एकात्म अवस्था से सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकात्मता की अवस्था तक मनष्य की चेतना का क्रमबद्ध विकास हो। अद्वैत उसका अधिष्ठान है। "स्यादवाद" उसका दृष्टिकोण है। इसी कारण इस दर्शन में विविधता में एकता का साक्षात्कार करने की क्षमता है। इसी के प्रभाव से आदर्श शासनविहीन समाज का निर्माण पूर्वकाल में संभव हो सका था। इसी दर्शन के प्रभाव से भारतीय जीवन-मूल्यों का पुनरुत्थान हो सकता है।

शासकीय नहीं, अपितु नैतिक नेतृत्व का प्रभुत्व भारतीय समाज रचना की विशेषता रही है। भौतिकतावादी पश्चिम के लिए इस रचना का महत्व समझ पाना असंभव था। किन्तु अभी-अभी कुछ इने-गिने विचारकों में इस तरह का जो विचार आ रहा है, उसका कारण विज्ञान तथा तकनीक का तेजी से होने वाले विकास के विनाशकारी प्रभाव हैं। प्रारंभ में तो विज्ञान और टेक्नालाजी की हर प्रगति स्वागत करने योग्य प्रतीत होती थी। किन्तु आगे चलकर विचारकों के मन में संदेह निर्माण होने लगा।

समग्रता से विचार करना भारत की एक विशेषता रही है। द्वितीय महायुद्ध के समय से पश्चिम के लोग समग्रता का महत्व कुछ सीमित मात्रा में समझने लगे हैं। दुःख की बात है कि हमारे देश में लोग अपनी इस विशेषता को भूल रहे हैं। इसके फलस्वरूप सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में अनेक गंभीर दुष्परिणाम दिखायी दे रहे हैं।

उदाहरणार्थ, समता की ही कल्पना को लीजिए। यह कल्पना सुयोग्य है। इस प्रश्न पर मतभेद नहीं हो सकता। किन्तु समग्रता से विचार न होने के कारण समता के सिद्धान्त का सहारा लेकर देश में विभाजनकारी प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं। समग्रता से विचार किया तो यह ख्याल में आएगा कि सामाजिक समरसता कायम रही तो ही समता निर्माण हो सकती है। सामाजिक समरसता के अभाव में समता या तो निर्माण ही नहीं होगी और जैसे-तैसे निर्माण हुई भी तो वह अधिक समय तक टिकेगी नहीं।

दलित बंधुओं का नेतृत्व करने वाले डा. बाबा साहब अम्बेडकर के विचार इस संदर्भ में माननीय हैं। वे कहते हैं, "मेरा सामाजिक तत्वज्ञान निश्चित रूप से तीन शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है— स्वतंत्रता, समता तथा बंधुभाव। फिर भी ऐसा किसी को भी नहीं समझना चाहिए कि यह तत्वज्ञान मैंने फ्रेंच राज्य क्रान्ति से उधार लिया है। मेरे तत्वज्ञान की जड़ें राज्य शासन में नहीं, धर्म में हैं। मेरा गुरु बुद्ध है। उनकी शिक्षा से यह सिद्धान्त मैंने निकाले हैं। मेरे तत्वज्ञान में स्वतंत्रता तथा समता का स्थान है, किन्तु अपरिमित स्वतंत्रता से समता का विनाश होता है और विशुद्ध समता में स्वातंत्र्य के लिए गुंजाइश नहीं होती। मेरे तत्वज्ञान में स्वातंत्र्य और समता का उल्लंघन

न हो इसलिए केवल संरक्षण के नाते विधि को स्थान है। किन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता कि स्वतंत्रता और समता के विषय में होने वाले उल्लंघनों के विरुद्ध विधि गारंटी दे सकती है। मेरे तत्वज्ञान में बंधुता को बहुत उच्च स्थान है। स्वतंत्रता और समता के उल्लंघनों के विरुद्ध संरक्षण केवल बंधुभावना से ही हो सकता है। इसी का दूसरा नाम मानवता है, और मानवता ही धर्म का दूसरा नाम है।" राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्रीगुरुजी ने भी स्पष्ट रूप से कहा था कि "समता का एक मात्र आधार यह साक्षात्कार ही हो सकता है कि सभी जीवन मात्र एक ही चैतन्य के अंश हैं। फिर उस चैतन्य को आप भगवान कहें या शाश्वत सत्य कहें।"

विचारों में समग्रता न होने के कारण समता का सिद्धांत विभेदकारी हो सकता है, यह कल्पना डा॰ अम्बेडकर को भी थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि "पिछड़े और दलित वर्ग को वर्गसंघर्ष या वर्गयुद्ध का निर्माण करने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिएं।" विचारों की समग्रता के कारण ही डा॰ अम्बेडकर के लिए यह कहना संभव हुआ कि "इस विचार पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि यह देश जातियों और वर्गों में विभाजित है और यह तब तक एक और स्वयंशासित समुदाय नहीं बन सकता, जब तक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की संविधान में समुचित व्यवस्था नहीं की जाती। लेकिन अल्पसंख्यकों को यह बात ध्यान में रखनी होगी कि यद्यपि आज हम वर्गों और जातियों में विभाजित हैं, लेकिन हमारा आदर्श और लक्ष्य एकताबद्ध भारत है। अल्पसंख्यकों द्वारा इच्छा या अनिच्छापूर्वक की गई किसी भी मांग पर, जो राष्ट्र की एकता को तोड़ती है, इस आदर्श की बलि नहीं दी जा सकती।"

आज की परिस्थिति में विचारों की समग्रता का अभाव कितना विनाशकारी हो सकता है यह समझना कठिन नहीं है। पश्चिम से प्रभावित होकर हम अपने निजी दर्शन को भूल गए। वास्तव में आज पश्चिम के विचारक मार्गदर्शन के लिए भारत की ओर देख रहे हैं और हम पश्चिम का अंधानुकरण करने के प्रयास में हैं। कैप्रा के समान कई विचारकों को लग रहा है कि "नक्षत्रों की तरह चलायमान वर्तमान व्यवस्था के रूप में हम परावर्तन के बिन्दु पर पहुंच गए हैं। वर्तमान संकट रोम की पुरानी राजतंत्री संस्कृति से आधुनिक युग में प्रवेश की संक्रमणावस्था के कारण हैं।" इस मोड़ पर पश्चिम को सही दिशा दिखाने की क्षमता सनातन धर्म तथा उनके युगानुकूल आविष्कार के रूप में एकात्म मानवदर्शन में ही है। इस दर्शन को ठीक ढंग से समझ लिया तो राष्ट्र का सम्पूर्ण स्वरूप कैसा रहे, यह ध्यान में आ सकता है। इस दृष्टि से केवल संकेत के नाते कुछ प्रमुख बातें निम्न तालिका में बताई गई हैं अर्थात् यह केवल दिशा-दर्शन है। किन्तु इसके आधार पर आगे की कल्पना कोई भी विचारक कर सकता है।

तुलनात्मक सामाजिक रचनाएं— दृष्टिकोण के अंतर

पक्ष	पूंजीवाद	साम्यवादी	हिन्दू चिंतन
दर्शन	भौतिकवाद	भौतिकवाद	एकात्ममानव दर्शन
मनुष्य का रूप	आर्थिक प्राणी	आर्थिक प्राणी	देह, मन, बुद्धि, आत्मा
लक्ष्य	व्यक्ति की भौतिक सम्पन्नता	राज्य की भौतिक सम्पन्नता	व्यक्ति का धर्म अर्थ, काम, मोक्ष
नमूना	क्लब जीवन	मशीनी जीवन	मानव शरीर
अनुशासन व स्वतंत्रता	व्यक्ति को उच्छृंखलता की सीमा तक छूट	शासकीय अनुशासन अनुशासन से वैचारिक आबंद्धता	उच्छृंखलता रहित स्वतंत्रता तथा वैचारिक आबद्धता रहित अनुशासन
सम्पत्ति का अधिकार	अनियंत्रित	कोई अधिकार नहीं	आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम (यावद्भ्रियेत जठरम)
कार्यपद्धति	शोषण	शासन द्वारा शनैः शनैः जब्ती	यज्ञ, दान
प्रमुख भाव	व्यक्तिवाद	राज्य सत्तावाद	अंगांगीभाव
प्रक्रिया	स्पर्धा की भावना	जबर्दस्ती	सहयोग
ढांचा	बहुदलीय जनतंत्र	एकदलीय तानाशाही	धर्मराज्य
श्रम के अधिक मूल्य का मालिक कौन	मालिक	राज्य	समाज
रोजगार व्यवस्था	रिक्त स्थानानुसार	राज्य निर्देशित	प्रवृत्ति अनुसार
विचार प्रक्रिया	खण्डात्मक	खण्डात्मक	समग्र

१३. यथार्थ और भ्रांतियां

नागपुर का यह सौभाग्य रहा है कि यहां हिन्दुस्थान की राष्ट्र शक्ति का उदय हुआ। सन् १९२५ में इसी नगर में डाक्टर हेडगेवारजी ने संघ की नींव डाली और यहीं से संघ के कार्य का चारों ओर विस्तार हुआ। तब से आज तक संघ की दृष्टि में कई अनुकूल-प्रतिकूल अवसर आए, परन्तु सभी परिस्थितियों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आगे बढ़ता हुआ प्रगति करता गया और आज सभी प्रदेशों, सभी जिलों, सभी नगरों और अधिकांश ग्रामों में भी उसकी शाखाएं पाई जाती हैं।

यद्यपि यह काम पुराना है तथापि यह दिखाई देता है कि इसके विषय में कई क्षेत्रों में सम्यक जानकारी नहीं है। इतना ही नहीं, इसके सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएं भी हैं। इस कारण संघ के स्वयंसेवक कभी-कभी सोचने लगते हैं कि यदि अपना संघ उत्तम है तो अन्य लोग इसे क्यों नहीं समझते हैं? क्यों इसका विरोध करते हैं? इसे क्यों भूल समझते हैं? इसके प्रति क्यों उदासीन रहते हैं? संघ कार्य के सम्बन्ध में विपरीत प्रतिक्रियाएं क्यों हैं? उनको कभी-कभी ऐसा लगता है कि जो-जो लोग विरोध करने वाले हैं संभवतः वे सभी अप्रामाणिक हैं अन्यथा वे संघ जैसी अच्छी बात का विरोध क्यों करते? किन्तु ऐसी बात नहीं है। जैसे संघ के समर्थक प्रामाणिक हैं, वैसे ही उदासीन और विरोध करने वालों में भी कई प्रामाणिक लोग पाए जाते हैं।

आज के युग में लोग बहुत 'प्रगतिशील' हो गए हैं। इस कारण जिसमें अपना तुरंत कुछ लाभ दिखाई देता है वे ही बातें बोलना और करना युगधर्म हो गया है। जब यह दिखता है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को गाली देने से अपना कुछ लाभ हो सकता है, कहीं-न-कहीं "गद्दी" मिलने की संभावना है, तब संघ को गाली देना एक आवश्यक बात मानी जाती है। परन्तु सभी लोग ऐसे नहीं हैं। संघ न समझने के कारण प्रामाणिकता से उदासीन रहने वाले या विरोध करने वाले लोग भी हैं। इसमें क्या उनका ही कसूर है ऐसा नहीं है। इसमें संघ का भी कुछ दोष है। संघ वस्तु ही ऐसी कि यदि बाहर का व्यक्ति इसको तुरंत न समझ सका तो उसको दोष देना ठीक नहीं है। किसी भी वस्तु की जानकारी सर्वसाधारण मनुष्य अपनी पुरानी जानकारी के आधार पर ही प्राप्त करता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि नई वस्तु की जानकारी पुरानी देखी हुई, अनुभव की हुई वस्तुओं के आधार पर की जाती है, चाहे वह साम्य से हो या वैषम्य से हो, चाहे सादृश्य से हो या वैदृश्य से

हो। इसीलिए भाषाशास्त्र में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक जैसे तरह-तरह के अलंकार निर्माण हुए हैं। ये सारे अलंकार इसीलिए हैं कि अनदेखी वस्तु को समझने में सुविधा हो। जैसे हम कहते हैं कि भगवान के चरण कमल के समान हैं। अब किसी ने भगवान के चरण तो देखे नहीं, तो फिर उनके बारे में कल्पना कैसे की जाए? जानकर लोगों ने कहा, हमने भगवान के चरण नहीं देखे हैं किन्तु कमल देखा है। इसलिए हम अनुमान लगा सकते हैं कि जैसा कमल कोमल होता है वैसे ही भगवान के चरण कोमल होंगे। कमल सुगंधित तथा पवित्र होता है वैसे ही चरण भी सुगंधित और पवित्र होंगे। बाहर का व्यक्ति भी इसी प्रकार संघ को समझने का प्रयास करता है।

संघ के स्वयंसेवकों के मन में संघ के उद्देश्य एवं नीति के बारे में संभ्रम इसलिए नहीं पैदा होता, क्योंकि वे शाखा द्वारा नियमित सम्पर्क में रहते हैं। किन्तु स्वयंसेवक कोई काच के घर में तो रहता नहीं। आसपास के वातावरण का भी प्रभाव उस पर होता ही रहता है। नए-नए लोगों से सम्पर्क करते हुए उन्हें संघ के निकट लाने का प्रयास करना हर-एक स्वयंसेवक का काम है, इस काम को करते समय उनके मस्तिष्क पर समाज में विद्यमान वातावरण का कुछ परिणाम तो होगा ही। यद्यपि संघकार्य परिस्थिति निरपेक्ष है, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में भी संघकार्य आवश्यक है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संघ के स्वयंसेवकों का मन परिस्थिति सापेक्ष नहीं होगा। वह बुद्धि से संघकार्य की परिस्थिति निरपेक्षता को समझता है, किन्तु परिस्थिति के झकोरे के साथ दोलायमान भी होता है। इसी दृष्टि से समय-समय पर अपना कार्य, उसका स्वरूप, उसकी स्थिति, कितना कार्य हुआ, अभी और कितना कार्य करना है, आदि का मूल्यांकन करना आवश्यक होता है।

देश में जिस प्रकार का वातावरण होता है, स्वयंसेवकों पर उसका कुछ परिणाम होता है। विशेषकर राजनीतिक क्षेत्र में जो कुछ होता है, उसके सम्बन्ध में आजकल बड़ी उत्सुकता नजर आती है। मुझे समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों? दिल्ली में होते हुए भी मैं राजनीतिक व्यवहार एवं व्यक्तियों की जानकारी रखने की विशेष कोशिश नहीं करता। फिर देशभर में स्वयंसेवकों को मात्र इसी बात की इतनी उत्सुकता क्यों? मौलिक धारणा में कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं है? जानकारी रखना अच्छा है। मात्र राजनीति की ही नहीं, विज्ञान, तकनीक, शास्त्र, अर्थशास्त्र, नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य, साहित्य आदि सभी विषयों की जानकारी के साथ-साथ राजनीतिक व्यक्तियों के बारे में भी जानकारी रखने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु सामान्य ज्ञान के तौर पर देश या संघ का भविष्य इन राजनीतिक बातों पर मानो निर्भर हो इस प्रकार की उत्सुकता जब दिखाई देती है, तब मुझे आश्चर्य होता है।

आजकल राजनीति को ही सर्वस्व मानते हुए सत्ता के सहारे ही सब कुछ हो सकता है, ऐसा एक विचार प्रबल होता दिखाई देता है। अतः सत्ता पर अधिकार करने को सबसे महत्वपूर्ण काम माना जाता है। फलस्वरूप, यह मानसिकता बनने लगी है कि "शासन अपने हाथ में आयेगा तो मेरे पितर तर जाएंगे।" ऐसा एक भ्रम सब तरफ नजर आता है कि जब तक शासन पर कब्जा नहीं करते, कुछ नहीं कर पाएंगे। आश्चर्य की बात है कि जो लोग अपने आपको लोकतंत्र का समर्थक बतलाते

हैं, वे भी इसी धारणा से प्रभावित हैं। वास्तव में लोकतंत्र का मतलब है लोगों का शासन, लोगों के द्वारा शासन, लोगों के लिए शासन। लोकतंत्र और तानाशाही कभी एक साथ चल नहीं सकते। ऐसा होते हुए सत्ता हथियाने का एकमात्र उद्देश्य लेकर चलने वाले, लोकतंत्र की रक्षा कैसे कर सकेंगे?

वैसे ही यह भी धारणा है कि जो कुछ काम होने हैं, वे शासन के द्वारा ही हो सकेंगे। सब कुछ करना शासन का काम है। किन्तु एक बात सोचने की है कि यदि सब कुछ करने की जिम्मेदारी शासन की है, तो सम्पूर्ण अधिकार भी शासन को देना पड़ेंगे। दायित्व एवं अधिकार समान मात्रा में होने चाहिए। राष्ट्र के पुनर्निर्माण की सारी जिम्मेदारी यदि शासन पर आप थोपते हैं तो सर्वसत्तात्मक अधिकार भी सरकार को देने होंगे। यदि आप सोचते हैं कि सरकार को सारे अधिकार देने से वह तानाशाह बन जाएगी इसलिए सभी अधिकार उसे नहीं देने चाहिएं, तो फिर सारी जिम्मेदारी भी सरकार पर नहीं थोपनी चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि पूरी जिम्मेदारी सरकार की, लेकिन अधिकार आपके हाथ में रहे। ऐसी स्थिति में पूरे अधिकार भी सरकार को देने पड़ेंगे और फिर इस चिल्लाने का कोई मतलब नहीं होगा कि सरकार तानाशाह बनती जा रही है। इसलिए यदि आप सरकार को पूरे अधिकार देने के लिए तैयार नहीं हैं, तो पूरी जिम्मेदारी भी उस पर थोपना गलत है। जिम्मेदारी सरकार की, और अधिकार केवल हमारा; यह नहीं चलेगा। सब कुछ सरकार के माध्यम से ही होगा यह धारणा, लोकतंत्र के लिए खतरा पैदा करने वाली है। यह अव्यावहारिक एवं जनता को आलसी बनाने वाला विचार है।

प्रश्न यह है कि क्या आज की स्थिति में, चन्द अच्छे विचार के लोगों के मंत्री बन जाने से देश का उद्धार होगा? उत्तर है, नहीं। राष्ट्र निर्माण की कुछ प्राथमिक आवश्यकताएं होती हैं। वे जब तक पूरी नहीं होतीं, अपना सीमित काम करना भी सरकार के लिए असंभव है। उन आवश्यकताओं में से सर्वसाधारण नागरिक की जागृति का स्तर सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यदि जनचेतना का स्तर ऊंचा रहा, तो गड़बड़ करने वाले राजनीतिक नेताओं पर अंकुश लगाया जा सकता है,अन्यथा ऊंचे आदमी भी सत्ता प्राप्त होने पर बिगड़ सकते हैं। कहा गया है कि "सत्ता भ्रष्ट करती है, और अनियंत्रित सत्ता निरकुंश भ्रष्टता का निर्माण करती है।" यदि जाग्रत जनमत का अंकुश न हो तो पद प्राप्त होने पर कुछ न कुछ विकृति उत्पन्न होनी सर्वसाधारण व्यक्ति के लिए सहज स्वाभाविक है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम, योगेश्वर भगवान कृष्ण, राजा जनक, पांचवां चार्ल्स जैसे राजर्षि अपवाद स्वरूप ही होंगे, किन्तु वह सामान्य नियम नहीं होगा। दूसरी मौलिक आवश्यकता है जाग्रत लोगों का स्वायत्त और स्वयंशासित जनसंगठन, राष्ट्रीय जागृति का स्तर ऊंचा रखने वाले ऐसे लोगों का जनसंगठन, जो किसी स्वार्थी तत्व के दबाव में न आएं? ऐसे ही जनसंगठन शासन चलाने वाले व्यक्तियों के व्यवहार पर अंकुश रख पाएंगे। विकृति न उत्पन्न हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि शासन एवं सत्ता संभालने वाले या तो स्वयं ध्येयवादी हों, उच्च ध्येय की प्राप्ति हेतु शासन के पदाधिकार को मात्र एक साधन के रूप में मानने वाले हों, या फिर उन पर ऐसे जनसंगठनों का उचित प्रभाव हो, जो उन्हें सही ढंग से चलने के लिए बाध्य करे।

शासन में अच्छे आदर्शवादी लोग पहुंचने पर भी वे जाग्रत ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ताओं के अभाव में किसी भी लोकनीति का क्रियान्वयन नहीं कर सकते, क्योंकि अच्छी नीतियों का क्रियान्वयन केवल नौकरशाही के आधार पर सफल होना संभव नहीं है। सरकारें बदल जाने के बाद भी यह नौकरशाही जैसे पहले थी वैसे ही रहती है। अफसरी एकाधिकारवाद की पकड़ प्रशासन पर इतनी मजबूत होती है कि कुछ अपवाद को छोड़कर, केवल मंत्री बन जाने से कोई कुछ नहीं कर पाता। योग्यता रखने वाला, अध्ययन करने वाला, मेहनती मंत्री कुछ मात्रा में तो नौकरशाही पर पकड़ पा सकता है, किन्तु हर-एक के लिए संभव नहीं। अतएव यदि प्रत्यक्ष कार्य क्षेत्र में और प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर भी ध्येयवादी कार्यकर्ताओं का समूह उपलब्ध हो, तभी शासक भी प्रशासन द्वारा कुछ ठोस कार्य करवा पाएंगे।

भारत में समाज का नेतृत्व शासकों ने कभी नहीं किया। यह बात आप और कहीं नहीं पाएंगे। शासकीय सत्ताधारी लोगों को समाज ने "शासकीय नेता" माना, अर्थसत्ताधारियों को "आर्थिक नेता" समझा, लेकिन दोनों से श्रेष्ठ माने गए "नैतिक नेता"। अपनी नीतिमत्ता, चारित्र्य, निस्स्वार्थ जीवन, परोपकार बुद्धि, समाज के प्रति आत्मीयता के कारण वे समाज के विश्वासपात्र बने। इस तरह के नैतिक नेताओं के प्रभुत्व के कारण ही भारत हजारों साल से सतत राष्ट्र के नाते जीवित रहता आया है। जहां-जहां सरकार ही समाज जीवन का केन्द्र बिन्दु बनी, वहां-वहां किसी भी कारण क्यों न हो, सरकार-संस्था टूटने पर वहां का समाज-जीवन भी टूट गया, समाप्त हो गया। इस प्रक्रिया में कई राष्ट्र संसार में समाप्त हुए, किन्तु हमारा राष्ट्र अभी तक केवल इसलिए जीवित है कि यहां का समाज जीवन मात्र शासन के ऊपर कभी अवलम्बित नहीं रहा। शासकीय एवं आर्थिक सत्ता के ऊपर भी हमारे यहां नैतिक ऋषियों का प्रभुत्व रहा। यदि हम राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने निकले हैं तो आज भी इन मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हमें करनी होगी।

अतएव राष्ट्र की "विजेत्री संहता कार्यशक्ति" ही राष्ट्र निर्माण का आधार हो सकती है, न कि कोई शासन सत्ता या अर्थसत्ता। कई लोग यह प्रश्न पूछते है कि जब संघ इतना मौलिक कार्य करने वाला है तो शासकों द्वारा उस पर प्रतिबंध लगाने और तरह-तरह के बंधन डालने जैसे प्रयास क्यों किए जाते हैं? इसके दो कारण हैं। हिन्दू विचार रखने वाली और भी कई संस्थाएं हैं। संघ के स्वयंसेवकों से भी अधिक प्रखरता से हिन्दुत्व का विचार बोलने वाले और भी लोग हैं, उन पर प्रतिबंध लगाने का इसलिए नहीं सोचा जाता, क्योंकि उनके पीछे कोई शक्ति नहीं है। यदि संघ भी शक्तिहीन होता तो उसकी ओर भी कोई ध्यान नहीं देता। किन्तु संघ की शक्ति उपेक्षा करने योग्य कम नहीं। दूसरा कारण यह भी है कि संघ की शक्ति इतनी पर्याप्त मात्रा में भी नहीं बढ़ी है कि कोई उसके बारे में गलत बात करने और झूठे आरोप लगाने की हिम्मत ही न कर पाए। ऐसी कुछ बीच की स्थिति होने के कारण संघ का विरोध होता है। किन्तु चिंता की कोई बात नहीं। संघ कार्य राष्ट्र के पुनर्निर्माण की नींव के रूप में आवश्यक जागृति पैदा करने का ईश्वरीय कार्य है। इसे सत्ताश्रय के आधार पर नहीं, आत्मविश्वास के साथ करना होगा, क्योंकि कोई भी जनसंगठन यदि शासकों की कृपा या सहायता के आधार पर चलता है तो किसी भी कारण से उन

शासकों के हटने या शासन के टूटने पर वह संगठन भी लड़खड़ा जाता है। जनतंत्र में सत्तापक्ष बदलेंगे, राजनेता बदलेंगे ही तो क्या हमें उन पर अपना कार्य निर्भर रखना उचित होगा?

राष्ट्र निर्माण का काम किसी राजशक्ति के सहारे नहीं, जनसंगठन की शक्ति के आधार पर सम्पन्न होता है। यह जनशक्ति हमें इतनी बड़ी मात्रा में खड़ी करनी है कि वह शासन को निरपेक्ष ढंग से कार्य करने में अग्रसर कर सके। हमारे हृदय में यह आत्मविश्वास होना चाहिए कि हम इतनी अपराजेय और सुदृढ़ जनशक्ति खड़ी करेंगे कि कोई भी शासन, कोई भी दल, कोई भी मंत्रिमण्डल रहे, राष्ट्र निर्माण के मौलिक कार्य में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न करने का विचार भी न कर सके। इस प्रकार का आत्मविश्वास और मजबूत संगठन शक्ति न होने के कारण ही हमारे मन में राजनीतिक घटनाओं एवं उथल-पुथल के कारण कमजोरी आती है। उनकी चिंता हम अधिक करने लगते हैं और अपने "दक्ष-आरम " की कम।

हमें संघकार्य और संघ वातावरण की चिंता अधिक करनी चाहिए। संघ वातावरण की निर्मिति का रहस्य है परस्पर आत्मीयता। शाखा कार्यक्रम के पश्चात आपस में मिलना, कौन आए, कौन नहीं आए, इसकी पूछताछ, कोई स्वयंसेवक या उसके परिवार में कोई बीमार हो तो उससे मिलना, उसकी आवश्यक सहायता आदि की व्यवस्था करना। इस प्रकार की बातें जहां होती हैं वहीं संघ की शाखा मानी जाती है। वीकिर होते ही यदि राजनीति की या और कोई गपशप शुरू होती है तो उस शाखा में "संघ" कहां ? ऐसी शाखा के स्वयंसेवक भी दिन-प्रतिदिन आत्मविश्वासहीन बनते जाएंगे। बाह्य परिस्थिति से संघ का कार्य निरपेक्ष रहने का अर्थ है "संगठन" की इस प्रक्रिया को नजर से ओझल न होने देना।

कई बार पूछा जाता है "आप देश में घूमते रहते हैं, बताइए, संघ की शक्ति कितनी है? कितनी बढ़ी है या कम हुई है?" संघ शक्ति पर्याप्त मात्रा में बढ़ी है, मुझसे ऐसा उत्तर पाने पर क्या आप घर जाकर सोना चाहते हैं कि अब कुछ करना बाकी नहीं? ऐसा नहीं है। वास्तव में पूछने वाले का मंतव्य होता है संघ पर जो भिन्न-भिन्न प्रकार के आक्रमण, टीका-टिप्पणी, विरोध आदि होते हैं उनके संदर्भ में संघ शक्ति की मात्रा को जानने का।

मैं आगाह करना चाहूंगा कि समाचारपत्रों में जो लेख, भाषण आदि संघ विरोध में आते रहते हैं संघ के स्वयंसेवक उन पर न जाएं। वास्तविक विरोध का वह चित्र नहीं है।संघ के राष्ट्रनिर्माण के कार्य के जो प्रबल विरोधी हैं, उनके वक्तव्य समाचारपत्रों में नहीं आते। संघ को समाप्त करने का उनका प्रयास योजनाबद्ध ढंग से चल रहा है। संघ के विरोध में वे अपना संगठन खड़ा करने का प्रयास कर रहे हैं। विचार एवं संगठन प्रणाली, दोनों मोर्चों पर संघ को परास्त करने की कोशिश वे सुनियोजित ढंग से कर रहे हैं। समाचारपत्रों में उनके नाम नहीं आते, भाषण नहीं छपते, वक्तव्य नहीं दिए जाते। इस ओर अधिक सजगता से ध्यान देना आवश्यक है। ये तत्व विदेशी विचारधारा को भारत में स्थिरता एवं लोकप्रियता प्राप्त कराने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जनसंगठन खड़ा करने के प्रयास में है। हमें वास्तविक चुनौती इन्हीं तत्वों की है। हमें चिंता करनी है उनकी उस योजना की। संघ के विरुद्ध प्रचार, पत्रकारों या वक्तव्य देने वालों की नहीं। इस आधार पर हमें हमारी शक्ति का मूल्यांकन करना चाहिए।

संघ शक्ति की वर्तमान स्थिति के बारे में जानने की उत्सुकता हो तो किस मापदण्ड से शक्ति का अनुमान लगाया जाए? केवल संख्या बल या बहुमत के मापदण्ड से किसी विचार की श्रेष्ठता को नापा जा सकता। लोकतंत्र में संस्था का महत्व होता है, चुनाव बहुमत के आधार पर जीते जाते हैं, शायद इसी दृष्टि से संघ की भी संख्या पूछी जाती है। किन्तु संघ-विचार एक ऐसा स्थायी सिद्धान्त है जो किसी राष्ट्र के पुनर्निर्माण की नींव है। उसकी सत्यता आन्तरिक शक्ति पर निर्भर है, मात्र संख्या बल पर नहीं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हूं। पहले यूरोप में समझा जाता था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर चक्कर काटता है। इस धारणा के पीछे बहुमत ही नहीं, सर्वमत की मान्यता थी। जब अकेले कोपर्निकस ने कहा कि "सूर्य केन्द्र में है और पृथ्वी उसके चक्कर काटती है" तो उस समय किसी ने नहीं माना। किन्तु आगे चलकर उसी के अल्पमत सिद्धान्त को सारी दुनिया ने माना। उस सिद्धान्त की निजी और अन्तर्भूत शक्ति के कारण ही वह सफल सिद्ध हुआ, संख्या के आधार पर नहीं।

महात्मा गांधी से किसी ने पूछा, "राजनीति में आप अनशन, रामधुन, धर्म, संस्कृति, रामराज्य आदि बातों को क्यों लाते हो? इनका राजनीति से क्या सम्बन्ध?" महात्मा जी ने कहा, "देखो, रोम के साम्राज्य का अनभिषिक्त सम्राट था ज्युलियस सीजर। उसके पीछे सम्पूर्ण साम्राज्य की शक्ति थी। असंख्य आदमी थे। अब सोचो, ईसाई मत के संस्थापक जीसस क्राइस्ट थे। उनके मात्र बारह शिष्य थे। उनमें से भी एक गद्दार निकला। जीसस क्राइस्ट को सूली पर चढ़ाया गया। आज सम्राट सीजर का कोई अनुयायी नहीं बचा, किन्तु केवल ग्यारह शिष्यों के नेता ईसा मसीह के करोड़ों शिष्य संसार भर में फैले हुए हैं। किसको विजयी कहोगे? केवल राजनीति करने वाले सम्राट सीजर को, या स्थायी नैतिक बातों के प्रति प्रतिबद्ध ईसा मसीह को?"

सुकरात पर आरोप लगाया गया कि "यह झूठा है, युवा पीढ़ी को गुमराह करता है।" इसी बात पर उसे हेमलॉक नाम का विष जबर्दस्ती पिलाकर मारा गया। उस समय उन सात-आठ युवकों को छोड़कर सारा ग्रीस देश उसके विरुद्ध था। उसे विष पिलाने वाले का नाम भी आज कोई नहीं जानता। किन्तु सुकरात के गहन सिद्धान्तों को सारी दुनिया मानती है।

अग्नि का गुण है उष्णता एवं प्रकाश देना। सर्वसत्ताधारी भारतीय लोकसभा में यदि सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित किया जाए कि भविष्य में अग्नि अपना स्वभाव बदलकर ठंड एवं अंधकार प्रदान करने लगे तो क्या कोई परिणाम होगा? उस प्रस्ताव के कारण यदि कोई संविधान पण्डित अग्नि को आलिंगन देने लगे तो उसका क्या होगा? बहुमत के प्रस्ताव से अग्नि अपना गुण-धर्म बदलने वाली नहीं, क्योंकि वह उसकी आन्तरिक शक्ति है। स्पष्ट है कि सिद्धान्तों की महत्ता उन पर चलने वालों की संख्या पर नहीं, उनकी अपनी अन्तर्भूत शक्ति पर निर्भर करती है।

इसी प्रकार उन सिद्धान्तों को चरितार्थ करने हेतु बनाई गई कार्यपद्धति के विषय में भी देखना चाहिए कि क्या उसमें भी ऐसी कोई आन्तरिक शाक्ति है? मैं अपने पचास से भी अधिक वर्षों

के अनुभव से कह सकता हूं कि अपने संघ की कार्यपद्धति समाज का संगठन खड़ा करते हुए विजयशाली संगठित कार्यशक्ति का निर्माण करने में स्वयंपूर्ण और एकमेव है।

तो फिर इस संगठन का मूल्यांकन किस मापदण्ड से किया जाए? कुछ लोग सोचते हैं कि संघ के सभी स्वयंसेवकों की व्यक्तिगत शक्तियों का योग अर्थात् संघ शक्ति। किन्तु किसी की व्यक्तिगत शक्ति भी सभी परिस्थितियों में समान नहीं होती। व्यक्ति की शक्ति के दो स्तर होते हैं। मामूली ठंड से डरने वाला स्वयंसेवक बड़े सवेरे शाखा जाते समय ठंड की चिंता न करते हुए निकल पड़ता है। खाना बनाते हुए हाथ जलने से घबराने वाली महिला घर में आग लगने पर उसमें फंसे हुए अपने बच्चे को सुरक्षित बचा लेने के लिए उसी आग में कूद पड़ती है। एकत्रित हुए पांच सौ व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति का भी स्तर उनके उद्देश्य के आधार पर भिन्न-भिन्न होगा। बाजार में आए हुए पांच सौ व्यक्तियों और संघ स्थान पर आए हुए पांच सौ व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति का स्तर एक जैसा नहीं होता। संख्या समान होगी, किन्तु बाजार में इकट्ठे व्यक्तियों का व्यक्तित्व, उनकी मानसिकता, उनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न होंगे। बाजार में एकत्रित व्यक्तियों से शक्ति का निर्माण नहीं होता। संघ स्थान पर एकत्रित स्वयंसेवक अपना अहम् दूर रखकर "हम सब एक हैं" की भावना से आपसी प्रेम के आधार पर संगठन करते हैं तो उनकी एक शक्ति बन जाती है। सबके सामूहिक मन और अस्मिता के सायुज्य से एक संगठन बनता है (Organisation is the collective ego of all, put together) "संगठन" और "भीड़" में यही मौलिक अन्तर होता है।

"भीड़ एक मिश्रण मात्र होती है। सफेद नमक, सफेद शक्कर और सफेद रेत एकत्रित कर देने से कोई एकात्म चीज नहीं बनती। क्योंकि तीनों एक जैसे दिखने पर भी अपना-अपना गुण-धर्म नहीं त्यागते। उनकी सम्मिलित शक्ति, वजन आदि का जोड़ लगाकर शायद नापी जा सकेगी, किन्तु इससे अधिक नहीं। जब दो चीजें अपना-अपना अलगाव त्यागकर सम्पूर्णतः एक हो जाती हैं और उनमें से जब तीसरी एकात्म चीज पैदा हो जाती है, तब उस तीसरी चीज की शक्ति केवल दो मूल चीजों की शक्ति के जोड़ से कहीं अधिक बन जाती है। बीजगणित में एक बड़ा मौलिक सिद्धान्त आता है। दो नेता मान लीजिए "अ" और "ब" एकत्रित आए, और उनकी अपनी-अपनी प्रगति भी हुई, तो उनका वर्ग बना $अ^2 + ब^2$ । जब तक ये दोनों अपने-अपने अहं और अलग व्यक्तित्व के साथ केवल घन चिह्न से जुड़े हैं, कोई नई निर्मित नहीं होती। जब वे दोनों अपना दृष्टिकोण बदलकर, अलगाव छोड़कर, कोष्ठक में संगठित होते हैं और उस पर पूरे कोष्ठक का वर्ग किया जाता है तो बनता है $(अ + ब)^2$। और फिर नया रूप बनता है, $अ^2 + 2$ अ ब + $ब^2$ का। इस नये रूप में से "२ अ ब" यह एक नई चीज पैदा हो गई जो पहले नहीं थी। "अ" और "ब" दोनों जब एकात्म अस्तित्व बन गए, तभी उनमें से एक नई शक्ति का उद्गम हुआ। यही किसी संगठन की आन्तरिक शाक्ति होती है, जिसका निर्माण मात्र शक्तियों के जोड़ से नहीं, एकात्मता के कारण ही हो सकता है। संघ की शाक्ति इस प्रक्रिया से उत्पन्न होने के कारण संख्या आदि का आम नाप-तौल का मापदण्ड उस पर लागू नहीं किया जा सकता। उसे तो उसके प्रभाव एवं परिणाम के आधार पर ही नापा जा सकेगा।

इस विवेचन से एक बात स्पष्ट होती है कि तीन शक्तियां स्थायी हैं : (१) सिद्धान्तों की आन्तरिक शक्ति, (२) कार्यपद्धति की निजी शक्ति, और (३) संगठन की एकात्म शक्ति। ये तीनों शक्तियां संघ के विषय में सुप्रतिष्ठित हो चुकी हैं। परिस्थिति के अनुसार बदलती रहने वाली मात्र चौथी शक्ति है— "स्वयंसेवक की अपनी निजी शक्ति"। स्वयंसेवक को सदैव प्रयास करना चाहिए कि उसकी इस चौथी शक्ति का स्तर उच्चतम रहे। राष्ट्र का निर्माण समाचारपत्रों में छपने वाली आलोचना और टिप्पणियों आदि के आधार पर नहीं, राष्ट्रनिष्ठ एवं संगठित नागरिकों के परिश्रम से ही हो सकता है।

हमारी यह धारणा है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अर्थात् हिन्दू समाज-निःशेष हिन्दू समाज है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पंथ, सम्प्रदाय, संस्था, दल या समाज का एक विभाग नहीं है। संघ का प्रयास समाज के अन्तर्गत एक अलग संगठन खड़ा करना नहीं है वरन् सम्पूर्ण समाज को संघटित अवस्था में लाना है। इसलिए संघ और समाज समव्याप्त हैं, संघ का दायरा उतना ही विस्तृत है जितना समाज का। आज अन्तर इसलिए दिखाई देता है कि वर्तमान में हिन्दू समाज अपनी आर्दश अवस्था में नहीं है, वह विघटित है। वह सामाजिक-राष्ट्रीय चारित्र्य से कटा हुआ है। अतः यह आवश्यक है कि यह चारित्र्य पुनः निर्माण किया जाए, विघटन दूर हटाया जाए तथा समाज में संघटन पुनः निर्माण किया जाए। इस दृष्टि से संघ प्रयास कर रहा है। किन्तु संघ यह प्रयास करने वाली एक संस्था नहीं है अपितु वह हिन्दू समाज है। हां, यह बात ठीक है कि संघ की संघटन की जो कल्पना है उस दृष्टि से वह समाज का कुछ संघटित हिस्सा है जो आज संघ स्थान पर दिखाई देता है तथा जो संघटित हिस्सा नहीं है वह संघ स्थान के बाहर दिखाई देता है। संघ स्थान पर दिखाई देने वाली राष्ट्र की प्रतिकृति की सीमाएं धीरे-धीरे बढ़ाते-बढ़ाते सभी हिन्दुओं को सुसंघटित करना है। अर्थात् इस तरह सभी हिन्दू संघ के ही हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि इसकी कुछ लोग जानकारी रखते हैं इसलिए वे संघ स्थान पर आते हैं, कुछ लोगों को जानकारी नहीं है, वे संघ स्थान पर नहीं आते। इसलिए हम कहते हैं कि जो हमारे व्यक्त (Patent) स्वयंसेवक हैं वे शाखा पर आते हैं, और अव्यक्त (Latent) स्वयंसेवक शाखा पर नहीं आते। यद्यपि वे कभी-कभी भूल से विरोध भी करते हैं तथापि हर एक हिन्दू हमारा स्वयंसेवक है। कुछ आज स्वयंसेवक होंगे, कुछ भावी स्वयंसेवक हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें यह जानकारी दें।

जब हम कहते हैं कि हमें हिन्दू समाज का संगठन करना है, तब हमें संगठन शब्द का अभिप्राय भी समझना होगा। संघ ने संगठन शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया है। संगठन में स्वयंसेवक दल का प्रचलित अर्थ हमें अभिप्रेत नहीं है। हमारी यह धारणा नहीं है कि वालंटियरों का जमघट संगठन है। संगठन से हमारा अर्थ है व्यक्ति और समाज के आदर्श सम्बन्ध। वह आदर्श सम्बन्ध कैसा होना चाहिए। इस विषय में संघ की एक विशेष धारणा है। हिन्दू समाज की प्राचीनतम धारणा यही रही है कि जिस प्रकार शरीर और उसके अंग-प्रत्यंग के परस्पर सम्बन्ध होते हैं, उसी प्रकार के सम्बन्ध समाज, व्यक्ति और व्यक्ति-समूह के बीच होने चाहिएं। मनुष्य के शरीर में विभिन्न अवयव होते हैं, प्रत्येक का आकार तथा स्थान भी भिन्न-भिन्न है, यह भी संभव नहीं है

कि सभी अवयव एक ही शरीर के अंग होने से कोई अवयव किसी दूसरे अवयव का काम कर सके। हमारा यह कथन आध्यात्मिक स्तर पर सही है कि सभी एक जैसे ही हैं, परन्तु भौतिक धरातल पर उतरकर यदि इस सिद्धान्त को चरितार्थ करना चाहें और यह कहें कि कान और नाक दोनों समान हैं, अतः कान का विभिन्न राग-रागिनियों का सम्यक ज्ञान तथा स्वरमालाओं का सूक्ष्मता से परिचय कराने का काम नाक को करना चाहिए, तो हम स्वरवाद्यों से नाक सटाकर सौ वर्ष तक भी बैठे रहें तो भी नाक नहीं बता सकेगी कि आसावरी कौन-सी है और भैरवी कौन-सी। हर एक अवयव का कार्य भिन्न होता है तथा उसकी विकास की दिशा भी भिन्न होती है किन्तु ऐसा होते हुए भी यह बात नहीं है कि शरीर अवयवों का संघ है या महासंघ है। आकार, स्थान, कार्य और विकास की दिशा भिन्न होते हुए भी इसमें एकात्मता है। सभी अवयव मिलकर एक सजीव इकाई है। जब पैर में चोट लगती है तो आंखों में आंसू आते हैं। तब आंख यह विचार नहीं करती कि चोट तो पैर में लगी है उससे मेरा क्या सम्बन्ध? यदि मसूड़े में पीड़ा हो तो शेष सारा शरीर नहीं सोचता कि 'मसूड़े में पीड़ा है अतः वह अपना देख लेगा, मैं तो चैन की नींद सोऊंगा।' यदि सिर पर कोई प्रहार करने आता है तो हाथ उसकी रक्षा के लिए कंधों से ऊपर स्वतः चले जाते हैं। यह इसलिए नहीं होता है कि वैसा भारतीय संविधान या मनुस्मृति में लिखा है। वह तत्काल स्वाभाविक रूप से होता है। पेट यह नहीं सोचता कि जो गड़बड़ हो रही है वह जम्मू-कश्मीर में, हम तो मध्य प्रदेश में आराम से बैठे हैं, और जब यहां शत्रु आएगा तब देख लेंगे। अवयवों का अलग-अलग रूप होना विविधता है, भेद नहीं। विविधता के कारण सौंदर्य भी है। यदि ऐसी विविधता नहीं होती और शरीर के सारे अवयव एक जैसे होते तो शरीर बड़ा भद्दा दिखता। विविधता के कारण सौंदर्य भी निर्माण होता है तथा उसमें एकात्मता का रस भी होता है। जब संघ के विषय में हम विचार करते हैं तब संघ जिस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करता है उसे भी समझना होगा। हर एक कार्य विधान की अपनी पारिभाषिक शब्दावली होती है। साधारण मनुष्य जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं उनके आधार पर नहीं सोचा जाता है। इस दृष्टि से संघ ने कहा है कि संगठन किसी भी जीवमान समाज की स्वाभाविक अवस्था है और यदि वह अवस्था न हो तो इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि समाज या तो जीवित नहीं है या वह कम से कम होश में नहीं है।

'संगठन' से हमारा अभिप्राय अंगांगीभाव है। हर एक अंग-प्रत्यंग के मन में यह विश्वास तथा धारणा रहना आवश्यक है कि वह सम्पूर्ण शरीर के साथ एकात्म है। इस अनुभूति और साक्षात्कार को संघ ने संगठन की संज्ञा दी है। अपना समाज बहुत विशाल है। इसमें तरह-तरह के मत-मतान्तर, पंथ-सम्प्रदाय, परस्पर विरोधी राजनीतिक दल हो सकते हैं और हैं भी परन्तु सभी पंथों, सम्प्रदायों, राजनीतिक दलों, मत-मतान्तरों सहित हिन्दू समाज अर्थात् राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है।

जब संघ का यह स्वरूप दूसरे को बताया जाता है तब कल्पना कीजिए कि वह इसे कैसे समझेगा? मैं पहले कह चुका हूं कि जो कुछ देखा है उसी के आधार पर मनुष्य नई चीज ग्रहण कर सकता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि लोग संघ को कतई नहीं समझते हैं। जानते तो हैं परन्तु

अपने-अपने ढंग से। जब वे संघ के स्वयंसेवक को दण्ड, खड्ग, शूल आदि चलाते हुए देखते हैं तो सोचते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक अखाड़ा या व्यायामशाला होना चाहिए क्योंकि लोगों ने व्यायामशाला देखी है जहां दण्ड, खड्ग, शूल आदि चलाने की शिक्षा दी जाती है। मैं प्रायः दौरे पर रहता हूं तथा अनेक लोगों से मिलता रहता हूं। संघ के स्वयंसेवक के नाते मुझसे प्रायः लोग संघ के विषय में प्रश्न पूछा करते हैं। उनमें से एक व्यक्ति ने एक बार मुझसे कहा कि "आप चार सदियों के पूर्व के युग में रहते हैं, यह एटम बम का युग है और आप संघ वाले लाठी चलाते हो!" उन्होंने जो देखा है उसके आधार पर उनका प्रश्न सही है। प्रश्नकर्ता स्वयं एक राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने संसद में ओजस्वी शब्दों में कहा था कि भारत को अणुबम नहीं बनाना चाहिए। परन्तु उन्हें अणुबम के युग में संघ में दी जाने वाली दण्ड की शिक्षा कालबाह्य प्रतीत हुई। उनकी दृष्टि में अणुबम के युग में लाठी से कुछ नहीं हो सकता है। जैसे संघ लाठी लेकर ही सब कुछ करने वाला है। वैसे तो बंकिमचंद्र ने अपने "कमलाकान्त" उपन्यास में लाठी के विषय में इस प्रकार कहा है : "हाय लाठि तोमार दिन गियेछे किन्तु सुशिक्षित हाथे पडिले तुमि पारोना एमन कोनो काज नेई।" (हाय लाठी, तुम्हारे दिन अब चले गए हैं किन्तु यदि अच्छे पढ़े-लिखे मनुष्य के हाथ में पड़ी तो तू ऐसा कोई काम नहीं है जो नहीं कर सकती)। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने यह कभी नहीं कहा है कि हम अणुबम का सामना लाठी से करेंगे। वैसे इस वाक्य का उच्चारण विश्व के इतिहास में एक बार ही हुआ है कि "यदि मौका पड़ा तो अणुबम का मुकाबला हम हाथ में लाठी लेकर करेंगे।" और यह बहादुरी से भरा वाक्य लंदन में स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने बोला था। उनके सिवाय किसी ने भी इस तरह की बात नहीं कही है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में जो दंड, खड्ग, शूल, बौद्धिक, संघ गीत आदि कार्यक्रम होते हैं उनका उद्देश्य व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय पर एक विशिष्ट संस्कार अंकित करना है। सामूहिक क्रिया का महत्व इसलिए है कि उसके द्वारा समष्टिगत संस्कार अंकित होते हैं। यह बात लोगों के पल्ले नहीं पड़ती क्योंकि उन्होंने ये विचार न कभी सुने हैं, न कभी ऐसा कोई काम देखा है। उन्होंने तो केवल व्यायामशाला देखी है। वे कहते हैं कि संघ व्यायामशाला तो है किन्तु बहुत पुराने ढंग की, अणुबम के स्थान पर वह लाठी का उपयोग करता है।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि संघ एक सैनिक संगठन है। संघ में प्रजातंत्र का अस्तित्व ही नहीं है। वर्तमान समय की विभिन्न संस्थाओं का आचार-विचार देखकर जिन्हें यह लगा हो कि यह हिटलर का दल है तो मुझे लगता है कि उसमें उनका कोई दोष नहीं है। यह ठीक है कि संघ भले ही कहता हो कि हम अनुशासित हैं और उसका यह कथन ठीक भी है परन्तु जहां लोगों की धारणा यह बन चुकी है कि प्रजातंत्र तथा अनुशासन साथ-साथ नहीं चल सकते वहां यदि आप इस ढंग से एक कतार में बैठते हैं तो उन्हे बड़ा आश्चर्य होता है। मुझे विभिन्न स्थानों पर अनेक राजनीतिक दलों के मंच पर उपस्थित होने का अवसर मिलता है। वहां के वातावरण का मुझ पर भी इस तरह का असर होकर मुझे भी लगने लगा कि संघ में कुछ गड़बड़ है। यहां तानाशाही है। राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों का वातावरण बड़ा "लोकतांत्रिक" रहता है। कोई सिगरेट पीता है, मंच पर

तकिये के सहारे बैठने के लिए धक्कामुक्की होती है, लोग आते-जाते रहते हैं, इधर ध्वनिवर्धक यंत्र पर नेता का भाषण होता है, उधर मंच पर अन्य नेतागण चाय-पान करते हैं। जिसको इस वायुमण्डल का अभ्यास हो गया है वह जब संघ में लोगों को एक कतार में बैठे हुए देखता है तो वह स्वाभाविक रूप से कहेगा कि यह हिटलरशाही है।

संघ पर १९४८ में प्रतिबंध लगा था तो उस समय बंगाल के बैकरपुर नामक स्थान के बॉलीबाल क्लब के पांच-छह पदाधिकारियों को इसलिए गिरफ्तार कर लिया गया था कि वे निर्विरोध चुन लिए गए थे। मैं उन दिनों बंगाल में था। यह समाचार विदित होते ही मैं वहां गया। वहां के सर्किल इंस्पेक्टर से उन पकड़े गए व्यक्तियों के बारे में पूछताछ की। इंस्पेक्टर ने कहा कि वे लोग संघ की शाखा लगाने के अपराध में पकड़े गए हैं। मैंने उनसे कहा कि जब से संघ पर पाबंदी लगी हुई है तब से बैरकपुर में कोई संघ की शाखा नहीं चल रही है, फिर आपने इन लोगों को कैसे गिरफ्तार कर लिया? उन्होंने कहा कि उनके द्वारा चलाए गए बॉलीबाल क्लब के चालीस सदस्य होते हुए भी अध्यक्ष, मंत्री, कोषाध्यक्ष आदि के चुनाव बिना मारपीट हुए एकमत से हुए, यही एक बात इनका राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्वयंसेवक होना प्रमाणित करती है। अर्थ यह है कि जिसको जैसा अनुभव होता है वह उसके आधार पर संघ की धारणा कर लेता है। पूना में मेरे एक परिचित वयोवृद्ध राजनीतिक नेता थे। जब-जब मैं पूना जाता था, उनके दर्शन किए बिना पूना नहीं छोड़ता था। वे मुझे हमेशा घर की देहली के बाहर से ही बिना चाय पिलाए बिदा करते थे। परन्तु पूना के "पानशेत काण्ड" के उपरान्त जब मैं वहां गया और उनसे मिलने गया तो मेरी बड़ी आवभगत की। चाय पिलाई। मुझे उनके इस व्यवहार से बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर जब उनको स्वयं संघ के विषय में बात छेड़ते देखा तो मैं और भी आश्चर्यचकित हो गया, क्योंकि वे संघ के कट्टर दुश्मन थे। उन्होंने मुझसे कहा कि डाक्टर हेडगेवारजी बड़े दूरदर्शी थे। उन्होंने यह सोचकर कि १९६१ में पूना में बड़ी बाढ़ आएगी, १९२५ में ही नागपुर में एक स्थायी सहायता समिति का निर्माण किया। उस समिति के स्वयंसेवकों ने पानशेत की बाढ़ में लोगों के प्राण बचाए, उनके कारण ही मेरे भी प्राण बच पाए। मैंने मन ही मन कहा कि चलो डाक्टर हेडगेवार को एक प्रमाण-पत्र तो मिल गया। इस तरह जिसको जैसा अनुभव में आता है वैसा वह संघ को देखता है। किन्तु संघ का जो वास्तविक स्वरूप है उसे वे नहीं देख पाते। वे संस्था, सम्प्रदाय, सैनिक संगठन समझ सकते हैं परन्तु यह नहीं समझ सकते कि संघ अर्थात् सम्पूर्ण हिन्दू समाज है। इसका कारण इस प्रकार का संगठन निर्माण करने का प्रयास इससे पूर्व हुआ ही नहीं। जो हुआ नहीं, उसको समझना कठिन है। इसीलिए मैंने कहा कि भाषाशास्त्र में जितने अलंकार हैं उनका अर्थ यह है कि वह परिचित वस्तु के आधार पर अनोखी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम है। किन्तु भाषाशास्त्र में और भी एक अलंकार है जिसका नाम "अनन्वय" है। उसका उदाहरण साहित्य शास्त्र में इस प्रकार दिया गया है—

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।।

इसका अर्थ है कि आकाश आकाश के समान है, महासागर महासागर के समान है राम-रावण

युद्ध की तुलना राम-रावण युद्ध से ही हो सकती है। इसी प्रकार जब कहा जाता है कि संघ संघ के जैसा है तो बाहरी व्यक्ति क्या समझेगा? वह नहीं समझ सकता। "संघ" एक "अनन्वय" अलंकार होने के कारण बाहर के लोग सद्हेतु, सद्भावना से भी समझने का प्रयत्न करेंगे तो भी पर्याप्त समय लगेगा। जब तक संघ के साथ प्रत्यक्ष परिचय नहीं होता तब तक संघ समझने में कठिनाई होती है।

मैंने स्वयं इस बात का अपने जीवन में अनुभव किया है। तब मैं मॉरिस कालेज, नागपुर में पढ़ता था। मैं और मेरे अन्य साथी अपने आपको बहुत ही प्रगतिशील विचारों का समझते थे। कुछ मित्रों को लाठी लेकर संघ में जाते हुए देखकर हम लोगों को उन पर दया आती थी। परन्तु कुछ स्वयंसेवक मुझे संघ में ले जाने के लिए मेरे पीछे पड़ गए। संघ ने सिखाया है कि समाज पर आक्रामक प्रेम करो, अर्थात् मान न मान मैं तेरा मेहमान। मेरे स्वयंसेवक मित्र मुझे भरसक संघ समझाने का प्रयास करते थे, किन्तु उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती थी। उनकी यह बात कि "संघ का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना है" मेरी समझ के परे थी। यह संघ की शब्दावली है, उसका अपना विशिष्ट अर्थ है। वह अर्थ न समझने से अनर्थ भी हो सकता है। ईसा मसीह ने कहा कि " The letter killeth" अर्थात् अक्षरों के कारण हत्या भी हो सकती है। जब हम मनुष्य हैं तो मनुष्य का निर्माण करना हमें निरर्थक लगा। परन्तु उन्हीं दिनों मुझे हमारे कालेज की पत्रिका में प्रकाशित एक कविता देखने को मिली, जिसमें कहा गया था कि हमें मनुष्य चाहिए। कविता इस प्रकार थी—

Wanted men !
Not systems, fit and wise !
Not faith, with rigid eyes !
Not wealth, in mountain piles !
Not power, with gracious smiles
Not even the potent pen.
Wanted men !

इस कविता को पढ़ने के बाद संघ की मनुष्य निर्माण की बात का भी स्मरण हो आया। इसके बाद एक और रोचक प्रसंग पढ़ने को मिला। ग्रीस के सर्वश्रेष्ठ विचारक डायजेनिस एक बार भरी दुपहरी में हाथ में लालटेन लेकर एथेन्स के भरे बाजार में आए।। लोगों के पूछने पर उन्होंने कहा, "मैं मनुष्य ढूंढ रहा हूं।" लोग बड़े अचम्भे में पड़ गए। उन्होंने कहा, "हम सारे मनुष्य ही तो हैं, फिर उसकी खोज क्यों करते हो?" डायजेनिस बहुत ही क्रोधित हो गए। उन्होंने आवेश में कहा, "हट जाओ, मुझे मनुष्य चाहिए, बौने नहीं (Get out, I wanted men, not pygmies); मैं सोचने लगा कि संघ वाले भी कहते हैं कि मनुष्य चाहिए, वह कवि और डायजेनिस भी यही बात कहते हैं तो अवश्य इसमें कुछ अर्थ होगा। कुछ समय बाद इसी अर्थ का सेन्ट इगनेशियस का भी वचन देखा। उन्हीं दिनों स्वामी विवेकानन्द के चित्र के नीचे एक वाक्य पढ़ने को मिला, "आई वांट मेन विथ कैपिटल "एम" !" तब समझ में आया कि मनुष्य निर्माण भी कोई प्रक्रिया है।

केवल दो हाथ, दो पैर होने से मनुष्य मनुष्य नहीं बनता। उसे मनुष्य बनाने के लिए कुछ करना पड़ता है, तब संघ के प्रति आस्था बढ़ी और फिर ज्ञात हुआ कि मनुष्य बनने के लिए कुछ संस्कार आवश्यक होते हैं।

अब यह बताना कठिन है कि संघ में कितने दिन तक जाने से कितने संस्कार होंगे। इसका कोई गणनयंत्र नहीं है। संस्कारों की प्रगति इतनी सूक्ष्म होती है कि उसे ग्रहण करने वाले को भी उसका ज्ञान नहीं हो पाता है। उन्हें वह अनजाने ग्रहण करता रहता है। नवजात शिशु हर क्षण बढ़ता रहता है, परन्तु माता के लिए यह बताना कठिन है कि चौबीस घंटे के भीतर उसका बालक कितना बढ़ा होगा। हां, उसी बालक को दस वर्ष के पश्चात देखने पर यह बताना सरल होता है कि वह कितना बढ़ा है। ठीक इसी प्रकार संस्कारों की प्रगति होती रहती है और कठिन परीक्षा के समय संस्कार युक्त और संस्कार विहीन व्यक्ति की पहचान होती है। एक सुभाषित है।

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिक काकयोः।
वसंतसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः।।

अर्थात् कोयल और कौवा दोनों काले रंग के होते हैं किन्तु उनकी पहचान वसन्त ऋतु आने पर होती है।

संघ में आने वालों और संघ में न आने वालों में अन्तर का पता कैसे चले? जब परीक्षा का समय आता है तभी संस्कारों का प्रभाव दिखाई देता है। बहुत अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। संघ के स्वयंसेवकों ने समाज के घटक के नाते कई काम किए हैं, संघ संघ के नाते काम नहीं करता है क्योंकि संघ कोई संस्था नहीं है, परन्तु समाज के घटक के नाते स्वयंसेवकों ने कई काम किए हैं। यहां एक छोटा सा उदाहरण पर्याप्त होगा। १९६५ में जब भारत पर पाकिस्तान का आक्रमण हुआ था तब भारत-पाकिस्तान सीमा पर स्थित फाजिल्का शहर में सरकार ने "नागरिक सुरक्षा" कार्यक्रम का प्रारम्भ किया। वहां के प्रमुख राजनीतिक दल के जिलाध्यक्ष को नागरिक सुरक्षा समिति का अध्यक्ष चुना गया। कुछ समय बाद जब एक मंत्री महोदय वहां निरीक्षण के लिए आए तब सम्बन्धित राजनीतिक दल के लोगों से उनकी शिकायत की कि "जिलाधीश का आचरण बहुत पक्षपातपूर्ण है क्योंकि वे संघ वालों को ही नागरिक सुरक्षा में भर्ती होने के लिए बढ़ावा दे रहे हैं। संघ वाले ही वहां भर्ती होकर शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। हमारे दल के लोगों को निमंत्रित नहीं किया जाता है।" यह सुनकर मंत्री महोदय क्रोध से आगबबूला हो गए। उन्होंने तुरन्त जिलाधीश को उपस्थित होने का आदेश दिया। जिलाधीश के आते ही मंत्री जी बरस पड़े, "क्या तुम पागल हो? अरे, ठीक है कि राष्ट्र पर आक्रमण हुआ है। राष्ट्र तो बच ही जाएगा। जो होगा सो देखा जाएगा, परन्तु पहले अपने दल का हित देखना चाहिए। हमारे दल के लोगों को अगुआपन क्यों नहीं देते?" तब जिलाधीश ने विनम्रता से कहा, "मान्यवर मंत्री जी! ऐसी बात नहीं है कि आपकी पार्टी के जो जिलाध्यक्ष हैं उनको ही मैंने समिति का सर्वेसर्वा बनाया है। परन्तु जब शिक्षा देने का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ तो संघ वाले निकर पहन कर बिल्कुल निष्ठापूर्वक वहां आने लगे और शिक्षा-दीक्षा लेने लगे। अब मैं क्या करूं? दूसरे लोगों का आना तो दूर रहा आपके जिलाध्यक्ष भी नहीं आए।"

मंत्री ने कहा, "यह आपका काम था कि उन्हें बुलाने जाते।" उत्तर में जिलाधीश ने कहा कि, "जब मैं उनके बंगले पर चौथे दिन पहुंचा तो जिलाध्यक्ष ने उत्तर दिया, "जिलाधीश जी! आप मुझे पागल मत समझिए। मैं इन संघ वालों के समान आवारा नहीं हूं। उनके आने से क्या बिगड़ता है। न आगा, न पीछा। मैं तो बाल-बच्चे वाला गृहस्थ हूं। मेरे तो नन्हें-नन्हें बच्चे है।" उस समय उनका सबसे छोटा लड़का एम. एस सी. में पढ़ रहा था। अतएव परीक्षा के समय इस बात का पता चलता है कि संस्कारित हृदय और असंस्कारित हृदय में क्या अन्तर होता है।

कई लोग पूछते हैं कि "भाई! हम संघ स्थान पर आकर क्या करें? हमारा एक घंटा व्यर्थ खर्च होता है। वहां आप ऐसा कौन-सा बड़ा काम करते हैं? कभी गीत गाते हो, कभी थोड़ी लाठी चला लेते हो, कभी कबड्डी खेलते हो। ये सब बहुत ही साधारण बातें हैं। इनसे क्या होगा? उन्हें यह पता नहीं है कि मनुष्य की परिपूर्णता में छोटी बातों का भी बड़ा योगदान होता है।

एक बार यूरोप के एक बड़े चित्रकार माइकेल एंजलो ने एक उत्तम चित्र बनाया और उसे एक सज्जन को दिखाया। चित्र देखने पर उक्त सज्जन ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की तो माइकेल एंजलो ने कहा "मैं इस चित्र में और भी सुधार करने वाला हूं।" छह महीने के बाद वे सज्जन चित्र देखने पुनः पधारे। माइकेल ने चित्र में जो सूक्ष्म सुधार किए थे, वे उन्हें समझाए। उक्त सज्जन बोले, "यह तो साधारण सा परिवर्तन किया गया है, इससे क्या अंतर पड़ने वाला है। " Every change is trifle, all change are trifles" (प्रत्येक परिवर्तन छोटी बात है, सभी परिवर्तन छोटे होते हैं)। माइकेल उक्त कथन पर बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने कहा, " All right Sir! all changes are trifles; but nevertheless all these trifles put together make perfection and perfection is not trifle." अर्थात् महोदय, यह ठीक है कि परिवर्तन छोटी बातें हैं, किन्तु ये छोटी-छोटी बातें मिलकर ही पूर्णता प्रदान करती हैं, और पूर्णता छोटी नहीं होती।" छोटी-छोटी बातों को लोग ठीक नहीं समझते। वे कहते हैं कि चीन और पाकिस्तान की बात करना राष्ट्रभक्ति है, कबड्डी खेलने से क्या होगा? परन्तु यह सोचना भूल है। सामूहिक क्रियाओं द्वारा सामूहिकता के संस्कार होते हैं। इसलिए जो छोटी-छोटी बातें संघ स्थान पर होती हैं उनका अपना महत्व है।

सन् १९४६ में एक बार कलकत्ता के निवासकाल के समय श्रीगुरुजी से, मेडिकल कालेज के प्राध्यापकों के साथ चायपान के कार्यक्रम के समय, एक प्राध्यापक ने कहा, "हमें आपका संघ बहुत अच्छा लगता है, यहां संस्कार आदि होते हैं, सब ठीक है। किन्तु एक बात हम नहीं समझ पाते कि कबड्डी, दण्ड, खड्ग आदि के द्वारा यह राष्ट्र निर्माण का कार्य कैसे हो सकेगा, क्योंकि ये सारे कार्यक्रम बहुत ही तुच्छ हैं।" श्रीगुरुजी ने कहा, "आप लोग चिकित्सा विज्ञान के ज्ञाता हैं। अतः मैं आप लोगों से एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। पेनिसिलिन औषधि कैसे निर्माण की जाती है?" उत्तर प्राप्त होने पर श्रीगुरुजी ने कहा, "यदि बासे अन्न पर जमा हुई फफूंदी जैसी तुच्छ वनस्पति पर एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा औषधियों का राजा (Master Drug) औषधि पेनिसिलिन का निर्माण हो सकता है तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि विशेषज्ञ के हाथों में पड़ने पर क्षुद्र

वस्तु से भी उत्तम परिणाम की प्राप्ति हो सकती है। इस दृष्टि से हम भी संगठन शास्त्र के विशेषज्ञ हैं।"

लोग समझते हैं कि रेडियो पर प्रभावी भाषण आ जाने या समाचार पत्रों में छप जाने से मन पर उसका प्रभाव पड़ता है। परन्तु लेखों या भाषणों से मन पर स्थायी संस्कार नहीं होते हैं। मन पर स्थायी संस्कार करने के लिए व्यक्ति को प्रतिदिन एक विशिष्ट और पवित्र वायुमण्डल में रखने की आवश्यकता हुआ करती है। इस दृष्टि से संघ ने अपनी एक विशिष्ट कार्यपद्धति का विकास किया है। किन्तु जिनको पता नहीं है उनसे यदि यह कहा जाए कि कबड्डी खेलते-खेलते हम राष्ट्र का निर्माण करेंगे तो वे कहेंगे कि यह तो निरा पागलपन है। इसलिए यदि लोग इसे समझते नहीं हैं तो मैं समझता हूं कि उनको दोष देना ठीक नहीं है।

संस्कार करना संघ का कार्य है। प्रतिदिन की उपस्थिति संघ की कार्यपद्धति का केन्द्र-बिन्दु है। इसके माध्यम से हर-एक व्यक्ति को सुसंस्कारित करना, इन सुसंस्कारित व्यक्तियों के बीच संगठन निर्माण करना अर्थात् राष्ट्र के विषय में एकात्मता का भाव पैदा करना, इस एकात्मता के कारण सम्पूर्ण समाज के साथ अनुशासनबद्ध होकर चल सके, ऐसी परिस्थिति निर्माण करना तथा इस प्रकार एक अनुशासनबद्ध, राष्ट्रीय एकात्मता के भाव से युक्त राष्ट्रपुरुष निर्माण करना, संघ का कार्य है। संघ की शब्द-रचना ऐसी है कि उसकी कार्यपद्धति लोगों की समझ में नहीं आती है।

आजकल संघ के विषय में जो अनेक प्रकार के वाद-विवाद चलते रहते हैं, वे संघ के लिए उपकारक सिद्ध हो रहे हैं। पहले लोग इतने उदासीन थे कि संघ के बारे में कुछ जानना ही नहीं चाहते थे। अब प्रतिदिन समाचारपत्रों में कुछ न कुछ विवादास्पद बातें छपने लगी हैं तो लोग संघ के विषय में सोचने लग गए हैं। फलस्वरूप जिज्ञासावश संघ में आने भी लगे हैं। संघ को समझ लेने के कारण वे संघ में सम्मिलित भी हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति संघ के स्वयंसेवक भी बन गए हैं, जिनके साथ संभव है कि संघ के स्वयंसेवक स्वाभाविक परिस्थिति में सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाते, परन्तु विरोधियों की कृपा ने उन्हे संघ के अन्तर्गत ला दिया। संघ विरोधी प्रचार के कारण ही राष्ट्र और राष्ट्रीयत्व के बारे में लोगों के मन में उत्सुकता निर्माण हुई है। वैसे संघ किसी का विरोधी नहीं है। संघ तो सम्पूर्ण समाज है। अतः वह किसका विरोध करेगा? हां, यह हो सकता है कि समाज के ही कुछ अंश संघ का विरोध करें। यह अच्छी बात है कि संघ के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में विवाद निर्माण होता रहता है। इस कारण संघ को अपने मौलिक सिद्धान्त बार-बार बताने का अवसर मिलता है।

संघ के विरुद्ध यह आरोप लगाया जाता है कि वह साम्प्रदायिक है। हिन्दुस्थान के राजनीतिक "सेक्युलर" शब्द का जो अर्थ लगाते है वह अंग्रेजी भाषा के किसी भी शब्दकोश में नहीं मिलता है। सेक्युलर अर्थात् वह जो आध्यात्मिक या पारलौकिक नहीं, इहवादी है। जिस अर्थ में हमारे देश के राजनीतिक सेक्युलर शब्द का प्रयोग करते हैं उसके लिए असाम्प्रदायिक राज्य (Non-denominational State) जैसे शब्दों का व्यवहार होना चाहिए। किन्तु हमारे यहां सेक्युलर

शब्द से दूसरा अर्थ लिया जा रहा है। वैसे शब्दों के अर्थों में परिवर्तन होता ही रहता है। जैसे पहले इव्होल्यूशन का अर्थ होता था उन्मीलन (प्रोग्रेसिव अनफोल्डमेंट), अब उसका अर्थ है विकास (प्रोग्रेसिव डवलपमेंट)। आइडियोलॉजी शब्द के विषय में भी ऐसी ही बात है।

साम्प्रदायिक शब्द का प्रयोग करके यह सिद्ध किया जाता है कि अमुक राष्ट्रवादी नहीं, राष्ट्रविरोधी है। इस विवाद से एक लाभ यह हुआ कि इससे राष्ट्रीयता को कुछ सम्मान प्राप्त हुआ है। क्योंकि संघ को गाली देने वाले लोग हमेशा कल्पना के अंतरिक्ष में घूमने वाले लोग होते हैं। धरती पर उनके पैर कभी नहीं लगते वे कहीं अन्तर्राष्ट्रीयता की बात कहेंगे, तो कहीं अन्तर्ग्रहीय एकता की। परन्तु हिन्दुस्थान की बात कभी नहीं करते। उनका कहना है कि राष्ट्रीयता एक संकुचित भावना है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीयता का कोई विरोध नहीं है। किन्तु पाश्चिमात्य देशों में ऐसा समझा जाता है, इसलिए भारत में भी वैसा ही माना जाने लगा है। लोग यह नहीं समझते हैं कि राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का आपस में कोई मौलिक विरोध नहीं है और हिन्दुस्थान में तो बिल्कुल नहीं है।

राष्ट्र शब्द का अंग्रेजी में भाषांतर हुआ है नेशन। और आग्रह किया जाता है कि राष्ट्र के अंग्रेजी भाषांतर "नेशन" के जो नियम हैं, वे राष्ट्र पर भी लागू होने चाहिएं। पहले तो यह अन्वेषण का विषय है कि पश्चिम में लोगों की कल्पना और हमारी राष्ट्र की कल्पना क्या एक ही है? डा॰ अम्बेडकर ने इसका अन्वेषण किया था कि "पहले यूरोप में राष्ट्रीयता नहीं, ट्रायबलिज्म था। ट्रायबलिज्म का मतलब है टोलियां। वहां कृषि का अन्वेषण न होने के कारण पशुपालन और शिकार, ये दो ही धंधे थे। अपने पशुओं का पालन और शिकार करने के लिए उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर चारे की तलाश में जाना पड़ता था। उन्हें अनवरत भ्रमण करना पड़ता था, इस कारण किसी भी एक भूमि के बारे में उनकी आत्मीयता होने का प्रश्न ही नहीं था। बाद में जब कृषि की खोज हुई और कृषि के लिए एक स्थान पर रहना आवश्यक हुआ तब ट्रायबलिज्म अर्थात् गोत्रीयत्व और उसके साथ-साथ भूमि के विषय में प्रेम अर्थात् प्रादेशिकत्व का संयोग हुआ। "गोत्रीयत्व" और "प्रादेशिकत्व" के संयोग से राष्ट्रीयता निर्माण हुई। उनका कहना है कि यह प्रक्रिया लगभग तीन-चार सौ साल चली। ढाई-तीन सौ वर्ष पहले इंग्लैंड के राजा को इंग्लैंड का राजा नहीं अंग्रेजों का राजा (किंग ऑफ दी इंग्लिश) कहा जाता था। फ्रांस का राजा "किंग ऑफ दी फ्रांस नहीं, किंग आंफ फ्रेंच-फ्रांसीसियों का राजा" कहा जाता था। इंग्लैंड का राजा, फ्रांस का राजा की प्रादेशिक संज्ञा अभी ढाई-तीन सौ साल की बात है। यूरोप में राष्ट्रीयता का प्रारम्भ ट्रिस्को जर्मनिक हमलों (Trisco Germanic Invasion) के पश्चात हुआ और विशेष रूप से पोप की अधिसत्ता के खिलाफ अलग-अलग राजाओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यह भावना निर्माण हुई। विभिन्न साम्राज्यों के खिलाफ अलग-अलग लोगों में जो प्रतिक्रिया थी उसके फलस्वरूप ज्यादा से ज्यादा पिछले तीन-साढ़े तीन सौ साल में राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई। पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता की भावना पूरी है, यदि यह मान भी लिया जाए तो मनोविज्ञान की दृष्टि से सोचने की बात यह है, और इस पर अन्वेषण होना चाहिए कि गुणात्मक दृष्टि से, सनातन काल से चलता आया जो

राष्ट्र है, उस राष्ट्र के लोगों के मन में अपनी भूमि और राष्ट्र के विषय में एकात्मता के भाव की उत्कृष्टता और केवल तीन-चार सौ साल में जिन्होंने एकात्मता का अनुभव किया उनकी एकात्मता की उत्कृष्टता में कुछ अंतर है क्या? अधिक समय से चला आ रहा भूमि और जन के साथ एकात्मता के भाव और थोड़े दिन के एकात्मता के भाव में उत्कृष्टता की दृष्टि से अंतर होना स्वाभाविक है।

दूसरी बात यह है कि हिन्दुस्थान में जो लोग राष्ट्र की बात करते हैं वे राष्ट्र और राज्य, दोनों को ही एक ही समझते हैं। प्रश्न यह है कि राष्ट्र और राज्य, दोनों क्या एक ही हैं? नहीं,दोनों अलग-अलग बातें हैं। इतिहास भी इसकी पुष्टि करता है कि राष्ट्र और राज्य, दोनों अलग-अलग बातें हैं। आज भी हम यह देखते हैं कि राष्ट्र अलग बात है, और राज्य अलग बात है। यह ठीक है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात "राष्ट्र राज्य" कल्पना का उदय हुआ। एक राष्ट्र एक राज्य में रहना चाहिए, यह बात आई। बात अच्छी है। हम उसका स्वागत करते हैं। किन्तु ये दोनों— आज के राष्ट्र और राज्य — हमेशा समव्याप्त रहेंगे, ऐसा दिखाई नहीं देता। एक राष्ट्र, एक से अधिक राज्य, एक से अधिक राष्ट्र दोनों तरह के उदारहण आज भी हम देख सकते हैं। "चेकोस्लोवाकिया" राज्य एक है, राष्ट्र दो हैं। यूगोस्लाविया राज्य एक है, राष्ट्र तीन हैं। सोवियत रूस में एक सौ से अधिक राष्ट्र और राष्ट्रक एक राज्य के अन्तर्गत हैं। फिर राष्ट्र एक, राज्य अनेक वाली बात भी है। जर्मनी राष्ट्र एक है, राज्य दो है। कोरिया राष्ट्र एक , राज्य दो हैं। आयरलैंड राष्ट्र एक है, राज्य दो हैं। स्पष्ट है कि राष्ट्र और राज्य दोनों समव्याप्त नहीं हैं। इसके अलावा दोनों के कार्य भी एक नहीं हैं। यह ठीक है कि राष्ट्र और राज्य, दोनों के कुछ साझा तत्व हैं। दोनों के लिए भूमि की आवश्यकता है, दोनों के लिए जन की अर्थात् लोगों की आवश्यकता है, और इसके कारण जहां एक राष्ट्र-एक राज्य का मामला होता है, वहां भूमि और जन, दोनों समान दिखाई देते हैं। लेकिन दोनों के कार्य अलग-अलग हैं। राज्य के कार्य के लिए यह आवश्यक है कि भूमि और जन के साथ-साथ सरकार भी होनी चाहिए और उस सरकार का सार्वभौमत्व-सर्वप्रभुत्व भी होना चाहिए। सरकार और सार्वभौमत्व के बिना राज्य नहीं हो सकता। किन्तु राष्ट्र सरकार और सार्वभौमत्व के बिना भी हो सकता है। हमारे देश का तो यह इतिहास ही है कि कितनी ही शताब्दियों तक इसके विस्तृत भूभाग पर, हमारे देश में हमारी सरकार नहीं थी, सार्वभौमत्व नहीं था,तो भी हमारा राष्ट्र जीवित रहा। राष्ट्र की विशिष्ट जीवन-पद्धति और उनकी संस्कृति ही राष्ट्र के लिए प्राणस्वरूप हुआ करती है। सरकार और सार्वभौमत्व राज्य के लिए अपरिहार्य हैं, राष्ट्र के लिए नहीं। राष्ट्र किसी विशिष्ट भूमि पर वहां के लोगों की विशिष्ट जीवन-पद्धति का और संस्कृति का नाम है। राष्ट्र को शरीर मान लिया तो राज्य उसका "वस्त्र मात्र" है। और संस्कृति उसका प्राण है। शरीर और वस्त्र का जो सम्बन्ध है वही राष्ट्र और राज्य का सम्बन्ध है। राष्ट्र और राज्य दोनों एक हैं, यह समझना भूल होगी।

और भी एक बात है। "राष्ट्र कल्पना" के कारण तदअनंतर लोगों के मन में निर्माण होने वाला एकात्मता का भाव, और राज्य एक होने के कारण निर्माण होने वाली एकात्मता, क्या एक ही प्रकार

की हैं? ऐसा दिखता है कि राज्य एक होने के कारण उतनी एकात्मात निर्माण नहीं हो सकती है जितनी राष्ट्र एक होने के कारण होती है, क्योंकि राष्ट्र सजीव तत्व है और राज्य एक निर्जीव यंत्र। इस कारण राष्ट्र के द्वारा निर्माण होने वाली एकात्मता राज्य के द्वारा निर्माण नहीं हो सकती। चेकोस्लोवाकिया का उदाहरण हमारे सामने है। चेकोस्लोवाकिया में एक राज्य और दो राष्ट्र हैं। इतने साल से एक राज्य रहने के बावजूद "स्लाव" लोगों की मांग है कि हमारी स्वतंत्र अस्मिता है, हमें अलग राज्य चाहिए। सोवियत रूस में सात दशक के कम्युनिस्ट शासन में भी एकात्मता का निर्माण नहीं हुआ। वहां भी अलग-अलग राष्ट्रों की अलग-अलग स्वतंत्र अस्मिता दिखाई देती है। स्वयं को वैभवशाली राष्ट्र का अंग बताना मनुष्य का स्वभाव है। सम्पन्न परिवार के साथ हर एक आदमी अपना रिश्ता जोड़ना चाहता है, उसमें गौरव का अनुभव करता है। जब ब्रिटिश साम्राज्य था उस समय हम ब्रिटिश थे, ऐसा कहने में सबको गौरव का अनुभव होता था। लेकिन जैसे सम्पन्न परिवार गरीब हो जाता है, उसके ऊपर कर्ज चढ़ने लगता है, उसकी बेइज्जती होने लगती है, तो पहले उसके साथ रिश्ता जोड़ने का गौरव का अनुभव करने वाले लोग कहने लगते हैं कि उसका हमारा कोई रिश्ता नहीं है, ऐसी ही बात अंग्रेजों केसाथ भी दिखाई देती थी। जब तक ब्रिटिशों साम्राज्य रहा था तब तक स्कॉटलैण्ड, नार्थ आयरलैण्ड और वेल्स के लोग अपने को ब्रिटिश कहते थे। तब ऐसा आभास हुआ था कि यह एकात्मता राज्य के कारण निर्माण हुई है। किन्तु जैसे ही ब्रिटिश साम्राज्य टूटा, गरीबी के दिन आ गए, उसकी दुर्दशा हो गई, वैसे ही स्कॉटलैण्ड और वेल्स में स्वतंत्र अस्मिता जाग्रत हुई। कहने लगे, स्वतंत्र नहीं तो कम से कम हमारे स्वायत्त राज्य अलग होने चाहिएं, हमारी संसद होनी चाहिए। अमेरिका में ऐसा कहते हैं कि सारा एक राष्ट्र है, सब लोग इसमें गौरव का अनुभव करते हैं कि हम अमेरिकन हैं। लेकिन यदि कोई संकट आ जाएगा तो वहां जो अलग-अलग जातीय गुट हैं वे कहां तक उस राष्ट्र के साथ अपना सम्बन्ध और निष्ठा दिखाएंगे, यह आज नहीं कहा जा सकता।

राज्य के कारण वह एकात्मता निर्माण नहीं हो सकती जो राष्ट्र के कारण होती है। राष्ट्र और राज्य दो अलग-अलग बातें हैं। यह समझना चाहिए। यह न समझते हुए जो नियम राज्य के लिए लागू हैं, वह राष्ट्र के लिए लागू होंगे, ऐसा कहने का अर्थ है कि हमें पूरी जानकारी नहीं है। यूरोपीय राष्ट्रों का जो विकास क्रम है उसके कारण ही राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता को परस्पर विरोधी माना गया। यूरोप में राष्ट्रीयता का निर्माण और बलवान होना एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। यूरोप का राष्ट्रवाद केवल तीन-चार सौ वर्ष का है। वह अभी शैशवावस्था में है। किन्तु हिन्दुस्थान का राष्ट्रवाद इतना प्राचीन है कि इतिहास ने जब कभी अपनी आंखें खोलीं, उसने उसे राष्ट्र के रूप में ही देखा। यूरोप के विकास क्रम का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि यहां पहले पोप का अधिराज्य पूरे ईसाई जगत पर था परन्तु बाद में धीरे-धीरे अपने-अपने पृथक राष्ट्र का विचार बल पकड़ता गया। इंग्लैंड ने आठवें हेनरी के समय पोप के हस्तक्षेप को अस्वीकार कर दिया। पोप तथा स्पैनिश आर्मिडा के विरोध में इंग्लैण्ड का राष्ट्रवाद प्रखर हो उठा। नेपोलियन के आक्रमणों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तेरह विभिन्न राज्यों में बंटे हुए जर्मन लोगों का राष्ट्रवाद प्रबल

हुआ। आस्ट्रियाई साम्राज्यवाद के आक्रमण के फलस्वरूप विभिन्न राज्यों में विभक्त हुए इटली में राष्ट्रीयता का भाव प्रखर हुआ। इस प्रकार यूरोप में प्रतिक्रिया के रूप में राष्ट्रवाद जन्मा। इस कारण वहां के लोगों की धारणा बन गई है कि राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच विरोध है। और जब राष्ट्रवाद से हानि होने लगी तब अन्तर्राष्ट्रीयता की बात चल पड़ी। मार्क्स और लेनिन ने कहा कि राष्ट्रवाद को समाप्त किया जाए। परन्तु जब प्रथम महायुद्ध में विभिन्न देशों के कम्यूनिस्ट लोगों ने भी अपने-अपने देश के साथ गद्दारी नहीं की तो लेनिन को बहुत दुःख हुआ।

हिन्दुस्थान में राष्ट्रीयता का ऐतिहासिक विकासक्रम सर्वथा भिन्न है। एक तो हमें इस बात का पता नहीं है कि हमारा राष्ट्रीयत्व कब प्रारम्भ हुआ। इतिहास काल के पूर्व से ही हिन्दू राष्ट्रीयत्व विश्व संस्कृति के लिए एक कार्य-प्रणाली के संचालन के आधार (Base of operation) के नाते काम कर रहा है। अनादि काल से विश्व में एक सुसंस्कृत राष्ट्र के नाते हमारा देश विद्यमान था और हमारे पूर्वजों के मन में यह विचार कदापि नहीं था कि हम शेष विश्व के लोगों का शोषण करेंगे। उन्होंने यह सोचा था कि हम जैसे सुसंस्कृत हैं विश्व को भी वैसा ही सुसंस्कृत बनाएंगे। हमारा जो स्तर है, उसी स्तर पर सारे विश्व को लाएंगे। उनकी घोषणा थी कि **"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** "। यह ध्यान देने की बात है कि आर्य शब्द गुणवाचक है, वंश या जातिवाचक नहीं। अतएव हिन्दू राष्ट्रवाद विश्व की सभ्यता एवं संस्कृति को संपुष्ट करने का आधार रहा है।

यूरोप की राष्ट्रीयता एक और बात में भिन्न है। उसके विकासक्रम के कारण वहां के लोगों का विचार बहुत ही "सांचेबंद" है। वे सोचते हैं कि विभिन्न सामाजिक संघटनों में परस्पर विरोध है। इसलिए वहां के विचार विरोध पर आधारित होते हैं। वहां व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र मानवता, विश्व आदि इकाइयों के बीच विरोध पाया जाता है। इसलिए वहां अधिकार क्षेत्र का प्रश्न सदा उपस्थित रहता है। व्यक्ति और परिवार, व्यक्ति और समाज, राष्ट्र और मानवता के सम्बन्धों में प्रत्येक का अधिकार क्षेत्र क्या हो, इस विषय पर बहस चलती रहती है। इसके कारण ही वहां अनेक "वाद" तथा उन पर आधारित समाज रचनाएं प्रचलित हुई हैं। जिस प्रणाली में व्यक्ति का दायरा बड़ा और समाज तथा राज्य का दायरा छोटा होता है वह प्रजातंत्र, जिसमें समाज तथा राज्य का दायरा सर्वंकष होता है वह अधिनायक तंत्र या कम्युनिज्म कहलाता है। कम्युनिज्म में व्यक्ति को राज्य यंत्र का केवल निर्जीव पुर्जा माना जाता है। यूरोप में व्यक्ति और समाज तथा राज्य के दायरे में खींचातानी चल रही है।

हमारे मनीषियों, ऋषि-मुनियों ने साक्षात्कार किया था कि व्यक्ति-परिवार, व्यक्ति-समाज, राष्ट्रीयता-अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध नहीं है, वरन् ये मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास की कड़ियां हैं। जिस प्रकार बीज, अंकुर, पौधा, शाखाएं, पल्लव, फूल-फल नैसर्गिक विकास की अवस्थाएं हैं, उसी प्रकार व्यक्ति से लेकर मानवता तक परस्पर पूरक तथा पोषक चेतना विकासक्रम की अवस्थाएं हैं। इसलिए हमारे यहां यह वस्तुतः माना गया है कि यथार्थतः व्यक्ति से लेकर परमेष्टि तक जितनी भी सामाजिक इकाइयां हैं वे एक विकासक्रम मात्र हैं। तत्वतः यह माना गया है कि जैसे-जैसे व्यक्ति की चेतना का विकास होता जाता है वैसे-वैसे वह चेतन जगत

के साथ स्वयं को अधिकाधिक एकात्म समझता है। छोटा बच्चा प्रारम्भ में अपना ही विचार करता है परन्तु धीरे-धीरे माता, पिता, भाई, बहन तथा सम्पूर्ण परिवार के साथ एकात्म हो जाता है। और बड़ा होने पर समाज, राष्ट्र के साथ एकात्म होता है। चेतना का विकास होने पर वह सम्पूर्ण मानवता के साथ एकात्म अनुभव करता है। जब उसे आत्मज्ञान होता है तब वह संन्यास ग्रहण कर **"स्वदेशो भुवनत्रयम"** मानता है। संक्षेप में हमारे यहां यह धारणा है कि व्यक्ति का परिवार, राष्ट्र या विश्व बंधुता के साथ कोई विरोध नहीं है। वे उत्तरोत्तर आत्मचेतना के विकास की नैसर्गिक अवस्थाएं हैं। इस दृष्टि से वस्तुतः सामाजिक संरचना तथा तत्वतः मनुष्य की आत्मचेतना का विकास हमारे यहां जीवन का लक्ष्य माना गया है। हमारे यहां समाज व्यवस्था की यह पद्धति रही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी पद्धति से अपना-अपना विकास करे। अपने-अपने गुण-कर्म के आधार पर अपना-अपना जीवन क्रम निश्चित करे। प्रत्येक को अपने विकास की स्वतंत्रता रहे। सभी व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों के मन में सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति एकात्मता का भाव रहे तथा वह अपने-अपने विकास का फल राष्ट्र देवता के चरणों में समर्पित करने के लिए सिद्ध रहे। इस प्रकार व्यक्ति तथा व्यक्ति समूह का सम्पूर्ण विकास तथा राष्ट्र की एकात्मता का समन्वय किया गया है। इस व्यवस्था में व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूह के विकास के लिए पूरी स्वतंत्रता है, व्यक्ति और राष्ट्र के परस्पर सम्बन्धों में एक लचीला अनुशासन है। इस लचीले अनुशासन के कारण व्यक्ति से लेकर परमेष्टि तक समाज के सभी घटक अपने-अपने स्थान पर ठीक ढंग से कार्य करते हैं।

हिन्दुओं के सम्बन्ध में ये सारी बातें जानना आजकल बहुत ही प्रतिक्रियावादी माना जाता है। हिन्दू विचारों को घोर प्रतिक्रियावादी कहा जाता है। यह सब यहां के नेताओं में अज्ञान के कारण होता है। उन्होंने सुन रखा है कि यूरोप में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का मेल नहीं है, इसी आधार पर राष्ट्रीयता को कोसते हुए वे अन्तर्राष्ट्रीयता के अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं। अब संघ को गाली देने के निमित्त ही क्यों न हो, बाध्य होकर उनको आसमान से जमीन पर आना पड़ा है। अब वे यह कहने लगे हैं कि राष्ट्रीयता का भी अस्तित्व है, वह एक मान्य तथ्य है

विरोधियों द्वारा संघ को गाली अभियान के कारण एक दूसरा लाभ भी हुआ है। हमारे यहां राजनीतिक रचना ऐसी है कि जो जितनी अधिक विभेद की बातें करेगा उसको उतना ही अधिक लाभ तुरंत हो सकता है। जो जितनी अधिक छोटी इकाई का अभिमान लेकर काम करेगा वह उतनी ही जल्दी कहीं न कहीं चुनकर आ सकता है। फलस्वरूप प्रादेशिकता, भाषीयता जैसे विघटनकारी विवाद बढ़ रहे हैं। इन विघटनकारी प्रवृत्तियों से ग्रस्त सारे नेतागण मौखिक सहानुभूति दिखाने तथा लोगों के दिखावे के लिए ही क्यों न हों, अब राष्ट्रीयता का नाम ले रहे हैं। हृदय से ये लोग जाति, सम्प्रदाय और प्रदेशाभिमानी हैं, केवल नाम के लिए राष्ट्रीयता का नाम लेते हैं। परन्तु उनकी दांभिकता भी एक दृष्टि से उपकारक ही कही जाएगी। अंग्रेजी में एक सुभाषित है : "Hypocrisy is a tribute paid by vice to virtue." – अर्थात् दम्भ पाप द्वारा पुण्य को दी गई भेंट है। इससे हमें राष्ट्र और राष्ट्रीयता को समझने और समझाने का अवसर प्राप्त हुआ है।

राष्ट्र के विषय में संघ और संघ विरोधियों का मतभेद बहुत पुराना है। १९२५ में संघ संस्थापक डा॰ हेडगेवार जी को इस विषय में बहुत ही आग्रह के साथ कहना पड़ा था कि यह हिन्दू राष्ट्र है। उस समय भी बड़े विवाद खड़े हुए थे। इस संदर्भ में सर्वप्रथम हिन्दू शब्द का अर्थ समझने की आवश्यकता है। कुछ दिन पूर्व एक विदेशी पत्रकार ने संघ के विषय में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से मुझसे कहा कि "आप लोग जो हिन्दू रिलीजन लेकर चल रहे हैं...।" मैंने उन्हें बीच में ही टोकते हुए कहा, "चर्चा करने के पूर्व आप यह बताइए कि हिन्दू रिलीजन क्या है? और हिन्दू रिलीजन नाम का कौन-सा रिलीजन हैं?" उस पत्रकार ने कहा कि वे विदेशी हैं अतः उन्हें ये सारी बातें विदित नहीं हैं। तब मैंने कहा कि "रिलीजन मनुष्य और उसके निर्माता के बीच सम्बन्ध का नाम है" (Religion is relationship between a man and his Maker) मनुष्य को बनाने वाले को कोई अल्लाह कहे, कोई भगवान कहे, जव्होवा कहे या स्वर्ग में रहने वाला पिता कहे, उसे किसी भी नाम से सम्बोधित करे, परन्तु "रिलीजन" मनुष्य और भगवान के बीच सम्बन्ध का नाम है। अतः "रिलीजन" सर्वथा व्यक्तिगत बात है। हिन्दुओं ने सदा ऐसा ही माना है। इसलिए अन्य देशों की इस धारणा को कि सबका "रिलीजन" एक होना चाहिए, हमारे यहां अशास्त्रीय माना गया है। हमारे यहां यह कहा गया है कि सबका एक रिलीजन नहीं हो सकता है। यदि रिलीजन व्यक्ति और भगवान के बीच सम्बन्ध है, तो प्रवृत्ति, रुचि, प्रकृति, शारीरिक, बौद्धिक मानसिक और आध्यात्मिक स्तर की विभिन्नता के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता होने से सबका एक ही रिलीजन कैसे हो सकता है? इसलिए हमारे यहां सबके लिए एक किताब, एक मसीहा, एक उपसनापद्धति, एक अल्लाह और एक द्वंद्वात्मकता नहीं मानी गई है। हमारे यहां यह माना गया है कि जितनी रुचियां और प्रवृत्तियां हो सकती हैं उतने ही रास्ते भी हो सकते हैं। यहां उपासना पद्धति की पूरी स्वतंत्रता है। हमारे यहां तो यहां तक कहा गया है कि अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग रिलीजन होना आवश्यक है। सबका गंतव्य स्थान एक होते हुए भी दिशाएं अलग-अलग हो सकती हैं। जैसे कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास में रहने वाले व्यक्तियों को नागपुर पहुंचना हो तो प्रत्येक को अलग-अलग दिशाओं में जाना होगा, सबके प्रस्थान स्थल भिन्न-भिन्न होने के कारण एक ही दिशा से आना संभव नहीं है।

भौतिकवादी तत्वज्ञान के जनक डमोक्रेट्स के कई शताब्दियों पूर्व हिन्दुस्थान में देवगुरु बृहस्पति ने **"असतो सत् अजायत"** कहकर पश्चिम के भौतिकवादी तत्वज्ञान का सूत्रपात किया तथा चार्वाक तक उसका एक सूत्रबद्ध तत्वप्रणाली के रूप में प्रभाव रहा। परंतु जब इस जड़वाद ने उपभोगवाद का रूप धारण कर लिया तब इसकी प्रगति रुक गई। हमारे यहां के आध्यात्मिक विचारों में द्वैतवादी, अद्वैतवादी आदि अनेक पंथ हैं। ईसाई मिशनरी जोंस स्टन्ले ने अपने "दि रोल ऑफ क्राइस्ट" ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखा है कि हिन्दुस्थान में उपासना की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको हिन्दू कहता है। कोई भूत-प्रेत-पिशाच को मानते हैं, कोई पत्थर-पेड़ की पूजा करते हैं, तो कोई गंगा किनारे बैठकर आत्मा-अनात्मा-परब्रह्म की चर्चा करते हैं, तथापि सभी हिन्दू कहलाते हैं। इस बात का प्रस्तावना

में उल्लेख करने के पश्चात स्टन्ले अपने पादरी भाइयों को सावधान करते हैं कि "हिन्दुत्व के इस आक्टोपस से सावधान। एक दिन यह तुम्हारे ईसा को निगल सकता है।"

आक्टोपस अष्टपाद जलचर प्राणी है, यह दक्षिण महासागर में मिलता है। इस प्राणी की यह विशेषता है कि यह मुंह से कुछ नहीं खाता। वह महासागर में संचार करता रहता है और देखता रहता है कि कहीं कोई ऐसा छोटा प्राणी है जिसको खाया जा सकता है। यदि ऐसा प्राणी दिखा तो वह उसके सिर पर बैठ जाता है। उसका पेट बड़ा मुलायम होता है। जिस प्राणी पर यह बैठता है वह उससे चिपक जाता है। उस प्राणी के चिपकते ही वह अपने आठों पांव समेट लेता है। जब उसके पांव खुलते हैं तो वह प्राणी दिखाई नहीं देता है, क्योंकि मुलायम पेट के माध्यम से उसने उसको निगल लिया होता है। यह जो अष्टपाद प्राणी है उसकी उपमा देते हुए स्टन्ले ने कहा, "हिन्दुत्व के आक्टोपस से सावधान रहो।" उन्होंने यह भी कहा कि "यह हिन्दुत्व एक दिन ईसा मसीह को भी आत्सात कर सकता है।" आत्मसात करने की दृष्टि से उनका कहना गलत नहीं है। क्योंकि ईसा मसीह को तो हमने आत्मसात कर रखा है। कोई चीज ईसा मसीह ने ऐसी नहीं कही है जो हमारे द्रष्टाओं ने नहीं कही। ईसा को हमने इतना आत्मसात कर लिया है कि गांधी को कुछ लोग क्रिश्चियन और गांधी जी अपने को सनातनी हिन्दू कहते थे।

एक ईसाई मिशनरी श्रृंगेरी के पूर्व शंकराचार्य श्री चन्द्रशेखर भारती के पास गए और उनसे कहा " मैं आपके साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हूं। वे बोले, किसलिए? पादरी ने कहा, यह जानने के लिए कि आपका हिन्दू धर्म अच्छा है कि हमारा क्रिश्चियन धर्म अच्छा है।" भारती जी बोले, "दोनों एक ही हैं, शास्त्रार्थ की आवश्यकता ही क्या है? मतभेद होता है तब शास्त्रार्थ होता है। आपका हमारा कोई मतभेद नहीं है।" मिशनरी ने कहा कि "नहीं, मतभेद जरूर है, हम आपसे भिन्न हैं।" तो उसने कहा कि, "अच्छा भाई, पूछो।" उन्होंने पूछा कि "हिन्दू कॉस्मोलॉजी क्या है?" उन्होंने कहा, "जो आपकी है।" (कॉस्मोलॉजी यानी विश्व का निर्माण कैसे हुआ वगैरह) तो बोले कि "हमारी कॉस्मोलॉजी बताती है कि बाइबल में कहा गया है कि " भगवान ने कहा, प्रकाश हो, और प्रकाश हो गया।"

शंकराचार्य ने कहा कि हमारे यहां भी यही कहा गया है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि एक सत्य होते हुए भी— सत्य जिनको बताना था उनका स्तर अलग-अलग था और सुनने वाले लोगों की समझदारी के स्तर को ध्यान में रखते हुए, उन्हें उसका विवरण अलग-अलग भाषा में करना पड़ा। यहां गाय का महत्व बहुत है। येरूशलम में भेड़ का महत्व बहुत है। यहां गोपाल हुआ, वहां गड़रिया हुआ। बात एक ही है। कॉस्मोलॉजी एक ही है। ईसा ने जब येरूशलम के लोगों को कहा, "भगवान ने कहा, प्रकाश हो, और प्रकाश हो गया" तो उन लोगों का स्तर ऐसा था कि उन्होंने सुन लिया और मान लिया। जब हमारे देश में स्तर कुछ ऊंचा था। यहां विद्वान लोग थे। तब यह प्रश्न पूछते हैं कि "भगवान ने क्यों कहा कि प्रकाश हो?" तो उसका उत्तर देना चाहिए। हमारे यहां उसका उत्तर भी दिया गया है। **स अकामयत् एकोऽहं बहुस्यामिति।** वह एक ही था। उसके मन में इच्छा हुई कि मैं एक हूं अनेक होना चाहिए। इसलिए उसने अपने को विविध रूपों में प्रगट

किया। अपने को अनेक करने की प्रक्रिया में पहले कहा, प्रकाश हो, इसलिए प्रकाश हो गया। अतः कॉस्मोलॉजी में अंतर नहीं है। शंकराचार्य चन्द्रशेखर भारती का यह कथन सुनकर ईसाई मिशनरी संतुष्ट होकर चले गए।

मैं समझता हूं कि हमारे देश के राजनीतिक नेताओं की तुलना में जोन्स स्टन्ले ने हिन्दुओं को ठीक ढंग से समझा है। जब इतनी प्रकार की उपासना पद्धतियों का हिन्दुओं में समावेश हो सकता है तो और दो-चार उपासना पद्धतियों को अपने में समा लेना उसके लिए कोई बड़ी कठिन बात नहीं है। इस भय के कारण ही संभव है कि जोन्स स्टन्ले ने अपने पादरी भाइयों को हिन्दुत्व के प्रभाव से सावधान रहने की चेतावनी दी होगी।

कहते हैं कि रिलीजन के कारण झगड़े होते हैं। किन्तु क्या रिलीजन के कारण दुनिया में कभी झगड़े हुए? कभी नहीं। जो लोग रिलीजन का नाम लेकर अपना स्वार्थ बढ़ाने की कोशिश करते हैं, झगड़े उनके कारण हुए। यह बहाना बनाने वाले दो तरह के लोग हैं। एक, वे जो राजनीतिक स्वार्थ लेकर चलते हैं, दूसरे, वे जिनका व्यक्तिगत स्वार्थ होता है। हर एक रिलीजन में जब किसी अर्थव्यवस्था का निर्माण होता है तो उस समय कई ठेकेदार निर्माण हो जाते हैं। उसके पुरोहित खड़े हो जाते हैं। वे अपना कुछ निहित स्वार्थ बना लेते हैं। उस निहित स्वार्थ के कारण झगड़े खड़े होते हैं। हिन्दुस्थान में जो आक्रामक आए, वे अपने को आक्रामक नहीं कहते थे। किन्तु ऐसा नहीं है कि वे बड़े साधु-सन्त थे; उनको अल्लाह का साक्षात्कार हुआ था और अल्लाह का संदेश यहां पहुंचाने के लिए ही उन्होंने अपनी तलवार निकाली थी। मोहम्मद गजनवी यहां का सोना और हीरे लूटने आया था। वह कोई साक्षात्कारी पुरुष नहीं था। जितने लोग यहां आए फिर चाहे तुर्क हों, मुगल हों, पठान हों, अरब हों, वे सभी यहां की सम्पत्ति के लालच से आए। यहां शासन चलाने के इरादे से आए। लेकिन बाहरी आक्रमणकारी के समाने एक समस्या रहती है, अंग्रेजों के सामने भी यही समस्या थी कि इतने लम्बे-चौड़े देश पर थोड़ी संख्या वाले हम लोग कैसे शासन चला सकते हैं? अपने देश से लोगों को लाएंगे तो भी कितने लोगों को लाएंगे? जब तक हम यहां अपना गुट, अपने लिए अनुकूल एक वर्ग तैयार नहीं करते तब तक इतने विशाल देश का शासन चलाना संभव नहीं। गुट बनाने का एक अच्छा रास्ता था यहां अपना रिलीजन फैलाना। अर्थात् जो लोग उनके रिलीजन में शामिल हो जाएंगे वे जाति-बाह्य माने जाएंगे, अपने समाज और धर्म से बहिष्कृत हो जाएंगे, तब उनका ही अनुकूल गुट बन सकता है। इसी दृष्टि से यहां धर्मान्तरण का प्रयोग हुआ। किन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता कि धर्मान्तरण कराने वाले राज्यकर्ता बड़े श्रद्धालु मुस्लिम थे। अंग्रेजों ने भी यही किया। उन्होंने यहां अपनी ईसाइयत फैलाई। आज भी पूर्वांचल में, चाहे मेघालय हो, अरुणाचल हो, असम हो, नागालैंड हो, ईसाइयत का जो प्रचार चल रहा है वह ईसा मसीह का साक्षात्कार कराने के लिए नहीं चल रहा। बल्कि यह कार्य राजनीतिक स्वार्थ साधने के लिए किया जा रहा है। अतएव ईसा और ईसाइयत, मुहम्मद और इस्लाम के कारण झगड़े नहीं हैं। भारत विभाजन के बाद जिस पाकिस्तान की निर्मित हुई है, उस पाकिस्तान के निर्माता बैरिस्टर जिन्ना न तो मस्जिद में जाते थे, न कुरान ही पढ़ते थे। वे

नास्तिक पुरुष थे। लेकिन उनको जब यह पता चला कि इस्लाम का नाम लेने से उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा पूर्ण हो सकती है तो उन्होंने इस्लाम का नाम लिया। यह बात सब लोग जानते हैं कि राजनीतिक स्वार्थ साधन के लिए ईसाइयत या इस्लाम का उपयोग लोगों ने किया।

इसी प्रकार दुनिया का इतिहास बताता है कि जिनका निहित स्वार्थ निर्माण हुआ, यानी रिलीजन संस्थागत होने के बाद जो व्यवस्था आई उसमें जिनको प्रमुखता प्राप्त हुई थी उस वर्ग ने, उपाध्याय ने, चाहे वह पुजारी, मुल्ला कहा जाए, विशप कहा जाए, पादरी कहा जाए—अपने निहित स्वार्थ के लिए झगड़े निर्माण किए। आज हमसे यह कहा जाता है कि यहां हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते हैं। ठीक है यहां हिन्दू भी हैं, मुसलमान भी हैं, लेकिन जहां सौ प्रतिशत मुसलमान देश हैं वहां दंगे क्यों होते हैं?

वास्तव में झगड़ा रिलीजन का नहीं है, झगड़ा तो इस बात का है कि रिलीजन और राष्ट्रीयता का अपना-अपना न्यायोचित अधिकार क्षेत्र क्या होना चाहिए? जब रिलीजन अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करता है तब संघर्ष निर्माण होता है। यह संघर्ष हिन्दुस्थान में ही होता है ऐसी बात नहीं। शत-प्रतिशत इस्लाम मतावलम्बी देशों में भी यह संघर्ष हुआ है। तुर्किस्तान शत-प्रतिशत इस्लाम मतावलम्बी देश है। वहां पहले खिलाफत थी। जिस प्रकार ईसाई जगत पर पोप का अधिराज्य चलता था उसी प्रकार इस्लाम जगत पर खलीफा का प्रभुत्व माना जाता था। बाद में खिलाफत टूट गई।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस्लामी देशों में राष्ट्रभाव का नवजागरण हुआ। मिस्र में राष्ट्रीयता की जागृति के साथ प्राचीन इतिहास का अभिमान जाग उठा। फॅरोव्हा राजाओं ने प्रचण्ड पिरामिडों का निर्माण किया था। उनके प्रति अभिमान की लहर दौड़ गई। रास्तों, भवनों और ग्रंथालयों को उनके नाम दिए जाने लगे। स्थान-स्थान पर उनकी प्रतिमाएं स्थापित होने लगीं। धर्मान्ध लोगों ने यह कहकर उसका विरोध किया कि फॅरोव्हा राजा काफिर थे। फॅरोव्हा राजा मोहम्मद पैगम्बर के कई शताब्दियों पूर्व हुए थे। अतः उनका मुसलमान होना कैसे संभव था। तब नवजाग्रत राष्ट्रवादी मिस्रियों तथा धर्मांध मिस्रियों के बीच जोरदार संघर्ष हुआ। जब अफगानिस्तान में अमानुल्ला ने राष्ट्रीयता का भाव जगाने का प्रयास किया तो मुल्ला-मौलवियों ने घोर विरोध करके उसको कुचल डाला। क्योंकि अमानुल्ला उतने प्रभावशाली नहीं थे। जब नवजागृत ईरान ने इस्लाम के उदय के पूर्व के अपने पराक्रमी राष्ट्रपुरुषों— रुस्तम, सोहराब, जमशेद, बैराम का अभिमान जाग्रत किया तब भी विरोध हुआ था। परन्तु वहां राष्ट्रवादी शक्ति की उस समय विजय हुई। तुर्किस्तान ने तो ऑटोमन साम्राज्य की ही नहीं, इस्लाम के पूर्व के साम्राज्य की भी स्मृति जाग्रत रखी। उसने इस्लाम के नाम पर अरब संस्कृति को ग्रहण करने से अस्वीकरा कर दिया, बुर्का हटा दिया, पौशाक में परिवर्तन कर दिया तथा तुर्की भाषा में कुरान का अनुवाद कराया तो मुल्ला-मौलवियों ने घोर विरोध किया, "भला कुरान का कहीं अनुवाद भी हो सकता है।" इस विरोध का कमाल पाशा तथा उनके पथप्रदर्शक जिया गॉक आल्प ने डटकर सामना किया। उन्होंने कहा 'भगवान इतना अनाड़ी नहीं है कि अरबी छोड़कर अन्य भाषाओं में की गई प्रार्थना नहीं समझ सकता।' यह

ऐतिहासिक सत्य है कि जिस दिन तुर्किस्तान में तुर्की भाषा में लिखा गया कुरान मस्जिदों में पढ़ा गया उस दिन सारे देश में भीषण रक्तपात हुआ। वहां एक ओर इस्लाम को गलत ढंग से सार्वजनिक जीवन में लाने वाले लोग थे तो दूसरी ओर नवजाग्रत राष्ट्रवादी लोग। हमारे यहां के अजातीयतावादी, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी, अंतरिक्ष-संचारी नेताओं से पूछा जा सकता है कि "भाइयो! तुर्किस्तान में कौन-सा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ था? वहां दंगे क्यों हुए?"

शत-प्रतिशत इस्लामी क्षेत्रों में राष्ट्रवाद के साथ इस्लाम का जो गलत अर्थ लगाया जाता है वह वास्तव में इस्लाम और उसके पैगम्बर मोहम्मद के साथ अन्याय है। राष्ट्रीयता और इस्लाम का मेल बैठ सकता है। मोहम्मद साहब ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'भगवान ने हर-एक जाति के लिए अपने-अपने प्रेषितों का निर्माण किया है।' परन्तु इन बातों की ओर देखने का किसी को अवसर ही नहीं है। वे तो इस्लाम को केवल राजनीतिक सौदेबाजी का एक साधन बनाना चाहते हैं। इस्लाम राष्ट्रवाद के विरोध में है, इस प्रकार की भ्रामक कल्पना सामने रखी जाने के कारण ही मुस्लिम देशों में दंगे-फसाद हुए हैं। इंडोनेशिया स्वतंत्र हुआ तो वहां के तत्कालीन राष्ट्रपति डा. सुकर्णो ने भारत के प्रधानमंत्री स्वर्गीय पं. जवाहर लाल को पत्र लिखा था "हम आपके अत्यन्त ऋणी हैं, क्योंकि आपकी सांस्कृतिक विरासत का हम उपभोग कर रहे हैं।"

यह बात बिल्कुल गलत है कि यदि इस्लाम को मानते हैं तो राष्ट्रीय संस्कृति को छोड़ देना चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दुस्थान में जो संघर्ष है वह हिन्दू विरुद्ध मुसलमान न होकर इस बात का है कि इस्लाम का न्यायोचित अधिकार क्षेत्र क्या है। राष्ट्रीयता का और इस्लाम के न्यायोचित अधिकार क्षेत्र का अपने यहां विचार करने पर यह ज्ञान हो जाएगा कि इस राष्ट्र में हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है। हिन्दू नाम का कोई पंथ नहीं है। यहां के सब निवासी हिन्दू हैं। क्या मुसलमान हिन्दू नहीं हैं? ऐसे कितने मुसलमान हैं जो यहां अरबिस्तान से आए हुए हैं? ये सभी यहीं के रहने वाले थे। इनका जबरन धर्मान्तरण किया गया है। स्वतंत्रतापूर्वक अपनी उपासना पद्धति पर चल सकते हैं। किन्तु साथ ही वे यह भी मानें कि वे इस हिन्दू परिवार, हिन्दू रक्त और खानदान के हैं। राष्ट्र के नाते हिन्दू हैं। मातृभूमि के प्रति वही श्रद्धा रखें जो यहां के राष्ट्रीय लोगों के मन में है। इस देश के इतिहास के बारे मे वही भावना रखें जो हिन्दुओं के मन में है। इतिहास में मान-अपमान, उत्थान-पतन, वैभव-विपन्नता तथा सुख-दुःख के जो अवसर आए हैं उनके विषय में उनकी और हिन्दुओं की अनुभूति एक होनी चाहिए। आज की परिस्थिति तथा भविष्य की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के विषय में उनके और हिन्दुओं के विचार-भाव एक होने चाहिएं। यह तभी हो सकता है जब रिलीजन को वे नितांत व्यक्तिगत मानकर चलें।

जो लोग यह कहते हैं कि हमारे यहां झगड़े सम्प्रदाय के कारण हुए, उसके पीछे उनका भी निहित स्वार्थ है। यहां मुसलमानों को अलग करने वाले दो तरह के निहित स्वार्थ हैं। एक, मजहबी ठेकेदारों का और दूसरा, राजनीतिज्ञों का। जैसा मैंने कहा कि परकीय आक्रामकों को, चाहे मुसलमान हो, चाहे अंग्रेज हो, यहां अपना गुट निर्माण करना था। इसलिए अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए रिलीजन का उन्होंने दुरुपयोग किया। १९८४ में न्यायमूर्ति मुर्तजा हुसैन की अध्यक्षता

में "अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था" विषय पर लखनऊ में एक गोष्ठी हुई। इस गोष्ठी में मैं मुख्य वक्ता था। मेरे भाषण के बाद मुर्तजा हुसैन साहब ने कहा, "मुसलमानों में बढ़ रही साम्प्रदायिकता के लिए मुसलमान दोषी नहीं हैं। मुसलमानों का थोक वोट प्राप्त करने के लालच में हिन्दू राजनीतिक नेता उन्हें अधिकाधिक अधिकार देने की स्पर्धा कर रहे हैं। मुसलमान इतने पागल नहीं हैं कि उन्हें अधिकाधिक अधिकार देने की स्पर्धा चले और वे उसका लाभ न उठाएं। आप पहले अपने हिन्दू राजनीतिक नेताओं को ठीक कीजिए।" यह दुःख की बात है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जो राजनीतिक पद्धति अपने देश में आई, प्रादेशिक राष्ट्रवाद पर आधारित होने के कारण यह विभाजनकारी है। इस पद्धति में जो जितनी अधिक अलगाव की बात करेगा, उसको उतने अधिक वोट मिलेंगे। वोट पाने के लिए देश का क्या होगा इसकी फिक्र न करते हुए, मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग रखने की कोशिश करते रहते हैं। यदि साधारण देहात में रहने वाले मुसलमान के पास जाएंगे तो उसके दिमाग में इस प्रकार का कोई चक्कर दिखाई नहीं देगा। जब तक कोई राजनीतिक नेता वहां नहीं जाता और वोट पाने के लिए उसमें हिन्दुओं से अलग होने का अहसास नहीं जगाता, उसके दिमाग में उसकी पहचान नष्ट हो जाने का भय निर्माण नहीं करता कि मुझे वोट दो नहीं तो तुम सुरक्षित नहीं हो, तब तक साधरण देहाती मुसलमान के दिमाग में अलग होने की बात आती ही नहीं। वह जानता है कि हम यहीं के हैं। हमारा कुल-खानदान और हिन्दुओं का कुल-खानदान एक है। उसको बिगाड़ने वाले पहले मुगल, तुर्क और पठान थे। फिर अंग्रेज आए, और अब राजनीतिक नेता आ गए। ये राजनीतिक नेता तब तक देश का विभाजन करने वाली बात करते रहेंगे जब तक या तो आज की राजनीतिक पद्धति बदली नहीं जाती, या आज की पद्धति में जब तक उनको यह भय नहीं होता कि इस तरह मुसलमानों का वोट प्राप्त करने के लिए यदि हम भेद पैदा करते रहे, मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग करते रहे, उनके मन में हिन्दुओं के बारे में भय पैदा करते रहे, तो उसके कारण मुसलमानों का जितना वोट मिलेगा, उससे ज्यादा हिन्दुओं के वोट खिसक जाएंगे, तब तक उनकी गंदी राजनीति का यह खेल चलता रहेगा। अर्थात् मूलतः कोई भेद नहीं। किन्तु मंथरा का काम करने वाले राजनीतिक लोगों के कारण यह विभेद पैदा हुआ है। मंथरा का काम कर रहे ये ही राजनीतिक नेता राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर भी कीचड़ उछाला करते हैं।

राष्ट्र के विषय में बात करते समय कहा जाता है कि हमारे यहां संघर्ष राष्ट्रीयता विरुद्ध साम्प्रदायिकता का है। यह साम्प्रदायिकता क्या चीज है? वे कहते हैं कि धर्म के कारण साम्प्रदायिकता आती है। हिन्दू धर्म वाले मुसलमान मजहब मानने वालों को तकलीफ देते हैं। मैं इस बात में नहीं जाऊंगा कि कौन किसको तकलीफ देता है। यह छोटी बात है। लेकिन हम यह सोचें कि हिन्दू धर्म के कारण क्या कभी संघर्ष पैदा हो सकता है? सबसे पहले तो हम एक बात देखें कि हिन्दू नाम का कोई सम्प्रदाय है क्या?

यहां सभी पंथ हैं, सभी सम्प्रदाय हैं। हिन्दुओं के अलग-अलग सम्प्रदाय हैं, परन्तु हिन्दू सम्प्रदाय नाम का कोई सम्प्रदाय नहीं है। फिर भी हिन्दू यह जानता है कि सम्प्रदाय क्या है? वह

जानता है कि मनुष्य और अन्तिम सत्य के बीच में जो रिश्ता है उसको सम्प्रदाय कहा गया है। जब भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा कि—

येप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
ते पि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम्।।

अर्थात् जो अन्य देवताओं के भक्त हैं वे भी मेरा ही पूजन कर रहे हैं, तो उन्होंने निश्चित रूप से उस समय बाकी जितने भी देवता अस्तित्व में होंगे उनकी कल्पना की। वैसे ही उनके पश्चात् दुनिया में जितने देवता निर्माण होने वाले होंगे, उनको अल्लाह कहिए, जहोवा कहिए, कुछ भी कहिए, कितने ही नाम हैं, उन सबकी भी कल्पना उन्होंने की। हमारे यहां पर एक प्रार्थना है। वह हमारे इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करती है। कहा है "त्रेलोक्यनाथ हरि मेरा वांछित फल मुझे दें। मेरी कामना पूरी करें।" और उस त्रेलोक्यनाथ हरि का वर्णन क्या किया—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन् इत्यथ जैन शासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽ यं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

'शैव जिसको शिव कहते हैं, वेदान्ती जिसको ब्रहम् कहते हैं, बौद्ध जिसको बुद्ध कहते हैं, जैन जिसको अर्हत् कहते हैं, वह हरि मेरी कामना पूरी करें।" यह स्पष्ट है कि यदि आज इस प्रार्थना का निर्माण हुआ होता तो शायद कहते कि मुसलमान जिसको अल्लाह कहते हैं, ईसाई जिसको फादर इन हेवन कहते हैं, यहूदी जिसको यहोवा कहते हैं, वह मेरी कामना पूरी करे। इसका अर्थ है लक्ष्य एक ही है, रास्ते अलग-अलग हैं। इस दृष्टि से हमारे यहां सम्प्रदाय को व्यक्तिगत बात माना गया है। हर-एक का सम्प्रदाय अलग-अलग होना चाहिए, ऐसी अपने यहां कल्पना है। इसके कारण हिन्दू सम्प्रदाय के लिए झगड़ा करेगा, यह हो ही नहीं सकता। हिन्दू सम्प्रदाय नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।

विभिन्न मसीहाओं ने विभिन्न देशों में, विभिन्न भाषाओं में अपने-अपने अनुयायिओं की प्रवृत्तियों तथा परिस्थितियों के अनुसार ईश्वर-मनुष्य के सम्बन्ध में चर्चा की है। यदि ईसा मसीह ने कहा कि "तेरे नाम की जय जयकार हो" (Glory be unto the name) तो हमारे यहां उसे द्वैत कहा गया है। ईसा मसीह का यह कथन कि "मैं अपने पिता में हूं। वह तुझमें और तुम मुझमें हो" (I am in my Father He, in you, and you in me) तो यह हिन्दुओं का विशिष्ट द्वैत है। उनका यह कथन कि मैं और मेरा पिता एक ही हैं, मैं ही मार्ग, सत्य और जीवन हूं (I and my Father are one. I am the Way, the Truth and the Life) हमारे सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि" तथा अद्वैत की ही प्रतिध्वनि है।

ऊपर के विचार हमारी समझ में आ सकते हैं कि हिन्दुओं में धर्म के बारे में कठमुल्लापन नहीं है। हमारे यहां तरह-तरह के सम्प्रदाय हैं। हम तो तैंतीस (अब अस्सी) करोड़ देवताओं के पूजक

हैं। अब जिनका पूजागृह इतना प्रशस्त स्थान है उनके यहां एक और अल्लाह या एक और मसीहा को स्थान मिल जाना कठिन बात नहीं है। हिन्दुत्व कोई "वाद " नहीं है। सुविधा के लिए किसी शब्द का उपयोग तो उसका अभिप्राय होगा, हिन्दू सब धर्मों का संघ है। मार्क्सवाद भी अब एक पूर्ण सम्प्रदाय बन गया है। एक ग्रंथ दास कैपिटल, एक मसीहा मार्क्स, एक अल्लाह द्वंद्वात्मकता आदि साम्प्रदायिक विशेषताएं उसमें पाई जाती हैं। हिन्दू का पवित्र पूजा-गृह सब सम्प्रदायों के लिए खुला है। इसलिए हिन्दू धर्म के कारण जो साम्प्रदायिकता की बात उठाते हैं वे हिन्दू को समझ नहीं पाए हैं। हिन्दू नाम का कोई सम्प्रदाय नहीं है, हिन्दुओं के कई सम्प्रदाय हैं।

संघ के द्वितीय सरसंघचालक स्वर्गीय श्रीगुरुजी ने तो यहां तक कहा है कि "जब दूसरे सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता की बात कही जाती है तो उसका अर्थ होता है कि एक श्रेष्ठ और दूसरा हीन सम्प्रदाय है तथा दूसरे के प्रति सहिष्णुता दिखाई जा रही है। यह विचार गलत है। उन्होंने कहा है कि सब धर्मों के प्रति हमारे में समादर की भावना है। मुसलमान कुरान पढ़ सकते हैं, मस्जिद में जा सकते हैं। धार्मिक नेता के नाते मुहम्मद पैगम्बर का स्मरण कर सकते हैं। ईसाई बाइबल पढ़ सकते हैं। गिरजाघरों में जा सकते हैं। यहां सबको उपासना की स्वतंत्रता है। परन्तु यहां राष्ट्र एक है, जन एक है, संस्कृति एक है। इस बात का कदापि विस्मरण नहीं होना चाहिए।" श्रीगुरुजी ने कहा है कि "यह मान लो कि यह राष्ट्र मेरा है। हमारे और आपके पूर्वज एक हैं, यह कहने में आपको संकोच क्यों हो रहा है कि रामचन्द्र और कृष्ण हमारे पूर्वज हैं? जो राष्ट्रीय ग्रंथ हैं, आप उनको धर्मग्रंथ मानें या न मानें, लेकिन वे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं। कई हिन्दू वेद को धर्मग्रंथ नहीं मानते, परन्तु ग्रंथ मानते हैं। कोई अमेरिका में रहेगा तो कहेगा कि मैं अमेरिका का राष्ट्रीय तो हूं परन्तु जार्ज वाशिंगटन, जेफरसन और लिंकन को इसलिए नहीं मानता क्योंकि वे मुसलमान नहीं थे, या हिन्दू नहीं थे, तो उनको वहां का राष्ट्रीय कहने का अधिकार नहीं होगा। रिलीजन के नाते आप कुछ भी हों, इस्लाम हों, शैव हों, वैष्णव हों, लेकिन अमेरिका में अगर वहां के राष्ट्रीय के रूप में रहना है तो वहां के राष्ट्र को मानना पड़ेगा। उनकी स्वातंत्र्य घोषणा और संविधान को मानना पड़ेगा। वहां के राष्ट्रीय ग्रंथ को मानना पड़ेगा। ये मेरे राष्ट्रग्रंथ हैं ऐसा कहना पड़ेगा, जो यह नहीं कहेगा उसे अमरीकन राष्ट्रीय होने का अधिकार नहीं मिलेगा। ये नियम यहां भी लागू होने चाहिएं। रिलीजन के कारण झगड़े होते तो इंडोनेशिया में जो दृश्य दिखाई देता है वह हम न देख पाते। इंडोनेशिया हिन्दुस्थान के बाहर एक मुस्लिम देश है, उसकी संस्कृति हिन्दू संस्कृति है। मुस्लिम-बहुल देश होते हुए भी वहां हम देखते हैं कि मुसलमान कुरान पढ़ते हैं, मस्जिद में जाते हैं, परन्तु संस्कृति के नाते रामचन्द्र जी की रामलीला भी करते हैं। महाभारत का भी वहां प्रचार है। विद्यार्थी सुबह वहां नमाज पढ़ते हैं, परीक्षा के लिए गणेश जी को नमस्कार करके आशीर्वाद लेकर जाते हैं। उनको दोनों में कोई अन्तर नहीं लगता। यह सामंजस्य भारत में भी चरितार्थ होना संभव हो सकता है। किन्तु कुछ राजनीतिक नेता वोटों के लालच में सुझाव देते हैं कि हिन्दू शब्द छोड़ दो, भारतीय शब्द ले लो। दोनों एक ही हैं, समानार्थक हैं। हमने कहा कि हम मान सकते हैं कि दोनों समानार्थक हैं। किन्तु अगर आप ईमानदारी से कह रहे हैं कि हिन्दू और भारतीय दोनों

समानार्थक हैं तो फिर "हिन्दू" क्यों छोड़ दिया जाए? इसी को क्यों न रखा जाए? वे बोले कि "नहीं, छोड़ना ही अच्छा है।" हमने कहा कि "क्यों अच्छा है?" यदि दोनों समानार्थक हैं तो फर्क क्या पड़ेगा? सीधी बात यह है कि आप ईमानदारी से यह बात नहीं कह रहे हैं कि "हिन्दू" और "भारतीय" समानार्थक हैं। आपके मन में हिन्दू का भावार्थ अलग है, भारतीय का अलग है। आपके कहने के पीछे मंतव्य यह है कि हिन्दू शब्द छोड़ने के कारण अहिन्दुओं के वोट प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। केवल चुनावी राजनीति ध्यान में रखकर आप सत्य सिद्धान्त बेचने को तैयार हैं। हमने कहा कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने सत्य सिद्धान्त को बेचेगा नहीं, क्योंकि वह मतों का याचक नहीं है। जो याचक हैं वे अपने मन की नहीं कर सकते। हम भिखारी नहीं हैं। हम तो अपना सत्य सिद्धान्त प्रतिपादित करते रहेंगे, बार-बार प्रतिपादित करते रहेंगे। कोई भी बात सत्य है या असत्य है, इसकी कसौटी मतों की संख्या से नहीं हो सकती।

हमने कहा कि "यदि हिन्दू और भारतीय एक हैं, तो हिन्दू ही क्यों नहीं कहते?" उन्होंने कहा, "नहीं, कुछ लोग नहीं चाहते।" हमने कहा कि वे लोग तो संघ को भी नहीं चाहते? १९२५ से मैं देख रहा हूं कि संघ के ऊपर टीका करने वाले लोग हमेशा रहे हैं। लोगों को खुश करने का हम धंधा उठाएंगे तो संघ को बंद करना ही एक मात्र रास्ता बचेगा। हमारा कार्य लोगों को संस्कार देना है, खुश करना नहीं। जैसे छोटे बच्चे का होता है, वह कुछ समझता नहीं। उसकी हर-एक बात आप मानते जाएंगे, उसके कहने के अनुसार करते जाएंगे तो कहां तक करेंगे। कभी-कभी उसको अनुनय करनी पड़ती है तो कभी उसको चपत भी लगानी पड़ती है। लेकिन उसको सत्य रास्ते पर तो लाना ही पड़ता है।

हम तुष्टीकरण करने वालों में नहीं हैं। हम वोट के भिखारी नहीं हैं। फिर हमें तुष्टीकरण करने की आवश्यकता क्या है? हम अपने सिद्धान्त, सत्य सिद्धान्त का प्रचार करेंगें और हमें विश्वास है कि आज नहीं तो कल मंथरा रूपी ये राजनीतिक नेता दूर हट जाएंगे। निष्प्रभ हो जाएंगे। उनकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाएगी। तो यहां का मुसलमान समझेगा कि हिन्दू शब्द रिलीजन का वाचक नहीं, राष्ट्र का वाचक है। केवल इन मंथराओं को कान पकड़कर दूर करने की आवश्यकता है। हम वह भी करेंगे। यह आत्मविश्वास होने के कारण हम समझौता क्यों करें? समझौते की कोई आवश्यकता नहीं। हम अहिन्दुओं को सीधे बताने वाले हैं कि यदि आप यह समझेंगे कि आप इस राष्ट्र के अंग हैं, तो इसमें आपका और सबका कल्याण है। हम उन राजनीतिक नेताओं के समान नहीं हैं जो पचास प्रतिशत शादी में विश्वास रखते हैं।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देता हूं। मैं कालेज में था तो एक फिल्म देखी थी। उसमें ऐसा था कि एक लड़का दिखने में तो अच्छा था ही नहीं, बुद्धिमान भी नहीं था। लेकिन मनचला था। इसलिए इधर-उधर प्रेम वगैरह करता था। लोग उसकी खिल्ली उड़ाते थे। एक दिन वह छात्रावास में आया और लड़कों के सामने घोषित कर किया, "मेरा विवाह होने जा रहा है" सब बोले, "अच्छा! तुम्हारी शादी तय हो गई, कैसे? तुम्हारे साथ कौन लड़की शादी करेगी? उसके पहले कि वह तुम्हारे साथ शादी करे, वह गले में पत्थर वगैरह बांधकर आत्महत्या नहीं कह लेगी!" वह

बोला शादी तो तय हुई है, लेकिन केवल पचास प्रतिशत।" पूछा गया कि "पचास प्रतिशत माने क्या?" तो बोला, "शादी में दो पार्टियां होती हैं न? एक लड़का और एक लड़की। उसमें से मैं एक पार्टी हूं। मैंने तय कर लिया है कि मैं उसके साथ शादी करूंगा तो पचासस प्रतिशत तो मामला तय हो गया, अब केवल पचास प्रतिशत ही बाकी है।" इसी तरह से जो लोग हिन्दू-मुसलमान एकता की बातें करते हैं, वे कहते हैं कि पचास प्रतिशत एकता तो हो गई है, अब पचास प्रतिशत ही बाकी बची है। इस पचास प्रतिशत प्रेम प्रसंग में विश्वास रखने वाले हम मनचले लोग नहीं हैं। हम यथार्थवादी हैं, इस कारण हमें विश्वास है कि हम उन्हें समझाएंगे, अनुनय नहीं करेंगे, तोषण नीति नहीं अपनाएंगे। हमें विश्वास है कि वे एक दिन सत्य समझेंगे, आज नहीं समझेंगे तो कल समझेंगे।

वैसे तो पूर्ण विकसित चेतना का हिन्दू, प्रादेशिक राष्ट्रवाद तक सीमित नहीं रह सकता। प्रादेशिक राष्ट्रवाद के भारतीयत्व में शामिल होकर दुनिया का नागरिक नहीं बना जा सकता। हिन्दू प्रादेशिक राष्ट्रीयत्व से ऊपर उठकर सम्पूर्ण चराचर अस्तित्व के साथ एकात्म होना चाहता है। प्रादेशिक राष्ट्रवाद की चौखट में चराचर के साथ एकात्म नहीं हुआ जा सकता। मनुष्य की जागृति के विकास का क्रम अर्थात् हिन्दुत्व। प्रादेशिक राष्ट्र की अवधारणा हमारे विकास का क्रम रोक देगी। वे लोग हमको कहेंगे कि संन्यास मत लेना। मानव जाति का एक सदस्य मत बनना। चराचर अस्तित्व के साथ एकात्म मत होना। सांस्कृतिक हिन्दू राष्ट्र की बात करोगे तो मेरे वोट निकल जाएंगे। यह कैसे हो सकता है? वे यह नहीं जानते कि हिन्दू की जागृति के विकास का क्रम पृथक नहीं, समावेशक है। पृथक का मतलब होता है कि यदि मैं परिवार के साथ एकात्म हूं तो मेरा अपने से प्रेम नहीं। मैं समाज के साथ प्रेम करता हूं तो परिवार से घृणा करता हूं। समावेशक है, माने जब मेरी जागृति का विकास परिवार तक होता है तो मैं परिवार से प्रेम करता हूं, अपने से भी करता हूं; परिवार से प्रेम करता हूं तो समाज से प्रेम करता हूं। मानव जाति से प्रेम करता हूं तो राष्ट्र से भी प्रेम करता हूं। चराचर विश्व के साथ एकात्म हूं तो राष्ट्र के साथ भी एकात्म हूं। चेतना के विकास का यह समावेशक क्रम प्रादेशिक राष्ट्रवाद की संकल्पना में रोकने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। हिन्दू और भारतीय यदि एक हैं तो हिन्दू संकीर्ण है भारतीय विस्तृत है, यह मानना ठीक नहीं। वास्तविकता यह है कि हिन्दू जाति विस्तृत है, सबको समाविष्ट कर लेने वाली है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करने का अर्थ यह होता है कि हिन्दुस्थान में एक से अधिक इकाइयां हैं, जबकि इसके विपरीत सम्पूर्ण भारत राष्ट्र एक इकाई है।

लोग शंका उठाते हैं कि अन्य लोगों को हिन्दुओं ने आत्मसात किया होगा, परन्तु मुसलमानों का प्रश्न वैसा नहीं है। उन्हें आत्मसात करना बड़ा कठिन कार्य है। किन्तु यदि राजनीतिज्ञ इस कार्य में अडंगा न डालें तो उन्हें आत्मसात् करने में कोई कठिनाई नहीं है। आज भी हम सबको आत्मसात कर सकते हैं। यही तो हमारी संस्कृति की विशेषता है, और उसमें वह क्षमता भी है। इतिहास काल में वह हुआ है, वर्तमान में भी हो सकता है।

यह कहना गलत है कि हमारे यहां केवल हिन्दू बनाम मुसलमान संघर्ष ही हुए हैं। यहां मुसलमान बनाम मुसलमान संघर्ष भी हुए हैं। बाबर जब हिन्दुस्थान में आया तो लड़ाई किसके साथ हुई? इब्राहिम लोदी के साथ। इब्राहिम लोदी क्या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का था? औरंगजेब जब दक्षिण में गया तो उसकी लड़ाई केवल शिवाजी के साथ नहीं हुई थी, पांचों बहमनी बादशाहियों के साथ भी उसने लड़ाई की थी। क्या वह लड़ाई हिन्दुत्व के कारण थी? नहीं, केवल राजनीतिक स्वार्थ था। किन्तु यह होते हुए भी— और हिन्दुस्थान के विस्तृत भूभाग विजेताओं के अधीन होने के बावजूद, हिन्दू संस्कृति में मुसलमानों को भी आत्मसात करने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। आज ये राजनीतिक लोग कुछ भी कहें, अरबिस्तान के इस्लाम और हिन्दुस्थान के इस्लाम में बहुत बड़ा अंतर है। हमारे यहां आकर बसने के बाद, बाहर के पराये आक्रामक मुसलमानों के भी मन में उत्सुकता जाग्रत हुई कि भई, ये हिन्दू हैं क्या? यह समझ लेना चाहिए।

प्रारम्भ में मुसलमानों में आकामक प्रवृत्ति थी, परन्तु जैसे-जैसे वे यहां स्थायी होते गए वैसे-वैसे बुद्धिमान मुसलमानों में इस देश की संस्कृति और धर्म को जानने की उत्सुकता निर्माण हुई। जहांगीर तथा शाहजहां के शासनकाल में रामायण, महाभारत, अथर्व वेद, प्रबोध चन्द्रोदय योगवाशिष्ठ आदि हिन्दुओं के अनेक संस्कृत ग्रंथों का फारसी भाषा में अनुवाद हुआ। इन अनुवादों के पढ़ने से उनके विचारों में परिवर्तन होने लगा। परन्तु औरंगजेब को यह लगा कि इससे तो मुसलमानों का हिन्दूकरण-राष्ट्रीयकरण हो रहा है, उसने धर्मान्धता धारण की। अपने बड़े भाई दाराशिकोह को मरवा डाला। औरंगजेब की उससे यह शिकायत थी कि वह विचारों से आधा हिन्दू है।

मुसलमान नाम से जो विभिन्न जातियां अपने देश में आई थीं, उनका हिन्दूकरण होने लगा था इस बात का विवरण कार्ल मार्क्स ने भी दिया है। अपने पत्रों में वे लिखते हैं :" Arabs, Turks, Tatars, Moghuls who had successively overrun India, soon became Hinduised, the barbarian conquerors being,by an eternal law of history, conquerred themselves by the superior civilisaion of their subjects." "यद्यपि अरब,तुर्क, तातारी और मुगल लोगों ने हिन्दुस्थान को पदाक्रान्त किया तथापि शीघ्र ही उनका हिन्दूकरण हो गया। इतिहास का यह सनातन नियम है कि विजेताओं को विजितं राष्ट्र की श्रेष्ठ संस्कृति के सामने परास्त होना पड़ता है।" उन्होंने उदाहरण दिया कि "रोमन साम्राज्य विजेता था। यरूशलम के ईसाई विजित थे। लेकिन चूंकि विजित लोगों की संस्कृति श्रेष्ठ थी उन्होंने सांस्कृतिक दृष्टि से विजेताओं पर विजय प्राप्त कर ली और रोमन लोगों को ईसाई संस्कृति स्वीकार करनी पड़ी।" (१२ जुलाई, १९५३ में कार्ल मार्क्स द्वारा लंदन से लिखे गए पत्र में से उद्धृत)

हिन्दुस्तान में भी यह प्रक्रिया चल रही थी। परन्तु जब यह देखा गया कि इसके कारण राजनीतिक प्रभुत्व की आकांक्षा में बाधा आती है तो कुछ लोगों ने अडंगे डालने शुरू करके उस प्रक्रिया को रोक दिया। अंग्रेजों के समय राजनीतिक नेताओं ने हीनग्रंथि के कारण इस प्रक्रिया को रोका। मुसलमानों को राष्ट्रीय धारा से पृथक किया। उनसे कहा गया कि "हम आपके साथ

एकता करने जा रहे हैं। अतः आप अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखो।" अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी एकात्मता निर्माण करने के कार्य में बाधा पैदा की जा रही है। यह सोचकर कि यदि वह वास्तव में सम्पूर्ण समाज एक होकर, एक जन, एक संस्कृति, एक राष्ट्र के रूप में खड़ा हो जाता है तो फिर मंत्रीपदों का क्या होगा? इसलिए आज भी राजनीतिक नेतागण मुसलमानों को पृथक रखने का प्रयास कर रहे हैं। किसी ने सच कहा है कि " Politicians, in every country, have a knack of exploiting religilous sentiments for the furtherance of their political ends. When priesthood makes common cause with a gang of politicans, the combination becomes too formidable for an average believer."

अर्थात् अपने राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए मजहबी भावनाओं का शोषण करने की प्रवृत्ति सभी देशों के राजनेताओं में पाई जाती है, लेकिन जब पुजारियों और राजनेताओं का साझा मोर्चा बन जाता है तो यह संयोग सामान्य आस्तिकों के लिए दुर्जेय हो जाता है।

यह सच है कि औरंगजेब के पहले और बाद, और अंग्रेजों के शासन काल में भी स्वाभाविक रूप से मुसलमानों का हिन्दूकरण या राष्ट्रीयकरण हो रहा था। पाकिस्तान की कल्पना के जनक अल्लामा इकबाल ने मुसलमानों को चिढ़ाने के लिए "जवाब-ए-शिकवा" नामक एक कविता लिखी थी। कविता फारसी में है। परन्तु उन्होंने उसका अंग्रेजी अनुवाद स्वयं किया है। वह कहते हैं—

From the Brithish you have learnt your language

Your culture from the Hindus

How can Muslims pass as a nation

Who shame even the Jews

Into the sky of your Nation you rose

Like a bright star with a hue

But the lure of India's idols has made

Even Brahmins out of you.

अर्थात् उनको यह कहना पड़ा कि क्या बात है कि यहां आने के बाद तुम ब्राह्मण होते जा रहे हो? इकबाल साहब ने यह कविता दूसरे उद्देश्य से लिखी, परन्तु उसमें मुसलमानों के हिन्दूकरण के प्रति क्षोभ प्रकट किया है। डॉ॰ शौकत उल्ला अंसारी ने कहा है कि "भारत में इस्लाम सनातन धर्म का अरबी संस्करण है।"

इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आत्मसात् करने की प्रक्रिया शुरू हो गई थी। अब इस प्रक्रिया को क्यों रोका जा रहा है।

हमारा सिद्धान्त है कि सब एक हैं। परन्तु कुछ राजनीतिक नेतागण संयुक्त राष्ट्रीयता और

मिलीजुली संस्कृति की भाषा बोलते हैं। अब इन नेताओं से पूछा जाए कि "भाई हम तो रहे प्राचीन परम्परावादी, किन्तु आधुनिक दुनिया में आप एक भी ऐसा उदाहरण बतलाइए जहां संयुक्त राष्ट्रीयता और मिली-जुली संस्कृति की बात टिक सकी। इस संदर्भ में लोग अमेरिका का उदाहरण बतलाते हैं। परन्तु यह उदाहरण हमारे ही कथन की पुष्टि करता है। यूरोप के विभिन्न देशों से आए हुए जर्मन, फ्रांसीसी, डैनिश, स्वीडिश, अंग्रेज अमेरिका में जाकर बसे और प्रथम महायुद्ध तक अपनी-अपनी संस्कृति के अभिमानी बने रहे। परन्तु जब इंग्लैंड और जर्मनी के बीच प्रथम महायुद्ध छिड़ गया तो अमेरकिा निवासी ९० लाख जर्मनों के मन में इस प्रवृत्ति का उदय हुआ कि अमेरिका में एंग्लो सैक्सन लोगों का प्रभुत्व क्यों चलने दिया जाए? क्यों न हम राज्य के अन्तर्गत अपना अलग राज्य स्थापित करें? तब प्रेसिडेंट प्रेसिट विल्सन ने जर्मनवंश के सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। प्रथम महायुद्ध तक अमेरिका में इस बात पर गर्व किया जाता रहा कि यहां कोई भी आकर एकात्म हो जाता है। उस समय लिखे गए "मेल्टिंग पाट" नामक नाटक में इन विचारों का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। परन्तु जर्मनों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया तो लोगों की आंखें खुलीं और प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९१८ से लेकर १९३९ तक वहां तीन सांस्कृतिक आंदोलन एंग्लो-सैक्सन लोगों ने चलाए। उन्होंने एंग्लो सैक्सन राष्ट्रीयता को आधार मानकर जितने भी गैर-एंग्लो सैक्सन लोग थे उन्हें उस संस्कृति के साथ एकात्म होने के लिए कहा। इसके फलस्वरूप बाहर से आने वाले गैर-एंग्लो सैक्सन लोगों के प्रवेश पर रोक लगाई गई तथा सीमित संख्या में लोगों को प्रवेश देने के नियम बनाए गए और इस प्रकार आत्मसात् होने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया गया। इसाक सुफल द्वितीय महायुद्ध में देखने को मिला। अमेरिका ने द्वितीय विश्व युद्ध में भाग लिया तो उसके सामने प्रथम महायुद्ध जैसी जर्मन लोगों की समस्या खड़ी नहीं हुई।

दूसरा उदाहरण कनाडा का है। वहां फ्रांसीसी और अंग्रेज रहते हैं। वहां एंग्लो-सैक्सन वंश के लोगों की प्रमुखता है। प्रथमतः दोनों ने मिलीजुली संस्कृति की बात चलाई। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध में इंग्लैंड और फ्रांस एक ही पक्ष में होने से कनाडा में कोई समस्या पैदा नहीं हुई। परन्तु इसके बाद द गॉल के फ्रांसस का राष्ट्रपति बनने पर कनाटा के फ्रांसीसी लोगों में पृथक् फ्रांसीसी राष्ट्रीयता और फ्रांससी राज्य की बात बल पकड़ती गयी। द गॉल फ्रांस को यूरोप में प्रथम श्रेणी के राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। वे नेपोलियन की महत्वाकांक्षा को पुनः साकार करना चाहते थे। उसी की प्रतिक्रिया कनाडा के फ्रांसीसी लोगों में हुई। द गॉल जब कनाडा के दौरे पर गए थे तो एक नागरिक अभिनंदन समारोह के अवसर पर उन्होंने कह डाला कि 'अलग फ्रांसीसी राष्ट्र और राज्य की मांग सर्वथा न्यायोचित है।' यह बात राजनीतिक शिष्टाचार के प्रतिकूल होने के कारण वहां बहुत बड़ा बवंडर निर्माण हुआ। द गॉल को अपना दौरा अधूरा छोड़कर फ्रांस लौट जाना पड़ा। आज भी फ्रांसीसियों द्वारा वहां पृथकता का आन्दोलन चलाया जा रहा है। इसका कारण यह है कि अभी वहां सांस्कृतिक एकात्मीकरण नहीं हो पाया है। वहां अब तक यही बात चल रही है कि यह धर्मशाला है, कोई भी आए और जाए, सबका अपना ही मकान है। इस प्रकार

की गोलमोल बात करने से एकात्मता निर्माण नहीं होती है।

हमें कहा जाता है कि हम बड़ा संकीर्ण विचार रखते हैं। हम कहते हैं कि हमारे यहां तो राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, परन्तु जिनका हृदय बहुत बड़ा माना जाता है वे ही कहते हैं कि दोनों में विरोध है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् चेकोस्लोवाकिया में स्लॉव और चेक लोगों को रखा गया है। दोनों वंश के लोग कम्युनिस्ट होते हुए भी संस्कृति भिन्नता के कारण अब तक एकात्म नहीं हो पाए हैं। वे दोनों अंन्तर्राष्ट्रीयतावादी हैं। उस देश में रूस द्वारा हस्तक्षेप किए जाने के एक वर्ष पूर्व स्लाव्ह लोगों ने कहा था कि उनका अलग राष्ट्र है तथा उनका अलग राज्य होना चाहिए। यदि रूस ऐसा नहीं करना चाहता तो स्लाव्ह और चेक लोगों के स्वायत्त राज्यों को स्वीकृति देकर, दोनों का संघ राज्य बनाए। अन्तर्राष्ट्रीयतावादी लोग भी एक दूसरे की संस्कृति में एकात्म होने के लिए तैयार नहीं हैं, झगड़ने के लिए खड़े हो जाते हैं, फिर भी हमारे देश के लोग संयुक्त राष्ट्रीयता और मिलीजुली संस्कृति की बात चलाते हैं। जो चेकोस्लोवाकिया, कनाडा, अमेरिका में नहीं हो सका, वह संयुक्त राष्ट्रीयता की बात भला हमारे यहां कैसे चल सकती है?

अतः अब समय आ गया है कि हम शास्त्र शुद्ध भूमिका ग्रहण करें। यहां कुरान और बाइबल बिल्कुल सुरक्षित हैं। अपने देश में एक जन है, एक संस्कृति है, एक राष्ट्र है। इस बात का हमें अनुभव करना चाहिए। इसी दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने कहा है कि हम राष्ट्रीय हैं। यह कहना कि संघ में अन्य लोगों को प्रवेश नहीं है, बिल्कुल गलत है। बात इसके विपरीत है, बाकी लोग ही इसमें प्रवेश करना नहीं चाहते हैं। हमसे पूछा जाता है कि यदि कोई राष्ट्रीय मुसलमान हो तो उसका संघ में प्रवेश हो सकता है? हमारा कहना है कि यदि सामाजिक सांस्कृतिक रूप से मुसलमान राष्ट्र के साथ एकात्म हो जाते हैं तो वे सब हमारे हैं। वे सब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में आ सकते हैं। यह बात भी सही नहीं है कि संघ में अहिन्दुओं को प्रवेश नहीं है। रूढ़ार्थ में पारसी हिन्दू नहीं कहे जाते। किन्तु श्रीगुरुजी ने कहा है कि वे पारसियों को हिन्दू ही समझते हैं। इसके विपरीत हिन्दू कम्युनिस्टों की बात लीजिए। कम्युनिज्म स्वयमेव अस्तित्ववादी होने के कारण कम्युनिस्ट स्वयं को हिन्दू नहीं मान सकते। यदि वे अपनी यह निषेधात्मक और संकीर्ण मनोवृत्ति छोड़ दें तो कम्युनिज्म का अनुयायी होते हुए भी वे हिन्दू ही हैं।

संघ ने कुछ नहीं किया, यह नहीं किया, वह नहीं किया; इसकी सफाई देने या खेद प्रकट करने की जरूरत नहीं है। खेद किसके साथ और किस बात के लिए प्रगट करें? खेद उनसे प्रगट करें जो अपने शब्द का पालन नहीं कर सकते, जो राजनीतिक स्वार्थ के लिए झूठ बोलते रहते हैं। जैसे बेचने के लिए घोड़े और बैल चौराहे पर खड़े किए जाते हैं, वैसे ही जो लोग अपने स्वार्थ के लिए बिकने और खरीदने के लिए चौराहे पर खड़े हैं। उन राजनीतिक नेताओं के सामने हम अपनी सफाई दें, यह हमारे लिए सम्मान की बात नहीं है। सफाई देने की नहीं, वास्तविकता समझने और समझाने की आवश्यकता है।

प्रश्न यह है कि हम किस दृढ़ नींव पर राष्ट्र को खड़ा कर सकते हैं? क्या मिलीजुली

संस्कृति और संयुक्त राष्ट्रीयत्व की कल्पना कर अभेद्य राष्ट्र खड़ा हो सकता है? अनुभवों का उत्तर है, नहीं। प्रत्येक को अपनी-अपनी उपासना पद्धति की स्वतंत्रता प्रदान करते हुए, राष्ट्र के नाते सब लोग एक हैं, हम सब एक परिवार के सदस्य हैं, एक ही राष्ट्रपुरुष के अंग-प्रत्यंग हैं, हमारी यह मातृभूमि है, हम उसकी संतान हैं, सहस्रों वर्षों से इसकी संतान के रूप में अपना समाज यहां रहता आया है, राम-कृष्ण हमारे राष्ट्रीय पुरुष हैं, वेदादि हमारे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं, कुरान या बाइबल भी हमारे धार्मिक ग्रंथ हो सकते हैं, यहां की परम्परा राष्ट्रीय परम्परा है, यहां के उत्सव हमारे राष्ट्रीय उत्सव हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण साल्मीकरण— हिन्दूकरण जब तक नहीं होता है, तब तक मिलीजुली संस्कृति वाली बात देश में दरार डालती रहेगी। इस शास्त्रीय विचार के आधार पर संघ ने कहा है कि हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है। अतएव प्रथम हिन्दू क्या है, राष्ट्र क्या है, यह समझना चाहिए।

राष्ट्र के सम्बन्ध में गंभीरता से विचार करना होगा। आगामी चुनाव में गद्दी कैसे प्राप्त होगी? इतना छोटा विचार करने से राष्ट्र निर्माण कार्य नहीं होगा। भाई-भाई में दरार डालने वाली बातें करने से हानि ही होगी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सच्चा राष्ट्रीय संगठन है। वह राष्ट्र निर्माण का कार्य कर रहा है। यहां राजनीति की कोई बात नहीं है। सभी राजनीतिक दल के लोग यहां आ सकते हैं। हमने किसी के लिए दरवाजा बन्द नहीं किया है। उन्होंने ही हमारे लिए दरवाजा बन्द किया है। इस तरह से सम्पूर्ण हिन्दू समाज अर्थात् राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिन्दू राष्ट्र अर्थात् राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है। इसको हम निकट से देखें, समझें, पहचानें और फिर अपनी आत्मा का जो अभिप्राया हो, निर्णय हो, उसके अनुसार संघ के प्रति अपनी प्रतिक्रिया करें, अपना आचार-व्यवहार बनाएं। □

१४. राष्ट्र का आत्मविश्वास

प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक ही यह चाहता है कि अपना राष्ट्र वैभव सम्पन्न हो। हमारी यह आकांक्षा है कि भारत विश्व का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र हो। एक समय ऐसा था कि मानव जाति व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार यहां आकर सीखती थी। वैसी स्थिति, वैसा ही जगद्गुरु का स्थान भारत को फिर से प्राप्त हो, यह सब बातें परम वैभव की कल्पना में आती हैं। किन्तु एक तरफ हम आकांक्षा रखते हैं "परं वैभवम् " की और दूसरी ओर वस्तुस्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी दृष्टि से यह परस्पर विसंगत बात लगती है। किन्तु जैसे समुद्र की लहरों का क्रम है कि लहर ऊपर जाती है, नीचे आती है फिर ऊपर जाती है, फिर नीचे आती है वैसा ही हमारे राष्ट्र के इतिहास का भी है। एक समय ऐसा था जब हमारी लहर ऊपर थी। अब हम जब "परं वैभवम् " की आकांक्षा रखते हैं, तो हमारी आशा है कि आज नीचे आई हुई यह लहर फिर ऊपर जाएगी। आज हमारा देश निम्नतम बिन्दु पर खड़ा है, किन्तु संघ के स्वयंसेवक प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं "पर वैभवम् नेतुमेत्तत स्वराष्ट्रम् "। इसे विसंगत मानने के कारण यह संदेह भी निर्माण हो सकता है कि यह एक मनमोहक स्वप्न मात्र है, यह साकार होने वाली बात दिखाई नहीं देती।

प्रारम्भ में जब संघ के स्वयंसेवक हिन्दू राष्ट्र की बात करते थे तो लोग कहते थे कि "भाई यह हिन्दू-हिन्दू मत कहो, क्योंकि आज "हिन्दू " शब्द के साथ सम्बद्धता बताने में किसी को कोई गौरव अनुभव नहीं होता।" हमारी गिरी हुई हालत के कारण लोग हिन्दू कहलाने में भी संकोच करते थे, किन्तु अब स्थिति में कुछ परिवर्तन आया है।

अब हम विचार करें कि हम लोगों में " हिन्दू " शब्द एवं विचार के बारे में जो हीनता और पराभूत मनोवृत्ति निर्माण हुई, उसका क्या कारण है। स्पष्ट है कि आज हमारी गिरी हुई स्थिति है। विश्व के राष्ट्रों में सैनिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अवनति की दृष्टि से जो निम्न श्रेणी में हैं, उनमें हमारी गिनती है। ऐसा लगता है कि पश्चिम के अनेक राष्ट्र बहुत आगे बढ़ गए हैं। इसी कारण इस हीनता की भावना का निर्माण हुआ।

आज हम पिछड़े हुए हैं यह तो वस्तुस्थिति है किन्तु एक बात देखनी है कि यह जो हमारा

पिछड़ापन है, क्या वह इस कारण है कि हमारे राष्ट्र में अग्रसर होने की क्षमता ही नहीं है? क्या हमारे अन्दर संसार का नेतृत्व करने की क्षमता का अभाव है? क्या हम हमेशा पिछड़े हुए राष्ट्र के नाते ही रहें? क्या मौलिक क्षमता का अभाव हमारे पिछड़ेपन का कारण है? क्या हम आगे बढ़ने के योग्य ही नहीं हैं? या क्या कुछ ऐसे कारण हैं जिनसे हमारी क्षमताओं पर तात्कालिक परिस्थितिजन्य मर्यादाएं पड़ी हैं?

ऐसे कितने ही उदाहरण हैं कि अच्छे-अच्छे राष्ट्र भी तो विपरीत परिस्थिति में पीछे हट सकते हैं। क्षमताएं रहते हुए भी आगे नहीं बड़ पाते। पोलैण्ड का इतिहास देखें। बार-बार उसका विभाजन हुआ। ऐसा लगा कि अब यह ऊपर नहीं उठ सकेगा। जर्मनी की दोनों महायुद्धों में पराजय हुई। कुछ समय तक लगा कि अब यह पिछड़ गया, समाप्त हो गया। इजरायल के लोग अठारह सौ साल तक अपनी मातृभूमि पर पैर भी न रख सके। उनका पिछड़ापन दीर्घकाल तक बना रहा। किन्तु हम देखते है कि ये तीनों राष्ट्र ऊपर उठ आए, क्योंकि उनका पिछड़ापन परिस्थितिजन्य था, क्षमताएं होते हुए भी विपरीत परिस्थिति में वे पिछड़ गए थे। हमें भी देखना होगा कि हमारा आज का पिछड़ापन क्या वास्तव में क्षमता के अभाव के कारण है या मात्र परिस्थितिजन्य है।

इस दृष्टि से यदि हम विचार करें कि हमें आत्मविश्वासहीन मनःस्थिति में रखने वाली वे कौन-सी बातें हैं जो पश्चिम की तुलना में हमारे यहां नहीं दिखाई देतीं, जिनके कारण हमें लगता है कि हमारा कोई भविष्य नहीं है। यह विचार करते हैं तो दो बातें सामने आती हैं— एक है वैचारिक सिद्धान्त, और दूसरा प्रौद्योगिकी। इनके बारे में पश्चिम से तुलना करते हैं तो हीनत्व की भावना उत्पन्न होती है।

वैचारिक सिद्धान्त का अर्थ है, आज की समस्याओं ता उत्तर देने वाले विचार। हम पढ़ते हैं, परिस्थिति का अध्ययन करते हैं, हमारे यहां भी पश्चिम जैसी उद्योग प्रधान सभ्यता एवं वातावरण आ रहा है। उसके साथ-साथ नए प्रश्न भी उठ रहे हैं। हमें ऐसा लगता है कि उद्योग प्रधान समाज में उठने वाले उन प्रश्नों का समाधान हमारी प्राचीन परम्परा में नहीं मिलता। ऐसा सोचा जाता है कि पश्चिम ने कई विचारधाराओं को जन्म दिया है। किन्तु हमारे पास तो कोई विचारधारा नहीं है। धर्म, संस्कृति आदि की बातें, जिन्हें काल विसंगत विचारधारा कहा जाता है, हम भले ही करते रहे, किन्तु आज के सामाजिक एवं व्यक्तिगत प्रश्नों का उत्तर हिन्दू विचार में यदि उपलब्ध नहीं और आज की समस्याओं में से पैदा हो रहे प्रश्नों का उत्तर यदि हम दे नहीं सकते, तो स्पष्ट है कि हमारे अन्दर वह वैचारिक क्षमता नहीं है, और यही हमारे पिछड़ेपन का कारण है। इस कारण एक हीनता की भावना बन जाती है।

प्रौद्योगिक की भी यही बात। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में पश्चिम की बहुत प्रगति हुई है। वे चन्द्रमा पर पहुंच गए, और भी दूर जाने की संभावना है। हम तो धरती पर भी ठीक ढंग से नहीं चल पा रहे हैं। यह देखने पर स्वाभाविक रूप से लगता है कि यदि वास्तव में हमारे अन्दर क्षमता होती तो हम भी चन्द्रमा पर पहुंचते। हम चन्द्रमा पर नहीं पहुंचे, इसका सीधा अर्थ है कि हमारे पास उतनी क्षमता ही नहीं है।

इन दो दिशाओं में पश्चिम की प्रगति हमें चकाचौंध कर देती है, और हमारे अन्दर अक्षमता की आत्मविश्वासहीन धारणा बन जाती है। हमें लगता है कि हमारे अन्दर मूल रूप में अक्षमता है। आन्तरिक शक्ति की कमी है। इसी कारण हम हिन्दू विचार एवं हिन्दू जीवन के बारे में पराभूत मनोवृत्ति का अनुभव करने लगते हैं।

इसलिए यह सोचना होगा कि हमारी आज की पिछड़ी हुई स्थिति क्या आन्तरिक अक्षमता के कारण है, या मात्र परिस्थितिजन्य? हिन्दू इतिहास जिन्होंने पढ़ा है वे यह तथ्य जानते हैं कि पिछले साढ़े ग्यारह सौ साल का हमारा इतिहास सामान्य नहीं, असामान्य रहा है। यह लम्बा कालखण्ड विपरीत परिस्थिति का था। उस कालखण्ड में हमें शांति प्राप्त नहीं हुई। उस समय हम पराये आक्रमणों का, विभिन्न रणक्षेत्रों में, विभिन्न सेनापतियों के नेतृत्व में, भिन्न-भिन्न शस्त्रास्त्रों से प्रतिकार करते रहे। हिन्दू एक सतत संघर्ष लम्बे समय तक करते रहे। यह मानी हुई बात है कि कोई राष्ट्र जब युद्धाकाल में रहता है तब वह स्वाभाविक प्रगति नहीं कर सकता। वहां तरह-तरह की बुराइयों को भी स्थान मिलता है। अपने यहां भी ऐसा हुआ। हमारा समाज गिरा हुआ है, सामाजिक दृष्टि से तरह-तरह के विभेद निर्माण हुए हैं, स्पृश्य-अस्पृश्य भाव उत्पन्न हुआ है। यहां जातिभेद भी है, भाषाओं का संघर्ष भी है, संकीर्ण पंथभेद भी है। यह भी कहा जाता है कि यह हमारे धर्म एवं संस्कृति के कारण है, किन्तु यह सत्य नहीं है। हमारे धर्म एवं संस्कृति की शिक्षा ऐसी नहीं है। यह विकृति साढ़े ग्यारह सौ साल के युद्धकाल में निर्माण हुई है।

अतीत में अपने यहां सनातन सिद्धान्तों के प्रकाश में यह विचार किया जाता था कि जैसे-जैसे समय बीतता जाएगा और परिस्थितियां बदलती जाएंगी, नए-नए प्रश्न निर्माण होंगे। पुराने प्रश्नों का उत्तर देने के लिए समाज के पुराने नियम असमर्थ हो जाएंगे। अतः ऐसी स्थिति में परिवर्तन आवश्यक होगा। ऐसे समय में समाज के श्रेष्ठ पुरुष एकत्रित होकर परिस्थिति में क्या परिवर्तन आया, पुराने कौन से प्रश्न और उत्तर विसंगत हो गए, कौन से नियम कालबाह्य बन गए, नए प्रश्नों का स्वरूप क्या है, आदि बातों पर बारीकी से विचार करके नई परिस्थिति में उपयोगी नए नियम बनाते थे, जिन्हें "स्मृति" कहा जाता है। नई स्मृतियों का निर्माण करने की प्रक्रिया हमारे यहां अखण्ड चलती थी। इस स्वस्थ पद्धति के कारण हमारे यहां कई स्मृतियां निर्मित हुईं। केवल एक ही स्मृति बनायी गई और वही कयामत तक चलेगी, ऐसा आग्रह हमारे यहां कभी नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न स्मृतियां युगधर्म के अनुसार बनाई गईं। किन्तु बीच के साढ़े ग्यारह सौ साल के लम्बे कालखण्ड में जब अपना सम्पूर्ण देश युद्ध के वातावरण में रहा, हमारी गतिविधियां स्वाभाविक एवं साधारण नहीं रह पायीं। इस कारण समाज जीवन में गतिरोध आया। समाज के नेता एकत्रित होकर सोच-विचार करते हुए समाज रचना के नए नियम बना सकें इसके लिए अवकाश ही नहीं था। स्वाभाविक है कि जहां गतिरोध आता है वहां गंदगी पैदा होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे पानी जब रुक जाता है, तो उसमें गंदगी पैदा होती है। अतएव गतिरोध के कारण समाज जीवन में भी गंदगी पैदा हुई, ऊंच-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य, जातिवाद और तरह-तरह की बीमारिया फैल गईं। यह सारी कमजोरी विपरीत एवं युद्धजन्य स्थिति होने के कारण आई,

आन्तरिक अक्षमता के कारण नहीं।

हम सोचें कि नई समस्याओं का हल ढूंढने वाले पूंजीवाद लेकर अराजकतावाद तक जो भिन्न-भिन्न वाद पश्चिम तथा अन्य देशों में पैदा हुए; वे किस प्रकार के कालखण्ड में पैदा हुए, इन सभी वादों और विचारों का जन्म औद्योगिक क्रांति के पश्चात हुआ है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पादन के साधनों में परिवर्तन आया, नए साधन सामने आए। वृहत् उत्पादन की सामूहिक प्रक्रिया के कारण समाज रचना में परिवर्तन आया, नई समस्याएं भी निर्माण हुईं। फिर उन समस्याओं का समाधान ढूंढते हुए अपने-अपने ढंग से अलग-अलग वाद निर्माण हुए। उनका विकास हुआ। यह औद्योगिक क्रान्ति अभी-अभी हुई, कुछ ही समय पूर्व।

अब चूंकि हम लोग इस कालखण्ड के पूर्व से ही सतत युद्ध के वातावरण में रहे, इस तरह की औद्योगिक क्रांति हमारे यहां नहीं हुई। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि यदि हम शांतिकाल में होते तो बिल्कुल यूरोप का अंधानुकरण करते हुए, उन्होंने जिस प्रकार की औद्योगिक क्रांति एवं यंत्र युग का निर्माण किया, वैसा ही हम भी करते। लेकिन यदि हम शांतिकाल में होते तो वहां की औद्योगिक क्रांति जैसी महत्वपूर्ण घटना क्या है? कैसी है? उसके परिणाम कौन से हैं? हमारे समाज की दृष्टि से उनके प्रभाव क्या हैं? इन सबका गहराई से विचार करके उनमें से कुछ को स्वीकार करना, कुछ को संस्कारित करना या कोई और तीसरी बात विकसित करना आदि की गुंजाइश रहती। दुनिया के साथ सम्पर्क और वहां क्या होता है इसकी जानकारी हमेशा रखते हुए उस पर सोच-विचार करने की प्रक्रिया हमारे यहां हमेशा रही, किन्तु विपरीत स्थिति एवं संघर्ष के लम्बे कालखण्ड के कारण वह गुंजाइश नहीं थी इसी कारण यहां उस प्रकार की औद्योगिक क्रांति नहीं आई और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले प्रश्न भी यहां उत्पन्न नहीं हुए। आज के सभी वाद जिन प्रश्नों के उत्तर में से पैदा हुए हैं, वे प्रश्न भी यहां नहीं थे।

इसलिए जब यहां वह समस्या ही निर्माण नहीं हुई तो यह कहना गलत होगा कि उसका उत्तर आपने क्यों नहीं दिया, और आपने उत्तर नहीं दिया इसलिए आप तो पिछड़े हुए हैं। कहा जाता है कि प्रकृति में जहां-जहां बीमारी है, वहां भगवान ने कोई औषधि भी रखी है। लेकिन जब बीमारी होती है, तभी तो औषधि का विचार होता है। औद्योगिक क्रांति के कारण जो बीमारियां पश्चिम में उत्पन्न हुईं वे जब हमारे यहां आईं ही नहीं, तो ऐसा सोचना अन्याय होगा कि चूंकि उन बीमारियों की औषधियां हमने नहीं बनाईं, इसलिए हमारे अन्दर वैचारिक क्षमता की ही कमी है।

दूसरी बात प्रौद्योगिकी की है। यूरोप का वैचारिक प्रवास यूरोपीय पुनरुज्जीवन के पश्चात् शुरू हुआ। उसके पूर्व वैचारिक, वैज्ञानिक एवं तंत्रशास्त्र की दृष्टि से पश्चिम कहां था, हिन्दुस्थान कहां था, इसकी यदि तुलना की जाय तो दिखाई देता है कि हिन्दुस्थान बहुत आगे बढ़ चुका था। यह तो पश्चिम के लोग भी मानते हैं कि हिन्दुस्थान सभी क्षेत्रों में एक अग्रसर राष्ट्र था, लेकिन यूरोपीय पुनरुज्जीवन के बाद हम पिछड़ते गए, वे आगे बढ़ते गए। विशेष रूप से देखने की बात यह है कि उसके बाद का कालखण्ड और हमारे साढ़े ग्यारह सौ साल के संघर्ष का कालखण्ड, दोनों समकालीन हैं। लगभग एक ही समय उधर यूरोपीय पुनरुज्जीवन होकर प्रगति

की दौड़ चली, और इधर जीवन-मरण का लम्बा संघर्ष चलता रहा। उनके हाथ-पैर खुले थे, वे अपनी क्षमता के अनुसार दौड़ सकते थे जबकि हमारे हाथ-पैर बंधे हुए थे, हम जीवन-मृत्यु के संग्राम में रत थे। वैज्ञानिक या तकनीकी प्रगति की बात तो छोड़ ही दीजिए, हमारे सामने यह प्रश्न था कि राष्ट्र के नाते हम जिंदा रहेंगे या नहीं।

कोई विद्यार्थी बहुत बुद्धिमान है, प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने की उसकी क्षमता है, हमेशा वह प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करता आया है, किन्तु यदि परीक्षा के समय वह बीमार हो गया, उसे १०४ डिग्री बुखार हो, बिस्तर से उठना मुश्किल हो, फिर भी जैसे-तैसे वह परीक्षा में पहुंच जाता है और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं हो पाता, तो आप उसके बारे में क्या कहेंगे कि उसके अन्दर स्वाभाविक सामर्थ्य ही नहीं है। ऐसा नहीं है। उसका प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण न होना मात्र परिस्थितिजन्य बात है। आन्तरिक कमजोरी का लक्षण नहीं।

यह बात आंखों से ओझल नहीं होनी चाहिए कि हमारा नवीन समस्याओं का उत्तर न दे पाना तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में पिछुड़ जाना आन्तरिक क्षमता के अभाव का परिणाम नहीं, मात्र परिस्थितिजन्य बाते हैं। हमारे अन्दर वैचारिक दृष्टि से भी और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की दृष्टि से भी आन्तरिक क्षमता भरपूर है। हमारी मौलिक क्षमता पश्चिम से अधिक है, इतना ही नहीं अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो बातें हिन्दू राष्ट्र में विद्यमान हैं वे पश्चिम में नहीं हैं, अतः हमारी आन्तरिक मौलिक क्षमता के बारे में निराशा का कोई कारण नहीं होना चाहिए।

पश्चिम के क्रांतिकारी परिवर्तनों का प्रादुर्भाव फ्रांस की प्रथम राज्य क्रान्ति के समय हुआ। उस क्रांति में जिस त्रिसूत्री का उद्घोष किया गया वह थी "स्वतंत्रता, समता और बन्धुता"। आज इन तीन उच्च आदर्श सूत्रों का प्रत्यक्ष व्यवहार कहां तक हो पाता है, हम इसका विचार करें। लगभग चार दशक पहले यह चर्चा बौद्धिक स्तर पर होती होगी किन्तु आज उसका प्रत्यक्ष अनुभव सामने है। यूरोप में प्रथम स्थापना की गई स्वतंत्रता अर्थात व्यक्ति स्वातंत्र्य की। किन्तु मनुष्य का मन जैसा पहले था वैसा ही रहा। यूरोप में यह अनुभव आया कि व्यक्ति धीरे-धीरे व्यक्ति स्वातंत्र्य के साथ दूसरों का शोषण करने का स्वातंत्र्य, यदि हर एक व्यक्ति को स्वतंत्रता है, चाहे जैसी अनिर्बन्ध प्रगति करने का स्वातंत्र्य भी लेता है। और यदि साथ-साथ अहम्वादी भी होने के कारण यदि हर एक व्यक्ति केवल अपना ही विचार करता है, तो फिर बलवान को दुर्बल का शोषण क्यों नहीं करना चाहिए, बुद्धिमान को निर्बुद्धि का शोषण क्यों नहीं करना चाहिए, इसका कोई उत्तर, कोई तर्क समाजशास्त्रियों के पास नहीं था और इस प्रकार व्यक्ति स्वातंत्र्य के साथ शोषण स्वातंत्र्य भी आ जुड़ा।

शोषण स्वातंत्र्य जब विकराल रूप में बढ़ता गया, थोड़े से बलवान, धनवान, बुद्धिमान लोग जब बहुजन समाज का शोषण करते दिखाई देने लगे, तो उसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि यह शोषण समाप्त होना चाहिए। शोषण स्वातंत्र्य आया, व्यक्ति स्वातंत्र्य के कारण, इसलिए व्यक्ति स्वातंत्र्य भी समाप्त होना चाहिए। फिर सोचा गया कि ऐसी एक समाज-रचना लानी चाहिए जिसमें व्यक्ति को कोई स्वतंत्रता नहीं होगी तो कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा।

इस समाज-रचना का नियंत्रण करने वाली एक सर्वेसर्वा सत्ता निर्माण करने का विचार आया। अर्थात् "समता" के दूसरे उद्घोष को स्थापित करने के लिए व्यक्ति स्वातंत्र्य का अपहरण करते हुए एकाधिकारी शासकीय सत्ता की बात चल पड़ी। फलस्वरूप, साम्यवादी शासन निर्माण हुए।

किन्तु अनेक देशों में आज साम्यवादी शासन है। साम्यवादियों की तानाशाही प्रत्यक्ष कई देशों में चलती हुई दिखती है। रूस में इकहत्तर वर्ष हो गए, अन्य देशों में भी चार दशक से अधिक समय बीता, किन्तु समता की स्थापना नहीं हुई। उसके कारण पुनर्रचना के नाम पर सोवियत रूस में उथल-पुथल चल रही है। व्यक्ति स्वातंत्र्य का अपहरण तो हुआ किन्तु समता नहीं आई। इस कारण रूस और चीन सहित हरेक कम्युनिस्ट देश में विद्रोह की भावना व्याप्त है। कम्युनिज्म का यह इतिहास सर्वज्ञात है कि जिन शोषित, पीड़ित, दलित लोगों के नाम से साम्यवाद आया था, ऐसे ही लोगों ने पोलैण्ड में साम्यवादी शासन के विरुद्ध विद्रोह किया था, और उनके सामने सत्ता को झुकना पड़ा था।

समता वहां आ नहीं सकी, क्योंकि सबकी स्वतंत्रता का अपहरण करके सबको समान बनाने की प्रतिज्ञा करने वाली एकाधिकारी सत्ता का माध्यम स्वयं असमान बन जाता है। सबको समान बनाने की ताकत सत्ता के हाथों निहित होने के कारण ही सत्ता के लोग बाकी लोगों से असमान हो जाते हैं। इसी कारण शासक और शासित का भेदभाव निर्माण होने का प्रत्यक्ष अनुभव कम्युनस्टि देशों में आ रहा है। ऐसा हुआ कि स्वतंत्रता आई तो वहां अहम् के कारण शोषण आया। शोषण के कारण समता का भंग हुआ। समता के नाम पर कोई शासन व्यवस्था आई तो स्वतंत्रता का अपहरण तो हुआ लेकिन समता नहीं आ सकी।

जहां तक बंधुता की बात है उसके लिए वहां कोई स्थान है हीं नहीं, क्योंकि वहां के लोग एक दूसरे को बंधु समझें, इसका कोई आधार पश्चिम की संस्कृति में नहीं है। उस अहम्वादी संस्कृति में बंधुता से जुड़े सकारात्मक प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। मनुष्य के मन का विचार न करते हुए केवल रचना के पीछे सारी शक्ति-युक्ति लगाने के कारण आज पश्चिमी राष्ट्र असमंजस की स्थिति में हैं। आगे का रास्ता कैसे निकालना है, इस विषय में बड़े संभ्रम हैं। स्वतंत्रता आती है तो समता नष्ट होती है। समता प्रस्थापित करने का प्रयास करते हैं और फिर भी समता नहीं आती। बंधुता का तो दूर-दूर तक दर्शन नहीं होता। इस सबका क्या कारण?

इसका कारण यह है कि रचना में आप भले ही परिवर्तन कीजिए किन्तु जब तक मनुष्य का मन सुसंस्कारित नहीं है, जब तक यह अनुभूति, यह जीवन-मूल्य समाज के व्यक्ति-व्यक्ति में प्रस्थापित नहीं होता कि सम्पूर्ण विश्व की एकात्मता की दिशा में मेरा वैचारिक प्रवास शुरू होना चाहिए, तब तक स्वातंत्र्य और समता के आदर्शों का मेल बैठना संभव नहीं। इस तरह का साक्षात्कार पश्चिम में व्यक्तिगत रूप में होगा, किन्तु सामाजिक स्तर पर जीवन-मूल्य के रूप में किसी समाज ने इस साक्षात्कार को आत्मसात् किया है, तो वह केवल हिंदू समाज ही है। स्वातंत्र्य एवं समता में मेल बिठाना परस्पर विरोधी नहीं है, उनका सामंजस्य स्थापित करना केवल इसी आधार पर संभव हो सकता है कि हम सब एक हैं— बंधु हैं।

वैसे हमारे **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** का अनुवाद **"वी आल आर वन"** हम सब एक हैं, नहीं होता। उसका ठीक अनुवाद है **"आल इन वन"**। हम सब कहने से यह ध्वनित होता है कि हम अलग-अलग इकाइयां हैं, और हमें एकात्मता निर्माण करनी है। वास्तविकता यह नहीं है। जिसे वे अलग-अलग मानकर एक करने की बात करते हैं वह सब कुछ एक ही है। सबका अस्तित्व मूलतः एक ही है। हम उसके आविष्कार मात्र हैं। गहने अलग-अलग होते हैं किन्तु उनका मूल तत्व सोना एक ही है। खाद्य पदार्थ अलग-अलग तरह के होते हैं किन्तु मूल तत्व आटा एक ही होता है। इस साक्षात्कार के आधार पर ही सब बातों में मेल बैठ सकता है और तभी किसी भी रचना में स्थायित्व आ सकता है अन्यथा नहीं। हमारा हिन्दू विचार आज प्रत्यक्ष पश्चिम के अनुभव के आधार पर देखने पर स्पष्ट रूप से सत्य दिखाई देता है। असाधारण परिस्थिति के कारण पिछले साढ़े ग्यारह सौ वर्ष हमारा वैचारिक प्रवास अधिक नहीं हो सका, फिर भी चकाचौंध करा देने वाले पश्चिम के समस्त वाद समाज को कोई स्थायित्व एवं स्वास्थ्य प्रदान करने की क्षमता नहीं रखते। वह क्षमता केवल हिन्दू विचार और हिन्दू जीवन-मूल्यों में ही है। अतएव वैचारिक दृष्टि से हमें किसी प्रकार की आत्मविश्वासहीनता और ग्लानि अनुवभव करने का कोई कारण नहीं है। संसार को आज भी स्थायित्व की और मार्गदर्शन करने की क्षमता हिन्दू विचार में भरपूर है, यह बात स्पष्ट है और हमारे लिए गर्व की बात है।

अब विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विचार करें। विज्ञान के क्षेत्र में प्रगत पश्चिम के लोग अब सोचने लगे हैं कि यदि विज्ञान की प्रगति की दिशा तय नहीं की गई तो दुनिया में अनर्थ हो सकता है, इसके भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं।

इस भय का प्रत्यक्ष अनुभव पश्चिम के लोगों ने दूसरे महायुद्ध के समय किया। अणुयुग के प्रथम पुरुष राबर्ट ओपेनहायमर ने जब अणु विस्फोट का प्रयोग किया, तब उनके मन में यह कल्पना नहीं थी कि इसका उपयोग नरसंहार के लिए किया जाएगा। वह स्वयं संहारक विचार के नहीं थे, इसका परिचय उनकी अपनी डायरी से मिलता है। उन्होंने लिख रखा है, "मैंने अणु विस्फोट के कई प्रयोग किए थे किन्तु वे असफल हुए थे। यह अन्तिम प्रयोग जब दूर के किसी रेगिस्तान में किया जा रहा था, तब भी इसकी सफलता के बारे में मुझे संदेह था। मैं दूर से यंत्र द्वारा देख रहा था, इतने में विस्फोट हुआ। इस प्रयोग में सफल विस्फोट होने के कारण उस समय जो दृश्य निर्माण हुआ उसके कारण मेरे मुख से स्वाभाविक उद्‌गार निकले कि " I have become death, the shatterer of the world" – "मैं तो मृत्यु बन गया, दुनिया की तबाही करने वाली साक्षात् मृत्यु।"

अणु विस्फोट के बाद उन्होंने जो कुछ कहा वह भगवद्‌गीता में पहले ही कहा जा चुका है कि **"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत प्रवृद्धो"**। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अणु विस्फोट का दृश्य देखकर पश्चिम के किसी वैज्ञानिक के मुख से यदि कुछ उद्‌गार निकलता है तो वह या तो विज्ञान के सम्बन्ध में निकलता है या फिर बाइबल में से। लेकिन उस समय का उनका यह कथन कि (I have become death, the shatterer of the world) – मैं तो मृत्यु बन गया, दुनिया की तबाही करने वाली साक्षात् "गीता में कहे गए श्रीकृष्ण का **"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत**

प्रवद्धो" वचन था। बाद में प्रत्यक्ष महायुद्ध के दौरान राबर्ट ओपेनहायमर के अन्वेषण का प्रयोग नरसंहार के लिए किया गया तो वैज्ञानिक सोचने लगे कि यह हमने क्या किया क्या इसलिए हमने सारी तपश्चर्या की थी?

जब प्रजनन शास्त्रियों ने यह घोषणा की सन् २०४० तक विज्ञान इतना विकसित हो जाएगा कि वह अपनी इच्छानुसार जिस गुण-धर्म का आदमी बनाना चाहेगा, बना सकेगा, तो पश्चिम के वैज्ञानिक भी सोचने लगे कि इसका क्या भरोसा कि इस तरह की प्रगति के फलस्वरूप विज्ञान महात्मा गांधी, भगवान बुद्ध और ईसा मसीह जैसे आदमी निर्माण करेगा? ये शास्त्री एटिल्ला, तैमूर, चंगेज खां, जैसे राक्षसों की निर्मिति नहीं करेंगे, इसकी क्या गारंटी है? प्रजनन शास्त्र की संभावित उपलब्धि पर अमेरिका के सिएटल नगर में एक बड़ी प्रयोगशाला में प्रयोग प्रारम्भ हुआ, वैज्ञानिक इस स्थिति में पहुंच गए थे कि क्रांतिकारी उपलब्धि प्राप्त हो जाती किन्तु उस प्रयोग के कारण और कोई विनाशकारी तत्व तो नहीं बनेंगे, इसका अनुमान वे नहीं लगा पाये थे। जब यह बात फैल गई तो सिएटल नगर निगम ने उन वैज्ञानिकों से पूछा कि इस प्रयोग के कारण जो जन्तु निर्माण होंगे, उनकी जाति कौन-सी होगी? वे जन्तु बाहर फैले तो उसका मनुष्य जाति पर क्या परिणाम होगा? तो वे कहने लगे कि यह तो नहीं बताया जा सकता। हो सकता है कि ये जन्तु यदि प्रयोगशाला के बाहर जाएं तो एक-तिहाई मनुष्य जाति का संहार हो जाय। यह सुनकर सिएटल नगर निगम ने उन पर प्रतिबंध लगा दिया कि आप यह प्रयोग नहीं करेंगे। हमें ऐसी प्रगति नहीं चाहिए।

अणु अस्त्रों की प्राप्ति के कारण कुछ वैज्ञानिक भी सोचने लगे कि विज्ञान की प्रगति की दिशा यदि तय नहीं की गई तो दुनिया में अनर्थ हो सकता है। कम्प्यूटर विज्ञान के फाउन्डेशनल साइंस सायबरनेटिक्स के प्रणेत्ता डा॰ विन्नेर ने, जो स्वयं एक वैज्ञानिक हैं, प्रश्न उठाया कि नोबेल प्राइज के लिए इतिहास में अपना नाम लिखवाने के लिए वैज्ञानिक चाहे जो प्रयोग कर सकता है, किन्तु मनुष्य जाति को उसकी कितनी सामाजिक कीमत चुकानी पड़ेगी? ऐसा तो नहीं कि उसकी सामाजिक कीमत बहुत भयानक हो? विज्ञान को यदि अनिर्बंध स्वतंत्रता दी गई तो उसके परिणाम मनुष्य जाति के लिए विनाशकारी तो नहीं होंगे? इस पर विचार करने पर जोर देते हुए डा॰ विन्नेर ने एक उदाहरण देकर अपनी आशंका प्रगट की। अंग्रेजी में "मंकीज पा" नाम की प्रख्यात कहानी है। यूरोप की किसी एक जगह शाम के समय एक परिवार में एक आदमी पहुंचा। कड़ाके की सर्दी थी। उसने कहा, "आज की रात मैं आपके यहां रुककर सबेरे चला जाऊंगा।" उसका स्वागत हुआ। दूसरे दिन सबेरे जब परिवार के लोग उनके साथ नाश्ता करने बैठे तो उसकी जेब में से कोई चीज गिरी। गृह स्वामी ने पूछा, "यह क्या है?" उसने कहा, "यह यंत्र जिसके पास होगा, उसकी पहली तीन इच्छाएं पूरी करेगा। किन्तु एक बात और है कि उस आदमी पर कुछ संकट भी आ सकता है।"

गृह स्वामी को उस समय दो सौ पौण्ड की जरूरत थी। उन्होंने अपने लड़के से मांगना ठीक नहीं समझा। सोचा, "मंकीज पा" रख लेते हैं, अपनी इच्छा पूरी होने पर इसे फेंक देंगे। उन्होंने उस आदमी से लेकर उसे रख लिया। लड़का जब फैक्टरी में काम पर जाने लगा तो उसने कहा भी

कि "पिताजी, इसके साथ खतरा भी जुड़ा है।" पिताजी ने कहा, "तुम चिन्ता न करो, थोड़ी देर बाद मैं इसे फेंक दूंगा।"

दोपहर के समय एक आदमी आया। उसने पूछताछ की और गृहस्वामी को दो सौ पौंड का चेक देकर रसीद ले ली। गृहपति बहुत खुश हुए कि "मंकीज पा" के कारण अपनी इच्छा पूरी हुई। वह जाने लगा तो उन्होंने उसे रोककर पूछा, "भाई, यह चेक किस बात का है? मुझे क्यों दिया गया है?" उसने कहा, "मुझे बहुत दुःख के साथ यह बताना पड़ रहा है कि आपका लड़का आज फैक्टरी में मशीन की चपेट में आया और उसकी मृत्यु हो गई।" मालिकों ने कर्मचारी सुरक्षा योजना के अन्तर्गत यह पहली किश्त आपके लिए भेजी है। अगली किश्तें भी नियमित रूप से दे दी जाएंगी।" यह उदाहरण देते हुए डा॰ विन्नेर ने प्रश्न किया कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के कारण हमारी कुछ इच्छाएं तो पूरी होंगी, लेकिन उसकी सामाजिक कीमत कितनी देनी पड़ेगी? कहीं सम्पूर्ण नहसंहार तो उसका मूल्य नहीं?

इस दृष्टि से उन्होंने कहा कि तकनीकी जानकारी में प्रगति होनी तब तक मनुष्य के लिए सुरक्षा की बात नहीं है जब तक उस जानकारी के ऊपर तकनीकी उद्देश्य का नियंत्रण न हो। तकनीकी जानकारी का मतलब उन्होंने बताया कि निर्धारित उद्देश्य कैसे प्राप्त करना। किन्तु तकनीकी उद्देश्य का अर्थ बताया कि कौन से उद्देश्य हमें तकनीकी ज्ञान के कारण प्राप्त करने हैं। यदि उद्देश्य की जानकारी पर नियंत्रण नहीं रहा तो दुर्गति हो जाएगी। इस विषय पर गंभीर चिन्ता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि इसके लिए कोई ऐसा तकनीकी विवेकशील नियंत्रक होना चाहिए जो नियंत्रक शक्ति के रूप में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को उद्देश्य प्रदान करते हुए उस पर अंकुश रखे।

आगे उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से कहा कि इस नियंत्रक शक्ति के संचालन में वैज्ञानिक एवं तंत्रज्ञों को नहीं रखना चाहिए, क्योंकि नोबेल पुरस्कार के चक्कर में उन्हें दुनिया में क्या होगा, इसकी फिक्र नहीं होगी। सम्पूर्ण मानव जाति के बारे में जिनके मन में प्रेम है, मानव जाति का जो कल्याण चाहते हैं, जिनका ऊंचा सांस्कृतिक स्तर है, यह नियंत्रक शक्ति ऐसे संस्कारित लोगों की होनी चाहिए। उनके ही नियंत्रण में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की प्रगति होनी चाहिए।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन सभी बातों को सोचने पर वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। हमारे द्रष्टाओं का विचार था कि बाह्य परिस्थिति और मनुष्य का मन, दोनों का महत्व है। दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, किन्तु सर्वाधिक मौलिक बात है मनुष्य का मन। क्योंकि भगवान ने मनुष्य के मन को ही इच्छा-शक्ति प्रदान की है, इसलिए जब तक वह सुसंस्कारित नहीं होता तब तक किसी भी समाज-रचना में स्थायित्व एवं स्वस्थ निर्माण नहीं हो सकता। यह पश्चिम के अनुभवों के आधार पर भी कहा जा सकता है।

इसलिए पश्चिम के वैज्ञानिक प्रयास के कारण चकाचौंध और उनकी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की प्रगति को देखकर आश्चर्यचकित न हों। उनका विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि अन्ततोगत्वा मनुष्य के मन के संस्कारों की हमारे देश की प्रणाली असीम महत्व रखती है। यह

प्रणाली हमारे यहां होने के कारण "सारा अस्तित्व एक है और हम सभी उसके अंश हैं" का यह अंगांगी भाव हमारे जीवन-मूल्य में होने के कारण, हमारे यहां मनुष्य का मन "अहम्" के ऊपर उठ सकता है, ऊपर उठता आया है।

यह सच है कि आज हम पिछड़ गए हैं। हम स्वीकार करते हैं कि ग्यारह सौ-साढ़े ग्यारह सौ साल के गतिरोध के कारण हमारे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में तरह-तरह की गंदगी पैदा हो गई है। किन्तु यह हमारी आन्तरिक अक्षमता के कारण नहीं, मात्र परिस्थितिजन्य है। आन्तरिक वैचारिक विज्ञान एवं तंत्रशास्त्र की हमारी क्षमता भरपूर है। आज की अवस्था में भी शास्त्रज्ञों की संख्या की दृष्टि से विश्व में हमारा तीसरा स्थान है। इसके अतिरिक्त हमारी एक और विशेष क्षमता है जो हमें मनुष्य जाति को बचाने वाले विवेकपूर्ण अंकुश का निर्माण करने की भूमिका प्रदान करती है। हम अपने संस्कारों के कारण अहम् से ऊपर उठ सकते है। हमें परस्पर विभेदों में विविधता का साक्षात्कार है, हमारे अन्दर अपने संस्कारों के आधार पर विविधता के अन्तर्गत बहने वाले एकात्मकता के प्रवाह का अनुभव करने की क्षमता है। इसी कारण अर्नाल्ड टायन्बी ने हमारी आज की विपरीत स्थिति को जानते हुए ही कहा कि "आने वाले भविष्य में यदि मनुष्य जाति को बचाना है तो यह क्षमता केवल हिंदुस्थान में ही है।" टायन्बी का यह विश्वास तथा हमारी प्रार्थना में हमारी "परम वैभवम् नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्" की आकांक्षा, दोनों एक ही दिशा में जाने वाली बातें हैं। यह केवल दिवास्वप्न नहीं है। हमारे अन्दर आवश्यक स्वाभाविक क्षमता पर्याप्त मात्रा में है।

आज भी विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा अन्य तकनीकी प्रक्रियाओं में हमारे लोग अमेरिकन, जर्मन, रशियन लोगों की बराबरी में कार्य कर रहे हैं। वैचारिक दृष्टि से भी हमारे विचारक पीछे नहीं हैं। कोई ऐसा विचार नहीं कि हिन्दू जिसकी कल्पना नहीं कर सकता। जब कार्ल मार्क्स ने अपना "दास कैपिटल" ग्रंथ प्रकाशित किया और कम्यून व्यवस्था की कल्पना रखी, उसी समय लगभग उसी वर्ष हमारे यहां के श्री विष्णुदुवा ब्रह्मचारी नाम के एक विचारक ने स्वतंत्र रूप से विचार रखते हुए अपने ग्रंथ में भी कम्यून जैसी योजना का वर्णन किया है। एक ही समय दोनों ग्रंथ स्वतंत्र रूप से, एक दूसरे की जानकारी न होते हुए, लिखे गए हैं। इसका यह मतलब नहीं कि कम्यून कोई प्रमाणभूत रचना है। किन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट नजर आती है कि वैचारिक दृष्टि से हिन्दू प्रतिभा पश्चिम से किसी भी तरह पीछे नहीं है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में भी श्री जगदीशचन्द्र बोस, श्री सी. वी. रमण और श्री हरवंशलाल खुराना जैसे हिन्दू विख्यात हैं। सम्पूर्ण विश्व को संतुलित मार्गदर्शन करने की जो क्षमता हमारे अन्दर है, वह अन्यत्र नहीं है।

इस विश्वास के साथ यदि हमने सोचा तो कभी-कभी "हिन्दू" शब्द के बारे में हमें जो एक हीनता की ग्लानि और आत्मविश्वासहीनता का अनुभव होता है वह असमर्थनीय लगेगा, और आज की परिस्थिति में भी परम् वैभव की दिशा में मार्गक्रमण करने का आत्मविश्वास हमारे अन्दर जाग्रत होगा, क्योंकि साठ करोड़ हिन्दुओं की श्रद्धा सनातन हिन्दू जीवनदर्शन की अन्तर्भूत शक्ति और सर्वशक्तिमान श्रीपरमेश्वर का आशीर्वाद हमारे साथ है।

१५. राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार

किसी ने ऐसा कहा है कि रोग का सही निदान होना ही रोग का आधा ठीक होना है। अतः हमारे समक्ष जो विभिन्न समस्याएं हैं, पहले उनका निदान कर लिया जाए। इसके बाद इन समस्याओं को हल करने के लिए उपाय-योजना का विचार किया जा सकता है।

आज हमारे सामने अनेक समस्याएं हैं। मुख्य समस्या यह है कि हम अपने राष्ट्र का पुनर्निर्माण कैसे करें? आज अपना राष्ट्र जिस स्थिति में है, वहां से उसे अच्छी अवस्था तक हमें पहुंचाना है। हमें प्रगति करनी है। इसके लिए लोगों ने अलग-अलग मार्ग सुझाए है। उसके लिए अलग-अलग नामों का प्रयोग किया है। कोई प्रगतिवाद के मार्ग का सुझाव देता है, तो कोई समग्र क्रान्ति और आमूल सुधारवाद (रेडिकलिज्म) के मार्ग पर चलने का हामी है। कुछ लोग स्वयं को क्रांतिकारी कहते हैं। इनमें से किसी भी शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। जिसको जो शब्द पसंद है, वह उसी शब्द का प्रयोग करता है। किन्तु सामान्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमें अपने राष्ट्र का निर्माण करना है। खंडित भारत के ही क्यों न हों, हमें अपना भाग्य-विधाता स्वयं बनना है।

मन में सर्वप्रथम यह विचार आता है कि क्या हमारे समक्ष किसी ऐसे देश का आदर्श चित्र है कि जिस देश के निवासियों ने अपने राष्ट्र का ऐसा निर्माण किया है, जिसके लोग सुखी और समृद्ध हो गए हैं। यदि हमारे सामने ऐसा कोई नमूना हो तो बहुत अच्छा होगा। इस दृष्टि से हम भिन्न-भिन्न नमूनों का विचार करें। आज की दुनिया के जिन बड़े समृद्ध और अग्रसर राष्ट्रों के उदाहरण हमारे समक्ष हैं उनमें अमेरिका तथा रूस का नाम प्रमुख है। चीन का नाम भी अब इस श्रेणी में आने लगा है। यदि एक बार हमें ऐसा पता चल जाय कि अमुक देश की नकल करने से हमारा कल्याण होगा तो हमारी उलझन या समस्या सुलझ सकती है।

क्या इनमें से कोई राष्ट्र ऐसा है जो सुख की प्राप्ति कर चुका है या कर रहा है? इसका विचार करने पर हमारे सामने विचित्र बातें आती हैं। इनमें सबसे धनी राष्ट्र अमेरिका है। इस दृष्टि से सबसे सुखी राष्ट्र भी वही होना चाहिए। किन्तु वहां जितनी आर्थिक प्रगति है, उतना ही वहां सुख का अभाव है। यह खटकने वाली बात है। एक ओर बहुत प्रगति है, उनका तकनीकी ज्ञान बहुत बढ़ गया है, वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि अब थोड़े ही समय बाद वहां सारा काम यंत्रों

के माध्यम से होने लगेगा, वे प्रगति की ओर यहां तक जा रहे हैं कि वहां प्रजा-निर्माण का कार्य भी मनुष्य के बिना ही हो सकेगा। चंद्रमा पर भी पहुंच गए हैं। दूसरी ओर इसके विपरीत विगत वर्षों के कुछ आंकड़ों के अनुसार सबसे अधिक आत्महत्याएं अमरीका में हुईं। सबसे अधिक पागलपन भी वहीं है। न्यूरस्थेनिया नामक स्नायुदोष भी सबसे अधिक वहीं होता है। रक्तचाप और हृदय-रोग भी वहीं सर्वाधिक हैं। अपराध करने की प्रवृत्तियां भी सबसे अधिक वहीं हैं। एक ओर प्रगति हो रही है और दूसरी ओर ये बातें हैं। अमरीका यद्यपि धनी और तकनीकी दृष्टि से उन्नत राष्ट्र है तो भी वहां समाज में सुख का अभाव है।

अपने यहां होने वाले विश्वविद्यालयों की गड़बड़ के कारण हम दुखी हैं। किन्तु वहां तो इससे भी अधिक गड़बड़ियां हुई हैं। वहां स्टेनगन आदि हाथ में लेकर छात्रों ने विद्रोह किए हैं। अमेरिका की नई पीढ़ी यह घोषित कर रही है कि वह वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्ट है। मेरे एक मित्र अमरीका गए थे। वे वहां के विद्यार्थी नेताओं से मिले। उन्होंने उनसे पूछा 'आप क्या चाहते हैं? तो छात्र नेताओं ने कहा हम चाहते हैं वर्तमान व्यवस्था नष्ट होनी चाहिए, उपभोक्तावाद समाप्त होना चाहिए। तब उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा, "कृपया यह बताइए कि आप किस प्रकार का समाज चाहते हैं? उन विद्यार्थी नेताओं ने कहा, "हम यह तो नहीं बता सकते कि हम किस प्रकार का समाज चाहते हैं, इसका स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं है, लेकिन हम इतना जरूर जानते हैं कि वर्तमान उपभोक्ता समाज नष्ट होना चाहिए।"

"हिप्पी कल्ट" एक प्रकार से अमरीका के मानसिक असंतोष का बैरोमीटर है। क्या उनके असंतोष का कारण भौतिक अभाव है? हमारे अपने देश में हमें खाने-पीने को पूरा नहीं मिलता, इसलिए हम समझते हैं कि असंतोष का कारण भौतिक अभाव होगा। हमारी समस्याएं "निर्धनता" की हैं, और अमरीका की समस्याएं "विपुल सम्पन्नता " की है। बड़े-बड़े धनी सम्पन्न लोगों के लड़के भी हिप्पी बन जाते हैं।

यह बात सही है कि अमरीका तकनीकी दृष्टि से बहुत उन्नत होता जा रहा है लेकिन इसके कारण समस्याएं भी निर्माण हो रही हैं। टैकनालॉजी पर भरोसा रखते हुए उन्होंने हर दिशा में प्रगति की है। किन्तु उन्होंने इसका विचार नहीं किया कि कुल मिलाकर समाज और व्यक्ति के जीवन पर इसके क्या परिणाम होंगे। वहां के विचारकों के अनुसार इसके कारण दो प्रकार की क्षतियां हो रही हैं। एक प्रश्न यह है कि ईश्वर-प्रदत्त साधनों का उपभोग कितना और कैसै करना है? यदि हम अपने सुख के लिए आज ही इनका सारा उपभोग कर लेंगे तो आने वाली पीढ़ियों का क्या होगा, इसका विचार न करते हुए उन्होंने प्राकृतिक साधनों का उपभोग किया है। जिस गति से उसका उपभोग किया जा रहा है, उस गति से दो सौ साल बाद हम खनिज, ईंधन पर अवलम्बित नहीं रह सकते, वह समाप्त हो जाएगा। आणविक शक्ति की दृष्टि से थोरियम और यूरेनियम की आपूर्ति भी अनिश्चित काल तक नहीं हो सकती। इसकी भी अपनी एक मर्यादा है।

इस तारतम्य रहित अनियंत्रित उपभोग के कारण प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है और वे यह अनुभव कर रहे हैं कि आधुनिक तकनीक के कारण दुःख का निर्माण हो रहा है। वायु प्रदूषित

है; जल प्रदूषित है; और अब भूमि को भी प्रदूषित करने की तैयारी है। यह प्रदूषण इतना भीषण है कि अमरीका में सभी लोगों के सामने, चाहे वह उद्योगपति हो, चाहे श्रमिक हो, यही एक प्रश्न है कि वे वायुमंडग को किस प्रकार शुद्ध करें? इसके कारण संयुक्त राष्ट्र संघ के, जिसमें पश्चिमी राष्ट्रों का नेतृत्व है, तत्वावधान में स्टाकहोम में एक विश्व इकालॉजी परिषद हुई। इकालॉजी का अर्थ है इन्वायरनमेंटल साइंस, अर्थात् पर्यावरण विज्ञान। इस परिषद में सभी विचारकों तथा शास्त्रविदों ने यह चिन्ता प्रकट की कि सम्पूर्ण वायुमण्डल और जल में मनुष्य और पशु जीवन के लिए कुछ घातक तत्वों का संचरण हो रहा है। भारत में भी कानपुर, मुम्बई, कलकत्ता आदि के वायुमण्डल में तीन हजार ऐसे रासायनिक तत्व विद्यमान हैं जो मानव स्वास्थ्य के लिए घातक हैं। इस समस्या के कारण अमरीका में विचार चल रहा है कि यह तकनालॉजी बदलनी चाहिए, नहीं तो इसके कारण उत्पन्न प्रदूषण मनुष्य और अन्य जीवों के लिए घातक सिद्ध होगा।

कहने का अर्थ यह है कि वह देश, जो दुनिया का प्रथम श्रेणी का देश माना जाता है, जो चन्द्रमा पर पहुंच गया है, अपने देश के लोगों को सुखी नहीं कर सका।

अब नम्बर दो का देश —रूस— हमारे सामने आता है। अब विश्व के दूसरे बड़े देश रूस का विचार करें। वह हमारा मित्र भी है। वहां भी कोई सुख समाधान है ऐसा दिखाई नहीं देता। इसके लिए कोई बहुत विस्तृत विवरण की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हम इतना जानते हैं कि १९१७ में रूस ने जो एक नया प्रयोग शुरू किया, उसने जो सिद्धान्त सामने रखा और जो घोषणाएं कीं, उनमें से हर-एक में वे निरंतर परिवर्तन लाते जा रहे हैं। इस विषय में थोड़ा सा संकेत करना ही पर्याप्त होगा।

उदाहरण के लिए, रूस ने कहा था कि निजी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु अब वहां निजी सम्पत्ति आ गई है और वह बढ़ती जा रही है। रूस के संविधान की धारा १० में यह लिखा है कि किन विशेष परिस्थितियों में निजी सम्पत्ति का अधिकार रहेगा। वह सम्पत्ति उत्तराधिकार में भी प्राप्त की जा सकती है।

रूस ने घोषणा की थी कि सबको समान मानेंगे लेकिन वहां सबको समान पैसा नहीं मिल रहा है। वहां के नवीनतम आंकड़ों के अनुसार वहां आय के अन्तर का अनुपात १ और ८० के अनुपात का है, जबकि पूंजीवादी संयुक्त राज्य अमरीका में कम से कम और अधिक से अधिक आय के नवीनतम अनुपात का आंकड़ा १ और १५ का है। रूस में यह असमानता और भी बढ़ती जा रही है। रूस को चीन द्वारा गाली दिए जाने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि 'हर-एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' के शास्त्रीय समाजवाद के घोषित सिद्धान्त को रूस ने छोड़ दिया है, और अब वहां "हर-एक को उसकी योग्यता और उत्पादन इत्यादि के अनुसार" दिया जाता है। यह समाजवाद के साथ गद्दारी है। यह सबसे प्रमुख गाली है जो रूस को चीन ने दी है।

यह कहा गया था कि रूस में वर्गविहीन समाज की रचना होगी। किसी भी साम्यवादी देश में, चाहे वह रूस हो या कोई और, वर्गविहीन समाज की रचना नहीं हुई। श्री जिलास ने अपनी "न्यू क्लास" नामक पुस्तक में बताया है कि वहां पुराने वर्ग तो समाप्त हुए, किन्तु नए वर्गों का निर्माण

हुआ है। ये नए वर्गों का निर्माण हुआ है। ये नए वर्ग हैं शासक और शासित। ये वर्ग बहुत अधिक सजीव और सक्रिय हैं।

रूस ने यह भी कहा था कि परिवार एक बुझा हुआ कालबाह्य संगठन है, इसे नष्ट करेंगे और कम्यूनों की स्थापना करेंगे। किन्तु वे कम्यून असफल हो गए और परिवार संगठन वहां पूरी तरह आ गया है। रूस में आज पारिवारिक संरचना चल रही है।

उनका कहना था कि हम राष्ट्रवाद को नहीं मानते। किन्तु सब लोग जानते हैं कि पिछले महायुद्ध के समय रूस में राष्ट्रीयता के आधार पर ही लोगों को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया था। तब से अब तक न केवल रूस में अपितु सभी साम्यवादी देशों में राष्ट्रवाद बहुत प्रबल हुआ है। यहां तक कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की तुलना में राष्ट्रवाद के अधिक प्रबल होने के कारण साम्यवादी देश एक दूसरे के साथ लड़ रहे हैं। चीन और रूस का संघर्ष भी वास्तव में राष्ट्रीयता के विस्तार का ही संघर्ष है।

फिर यह कहा गया था कि लाभ हेतु मांग पूर्ति तथा प्रतियोगिता विशुद्ध पूंजीवादी प्रवृत्तियां हैं।किन्तु आज लाभ का उद्देश्य और प्रतियोगिता, दोनों का प्रवेश रूस में हुआ है। मांग एवं पूर्ति के पूंजीवादी सिद्धान्त को भी वहां मान्यता मिल गई है। रूस अपनी एक-एक घोषित नीति से पीछे हटता जा रहा है।

इतना होने के बाद भी कुल मिलाकर रूसी जनता में बड़ा सुख है या बड़ी शान है, इस प्रकार का अनुभव नहीं आया। उनकी भी तकनीकी प्रगति हो रही है। एक ओर तो वे चन्द्रमा तक पहुंच गए हैं और दूसरी ओर वे यहां तक अभावग्रस्त हैं कि स्वयं अपने लोगों को खिलाने के लिए पर्याप्त अनाज भी उत्पन्न नहीं कर पाते। उनको पूंजीवादी देशों से अनाज मंगाना पड़ रहा है। यदि वास्तव में रूस की अवस्था देखी जाय तो अनेक गणराज्यों तथा गैर-रूसी एवं अश्वेत रूसी लोगों में आज पर्याप्त असंतोष है। वहां भी रूसीकरण के द्वारा शोषण चल रहा है। यह दशा स्पष्टतः अश्वेत रूसी लोगों की है। जो भी रूस में जाकर आएगा, उसको सामान्य अवलोकन से ही यह बात ध्यान में आ सकती है।

यदि हमें अनुकरण ही करना है तो ऐसे लोगों का करना चाहिए जिनका अनुकरण करने से कुछ लाभ हो, नहीं तो गुनाह बेइज्जत जैसी बात हो जाएगी। यदि हमारे सामने ऐसा कोई ढांचा आ जाता कि जो चीज हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह किसी अन्य ने भी प्राप्त की है तो बहुत अच्छा होता। आज स्थिति यह है कि रूस की औद्योगिक व्यवस्था का यथावत् अनुकरण उसके अधीन काम करने वाले चेकोस्लोवाकिया, हंगरी आदि देश भी नहीं कर रहे हैं। बाकी व्यवस्थाओं में भी वे रूस से मार्गान्तरण करते जा रहे हैं और जब रूस ने इन साम्यवादी देशों को कहा कि आप लोगों को हमारा ढांचा ही अपनाना चाहिए तो उन देशों ने इनकार कर दिया। कहा "हम आपसे साम्यवाद तो अवश्य ले रहे हैं, लेकिन हमें उसे अपनी संस्कृति और परम्पराओं में ढालकर ही लेना पड़ेगा, नहीं तो हमारा काम नहीं चलेगा।" हर-एक ने अपना-अपना ढांचा खड़ा करने की कोशिश की।

यूरोप के सभी साम्यवादी देश, जो सीधे रूस के प्रभाव में हैं, ऐसा अनुभव नहीं कर रहे हैं, कि हम रूसी मॉडल के द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं, तो बाकी देश उसके अनुसरण के द्वारा कहां तक अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकेंगे? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

हमारे सामने चीन का भी उदाहरण है। चीन में भी व्यापक असंतोष व्याप्त है। चीन में सांस्कृतिक क्रांति के नाम पर करोड़ों लोग मारे गए थे। वहां आज भी कहा जा रहा है "इंकलाब जिन्दाबाद"। इंकलाब यानी परिवर्तन। अर्थात् अभी वहां स्थायित्व नहीं आ पा रहा है। निरंतर परिवर्तन की ही बातें चल रही हैं। माओ की सांस्कृतिक क्रांति के समर्थन को यदि सही मान लिया जाय तो भी उसकी आवश्यकता विद्यमान चीनी रचना की विफलता का ही परिचय देती है।

इस तरह जहां भी हम देखते हैं वहां कोई अनुकरणीय ढांचा हमें दिखाई नहीं देता। यदि हमें अनुकरण ही करना है, किसी न किसी का शिष्य ही बनना है, तो फिर किसी ऐसे देश का या किसी ऐसी विचारधारा का शिष्य बनना चाहिए, जिसके कारण भविष्य में हमारा लाभ हो, अन्यथा होगा यह कि हम दूसरे का शिष्यत्व ग्रहण करेंगे, मानसिक दासता भी स्वीकार करेंगे और जिसके लिए यह सब करेंगे वह भी प्राप्त नहीं होगा।

पश्चिम में कई विचारधाराएं हैं। पश्चिम की और हमारी पद्धति में अन्तर है। वहां विचार में थोड़ा सा भी परिवर्तन होता है तो वे कहते हैं कि हमारी अलग वैचारिक धारा है। जबकि हमारे यहां ऐसा था कि हर-एक ने अपना विचार तो रखा, किन्तु किसी ने भी यह नहीं कहा कि यह मेरा नया विचार है। हर-एक ने यही कहा कि **"इदं परम्परा प्राप्तम्"**— यह तो परम्परा से प्राप्त है, पहले से चलता आया है। हर-एक ने कहा कि वेद में इसका आधार मिलता है। किन्तु पश्चिम में ऐसा नहीं है।

पश्चिम के तरह-तरह के "वादों" में कुछ बातें समान हैं। हम दो-तीन बातों का विचार करें। उनमें एक बात यह है कि जितने भी वामपंथी वाद हैं उनका एक अच्छा फैशनेबल शब्द है "समानता"। ऐसा माना जाता है कि यह सब बातों का आधार है। आप चाहे साम्यवाद को लें, चाहे समाजवाद को, चाहे अराजकतावाद को, चाहे और किसी वाद को — सब में समानता की बात दिखाई देती है। किन्तु यह समानता कहीं प्रस्थापित नहीं हो सकी है।

अलग-अलग साम्यवादी देशों ने एक-दूसरे को जो प्रमाण-पत्र दिए हैं, यदि हम उनका विचार करें तो एक बात निश्चित हो जाती है कि आज समानता कहीं नहीं आ सकी। जहां समानता लाने का प्रयास किया गया वहां भी लोगों ने फिर से समानता के विरुद्ध प्रयास करते हुए असमानता की स्थापना की है। रूस और बाकी देशों की घटनाएं इसकी साक्षी हैं।

अब हम जरा सोचें कि वहां समानता क्यों नहीं आ सकी? और हमारे यहां समानता के बारे में क्या विचार था? मान लें कि जितने हिन्दू विचार आए, वे सब गलत हैं, क्योंकि यदि वे गलत न होते तो हमारी गिरावट न होती। फिर भी हम यह तो देखें कि हमारा विचार क्या था और आज के आधुनिक विचारकों के विचार क्या हैं? वहां सब लोग समान हैं लेकिन वे कहीं भी समानता

क्यों नहीं ला सके? इसका एक कारण तो यह है कि दो ऐसी उत्कट इच्छाएं हैं कि जिनका परस्पर मेल किसी भी पश्चिमी विचारधारा में नहीं हो सका है। इनमें से एक उत्कट इच्छा यह है कि हर-एक व्यक्ति का विकास होना चाहिए। यह विकास कैसे होगा? अपने यहां सोचा गया है कि हर व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। जहां प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की सीमा समाप्त होती है वहां से संस्कृति की सीमा प्रारम्भ होती है। अतः सबसे पहले प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए, उसके बाद संस्कृति का क्षेत्र शुरू होता है।

लेकिन हर-एक व्यक्ति का विकास, हर-एक को ऐसा काम देने से होगा जो काम उसकी प्रकृति-प्रवृत्ति के अनुकूल हो। इस तरह का काम करने से उसे आनन्द आएगा और फिर उसके लिए काम और आराम , दोनों एक हो जाएंगे। इसके कारण उसका काम भी अधिक अच्छा होगा, काम की गुणात्मकता भी अच्छी होगी और निष्पन्न काम की मात्रा भी अधिक होगी। वह व्यक्ति श्रेष्ठतम उत्पादन या सेवा दे सकेगा और यदि वह इस प्रकार की सेवा या उत्पादन को राष्ट्रपुरुष के चरणों पर समर्पित करता है तो वह राष्ट्रपुरुष के लिए उसका सर्वोत्कृष्ट योगदान कहा जायेगा। एक ओर वह राष्ट्र पुरुष के चरणों पर अपना सर्वोत्कृष्ट सम्भव योगादान अर्पित करेगा और दूसरी ओर उसकी रुचि, प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार उसका विकास होगा। साथ ही राष्ट्र को अधिक से अधिक उत्पादन और सेवाएं प्राप्त होंगी।

अपने यहां यह भी सोचा गया कि व्यक्ति अपने को केवल एक मौलिक इकाई न समझे। समाज के बारे में हमारे यहां यह धारणा है कि सम्पूर्ण समाज एक शरीर के समान है और हर व्यक्ति या व्यक्ति-समूह इसके अंग-प्रत्यंग के रूप में है। हम संघ में इसका वर्णन बहुत बार सुनते हैं। मैं और मेरे समाज का पारस्परिक सम्बन्ध अंग और अंगी अर्थात् अवयव और शरीर के सम्बन्ध के जैसा है और इसलिए हम अलग-अलग नहीं, राष्ट्रांगभूत हैं। इस एकात्मता की भावना के कारण एक ओर अपना विकास होता है और दूसरी ओर उसके उच्चतम और श्रेष्ठतम फल को हम राष्ट्रपुरुष के चरणों में समर्पित करते हैं। इसमें हर-एक के व्यक्तिगत विकास के साथ राष्ट्र के विकास का समन्वय भी होता है। यह भी ध्यान रखा गया है कि जहां हर व्यक्ति का पूरा विकास हो रहा हो वहां ऐसा न हो कि एक व्यक्ति का विकास दूसरे के विकास मार्ग में बाधा के रूप में खड़ा हो जाय। एक के आगे बढ़ने का परिणाम दूसरे के पीछे धकेले जाने के रूप में न निकले। सम्पूर्ण समाज की सम्यक धारणा और हर-एक व्यक्ति के पूर्ण विकास का समन्वय हमारे यहां आवश्यक माना गया।

अंगांगीभाव का विचार पश्चिमी देशों की दृष्टि में पुराना एवं त्याज्य हो गया है। यह आधुनिक या प्रगतिशील विचार नहीं है। आधुनिक विचार यह है कि हर व्यक्ति सुखी होना चाहिए। वहां केवल व्यक्ति प्रधान है। समाज इत्यादि वहां जो कुछ भी है वह सब व्यक्ति के लिए है। उनकी मान्यता यह है कि समाज की क्या आवश्यकता है? व्यक्ति अकेले सम्पूर्ण सुख प्राप्त नहीं कर सकता इसलिए उसके सुख साधन के रूप में ही बाकी समाज के लोग हैं, अन्यथा समाज नाम की कोई मौलिक इकाई नहीं है। मौलिक इकाई तो व्यक्ति है। अतः व्यक्ति का सुख ही प्रधान

बात है। यह विचार समाज को एक क्लब के रूप में समझने के समान है। क्लब स्वयं में कोई मौलिक इकाई नहीं है। क्लब का एक-एक व्यक्ति मौलिक इकाई होता है। क्लब में कोई भी व्यक्ति इसलिए जाता है कि यदि ताश भी खेलना हो तो दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता होती है। उसके सुख के साधन के रूप में चार लोग वहां मिल जाते हैं। इसी प्रकार उनके लिए समाज भी कोई मौलिक इकाई नहीं है। मौलिक इकाई व्यक्ति ही है, उसी के सुख के लिए सब कुछ है। उसको पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

दूसरा विचार यह है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की अनियंत्रित असीमता के कारण बाकी लोगों को कष्ट होता है, अतः व्यक्ति स्वातंत्र्य को खत्म करना चाहिए। इसलिए हम व्यक्ति को मौलिक इकाई न मानें। एक ही मौलिक इकाई है, वह है राज्य, सरकार। सब कुछ, यहां तक कि व्यक्ति भी, राज्य के हाथ में होना चाहिए। सारा अधिकार राज्य का होना चाहिए और व्यक्ति राज्य-तंत्र का नट-बोल्ट, दांत और चक्र के निर्जीव पुर्जे के समान रहें। उसकी न कोई अपनी इच्छा रहे न प्रवृत्ति, न प्रकृति और न रुचि। उसकी कोई व्यक्तिगत आकांक्षा भी नहीं हो। व्यक्ति को अपना जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए इसका निर्णय राज्य करेगा। इस निर्णय प्रक्रिया में व्यक्ति को कोई स्थान नहीं होगा। इस दूसरी प्रक्रिया में भी इसका कोई विचार नहीं किया गया कि व्यक्ति का विकास कैसे होगा? इस प्रक्रिया में व्यक्ति को केन्द्रीय योजनानुसार कार्य करना पड़ेगा। केन्द्र या राज्य जो काम जिस व्यक्ति के लिए तय करेगा वही काम उस व्यक्ति को करना पड़ेगा।

ये दोनों विचार अतिवाद से ग्रसित दिखाई देते हैं। जहां लोगतंत्र है वहां भी इसका भरोसा नहीं है कि हरेक को उसकी रुचि का काम मिलेगा ही। लोकतंत्र में स्थान रिक्तता के अनुसार कार्य प्राप्ति की व्यवस्था है। जिस समय, जहां, जिस स्थिति में स्थान रिक्त होगा, वहां वैसा काम उसको मिलेगा चाहे वह काम उसकी रुचि का हो या न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतंत्र में स्थान रिक्तता के अनुसार कार्य प्राप्ति की व्यवस्था है। साम्यवाद के अन्तर्गत केन्द्रीय आयोजनानुसार कार्य प्राप्ति की पद्धति है। दोनों में ही व्यक्ति की रुचि का ध्यान नहीं है। किन्तु प्राचीन हिन्दू पद्धति में व्यक्ति की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार कार्य की व्यवस्था थी।

हिन्दू रचना में समाज की धारणा का जो अर्थ था उसका एक हिस्सा यह भी था कि जब हम सम्पूर्ण समाज के सब व्यक्तियों के व्यक्तिगत काम का विचार करेंगे तो सम्पूर्ण समाज की कुल आवश्यकताओं और सभी व्यक्तियों की प्रवृत्तियों का विचार भी करेंगे। हर व्यक्ति को अपनी प्रवृति के अनुसार काम मिलेगा तो हरेक का उत्पादन अधिकतम होगा। उन सबके अधिकतम उत्पादन के योग और राष्ट्र की कुल आवश्यकताओं का तालमेल बैठाना चाहिए। यह तालमेल बैठाना धर्म की एक कसौटी थी।

पश्चिम की विचारधारा में यह बात तो है कि हर-एक व्यक्ति का विकास हो, किन्तु वहां

समानता की बात को सफलता क्यों नहीं मिली? ऐसा दिखाई देता है कि पश्चिम के लोग व्यक्ति के मन में दो परस्पर विरोधी इच्छाओं का मेल नहीं बिठा सके। वहां समाज की धारणा और व्यक्ति के विकास में समायोजन नहीं किया जा सका। समाज की सम्यक धारणा के आधार के विषय में उनका कहना है कि यह समानता के आधार पर होनी चाहिए। उनकी एक कामना है समानता की और दूसरी कामना है व्यक्ति के विकास की। किन्तु पश्चिम की जो मनःस्थिति है उसमें दोनों का समन्वय नहीं हो सकता। पश्चिम मूल रूप से भौतिकवादी है। उनके विचारों का आधार भौतिक है। उनके समस्त जीवन-मूल्य भौतिक हैं। भौतिक समृद्धि, भौतिक लाभ, भौतिक सुविधाएं, अर्थात् जो कुछ भी है वह भौतिक है और जो भौतिक है बस उसी का महत्व है।

भौतिक जीवन-मूल्यों के कारण कुछ समस्याएं आती हैं। मान लें कि समाज में समानता आ गई। किन्तु इस समानता का अर्थ क्या है? किसी ने कहा है कि कम से कम और अधिक से अधिक आमदनी में १ और ४० का अन्तर हो तो समानता माननी चाहिए, किसी ने कहा १ और २० का अन्तर रहना चाहिए, और किसी ने कहा १ और १० अन्तर रहना चाहिए। अब मान लीजिए कि यह समानता की अवस्था आ गई कि कम से कम और अधिक से अधिक आय में १:१० का अनुपात है, यदि कम से कम आय १०० रुपए है तो अधिक से अधिक आय १००० रुपए से ऊपर नहीं हो सकती। हमारी एक कामना तो पूरी हो गई, लेकिन इसमें व्यक्ति के विकास की एक दूसरी समस्या का निर्माण होता है। मान लीजिए मैंने बहुत काम किया। पर यह सब मैं किसलिए करूंगा। मेरे जीवन-मूल्य केवल भौतिकवादी होने के कारण मेरे मन में यह प्रश्न उठेगा कि मैं इतना परिश्रम किसलिए कर रहा हूं? यदि भौतिक लाभ के लिए कर रहा हूं तो आपने तो कहा कि मुझे एक हजार से अधिक मिलने वाला नहीं, चाहे मैं आइंस्टीन के समान बुद्धिमान हो जाऊं, चाहे डॉ॰ राधाकृष्णन के समान दार्शनिक बन जाऊं, चाहे मैं सर विश्वेश्वरैया के समान तंत्रज्ञ बन जाऊं, मैंने अधिक से अधिक प्रगति की तो भी एक हजार रुपए से अधिक तो मुझे मिलने वाला नहीं है। इसके विपरीत मान लीजिए कि मैंने कुछ काम नहीं किया, अपने आत्मविकास की कोई योजना नहीं बनाई तो भी कम से कम सौ रुपए तो मुझे मिलेंगे ही। क्योंकि संविधान में लिखा है "समानता" अतः सौ रुपए तो मुझे निकम्मेपन में भी मिलेंगे और बहुत परिश्रम करने पर मुझे एक हजार रुपए से अधिक मिलने वाला नहीं है। इससे तो अच्छा है कि आराम से रहें, सौ रुपए तो मिल ही जाएंगे।

स्पष्ट है कि भौतिकवादी जीवन-मूल्यों की अवस्था में समानता के सिद्धान्त को लाते ही आत्म-विकास की प्रेरणा समाप्त होने लगती है।

हमारे देश में आज जो प्रतिभा-पलायन का संकट खड़ा हो गया है, उसका भी कारण यही है। हमने अपने वैज्ञानिकों और शिल्पज्ञों के सामने भौतिकतावादी मान्यताएं रखी हैं। वे बहुत पढ़-लिखकर परिश्रम करके योग्यता प्राप्त करते हैं। हो सकता है कि इनमें से कुछ थोड़े से लोग आत्मविकास की दृष्टि से पैसे का विचार न करते हुए शोध के अगले चरणों की सुविधा यहां न होने के कारण विदेश जाते हों, लेकिन अधिसंख्यक लोग यह सोचते हैं कि हमने परिश्रम करके जितनी योग्यता प्राप्त की है उस योग्यता के अनुपात में यहां आर्थिक प्राप्ति नहीं हो सकती,

तो फिर यहां रहकर क्या करना? इसलिए विदेश जा रहे हैं और प्रतिभा-पलायन की समस्या हमारे सामने उत्पन्न हो गई है। स्पष्ट है कि जब तक जीवन-मूल्य भौतिकतावादी हैं, समानता और व्यक्ति के विकास का मेल नहीं बैठ सकता।

भौतिकतावादी व्यवस्था की यह सहज निष्पत्ति है कि भौतिकतावादी जीवन-मूल्यों के आधार पर यदि समानता लाने का प्रयास किया जाएगा तो व्यक्ति के विकास का प्रोत्साहन समाप्त होगा और यदि व्यक्ति के विकास को प्रोत्साहन दिया जाएगा तो समानता समाप्त होगी। इन दोनों में से केवल एक ही बात होगी। इस व्यवस्था में दोनों का मेल नहीं बैठ सकता। इसी कारण पश्चिम में समानता महज एक नारा मात्र बन कर रह गई।

अब हम विचार करें कि अपने गए-बीते माने जाने वाले हिन्दू तत्वज्ञान में इस विषय में कोई विचार किया गया है कि नहीं? हमारे यहां एक विचार समाज-रचना के सम्बन्ध में था और एक विचार सैद्धान्तिक स्तर पर था। समाज रचना के सम्बन्ध में हमने यह सोचा कि हर-एक को आत्मविकास की पूर्ण प्रेरणा और प्रोत्साहन भी मिलना चाहिए। किन्तु व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक प्रोत्साहन को हमने केवल भौतिकतावादी नहीं माना। हमारे यहां भौतिकतावादी और अभौतिकतावादी, दोनों प्रकार के प्रोत्साहनों की आवश्यकता का अनुभव किया गया। भौतिकतावादी, प्रोत्साहन का तात्पर्य है पैसा या सत्ता के कारण होने वाला सुखोपभोग। अभौतिक प्रोत्साहन का अर्थ है सामाजिक प्रतिष्ठा। आज सामाजिक सम्मान एवं भौतिक सविधाओं के साथ-साथ चलने की प्रक्रिया की बारीकी को समझने में कठिनाई होती है। इन दोनों बातों का विभाजन करके विचार करें कि जहां सामाजिक प्रतिष्ठा तो है, लेकिन भौतिक सुविधाएं नहीं हैं, वहां व्यक्ति विकास के लिए क्यों प्रयास करेगा? पश्चिमी ढांचे में सोचेंगे तो इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर नहीं मिलेगा। इस प्रश्न का उत्तर हिन्दू चिन्तन और समाज रचना में निहित है। हमारे यहां सोचा गया कि ये दोनों ही प्रेरणाएं साथ-साथ रहेंगी। एक भौतिक लाभ, जिसके कारण सुख प्राप्त हो सकता है और दूसरी सामाजिक प्रतिष्ठा, जिसमें भौतिक लाभ या सुविधा और सुख नहीं, केवल प्रतिष्ठा है। फिर यह कहा गया कि भौतिक लाभ और सामाजिक प्रतिष्ठा मिलाकर हर-एक को समान प्राप्ति होनी चाहिए। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक निश्चित आकार का वृत है। इस वृत में हमने दो तरह के रंग भरे, एक लाल और एक हरा। चूंकि वृत का आकार निश्चित है और इसमें दोनों रंग साथ-साथ हैं तो यदि इसमें लाल रंग का क्षेत्र बढ़ेगा तो हरे रंगा का क्षेत्र छोटा होगा। यदि हरे रंग का क्षेत्र बढ़ेगा तो लाल रंग का क्षेत्र छोटा होगा। इसी तरह से यदि भौतिक सुख का क्षेत्र बढ़ेगा तो सामाजिक प्रतिष्ठा का क्षेत्र कम होगा और यदि सामाजिक प्रतिष्ठा का क्षेत्र बढ़ेगा तो भौतिक सुख का क्षेत्र कम होगा। किन्तु दोनों मिलकर समान होगा। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह कौन सी चीज कितनी मात्रा में ले। यदि आप सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक लेंगे तो आपको भौतिक सुख कम मिलेगा, यदि भौतिक सुख अधिक लेंगे तो सामाजिक प्रतिष्ठा कम होगी।

आज सामाजिक प्रतिष्ठा और भौतिक सुख-सुविधाएं, दोनों घुलमिल गए हैं। आज भौतिक

उपलब्धियों की विपुलता पर सामाजिक प्रतिष्ठा निर्भर करती है। इसके कारण समाज का संतुलन बिगाड़ने वाली समस्याएं निर्माण हो रही हैं। किन्तु हिन्दू-समानता वास्तविक समानता है। इसमें हर-एक को स्वतंत्रता है। सब लोग एक समान नहीं होते। अलग-अलग लोगों की अलग-अलग आकांक्षाएं होती हैं। अलग-अलग लोगों के अलग-अलग स्वभाव होते हैं, अलग-अलग रुचि होती है। हर-एक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अपनी पसंद का चुनाव कर सकता है। लेकिन भौतिक और अभौतिक प्रेरणओं के आधार पर यदि हमने अपनी पसंद का चुनाव किया तो दोनों मिलाकर समानता भी रहेगी और व्यक्तिगत प्रेरणा भी बनी रहेगी।

आज चारों ओर भयंकर स्पर्धा दिखाई देती है। लोग सोचते हैं कि स्पर्धा के कारण प्रगति हो रही है। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रगति सहयोग से होती है स्पर्धा से नहीं। स्पर्धा के विषय में हमारे यहां कहा गया है कि यदि स्पर्धा करनी ही है तो स्वयं से करो। ऐसी स्पर्धा स्वस्थ होती है। प्लूटार्क द्वारा लिखित सिकन्दर के जीवन में यह कहा गया है कि वह अपने खुद के साथ स्पर्धा करता था। वह हमेशा अधिक अच्छा बनने की कोशिश करता था। दुनिया में और कोई ऐसा नहीं था कि सिकन्दर जिससे अच्छा बनने की कोशिश करता । अतः दूसरे की तुलना में अधिक अच्छा नहीं तो खुद की तुलना में अच्छा बनने के लिए खुद के साथ स्पर्धा वास्तविक स्पर्धा है, बाकी कोई स्पर्धा स्वस्थ नहीं हो सकती।

यह स्पर्धा क्यों है? सार्वजनिक जीवन में हमें दिखाई देता है कि एक का दूसरे के साथ झगड़ा होता है। निगम की सीट उसको क्यों दे दी, मुझको क्यों नहीं दी? प्रधानमंत्री वह क्यों है, मैं क्यों नहीं हूं? भारत का राष्ट्रपति मैं क्यों न बनूं इत्यादि-इत्यादि। हर-एक आदमी में प्रधानमंत्री बनने की इच्छा क्यों हो रही हैं? इसलिए कि प्रधानमंत्री की सामाजकि प्रतिष्ठा तो है ही, उसको भौतिक सुविधाएं भी प्राप्त हैं अर्थात् प्रधानमंत्री बनने के बाद सुख-सुविधा और सामाजिक प्रतिष्ठा का क्षेत्र इकट्ठा होने के कारण सभी के मन में यह बात आती है कि मैं प्रधानमंत्री बनूं।

लेकिन मान लीजिए कि आज का प्रधानमंत्री भी वैसे ही रहा जैसे कि चाणक्य रहता था तो क्या फिर भी कोई प्रधानमंत्री बनना चाहेगा? चाणक्य के बारे में यह कहा गया है कि **"अहो राजाधिराजमंत्रिणां विभूति"** अर्थात् राजाधिराज के मंत्री के घर का यह ऐश्वर्य देखिये कि

उपलशकलमेतद् मेदकं गोमयानां।
बटुभिरूपहृनानां बर्हिणां स्तूपमेनद्।।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमानाभिराभिः।।
विनमितपटरातं दृष्यते जीर्णकुटीयम्।।

अर्थात् एक ओर गोबर के कण्डों को फोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा है और दूसरी ओर ब्रह्मचारियों द्वारा लाई हुई कुशा का ढेर। सूखने के लिए ऊपर रखी समिधाओं से जिसका छप्पर झुक गया है तथा टूटी-फूटी दीवारों से जो सुशोभित है, ऐसा है प्रधानमंत्री का आवासीय कुटीर।

यदि ऐसा नियम बन जाए कि इस प्रकार के ऐश्वर्य में ही हमारे प्रधानमंत्री को रहना है तो मैं समझता हूं कि फिर प्रधानमंत्री बनने के लिए स्पर्धा नहीं होगी। क्योंकि सारी स्पर्धा का कारण भौतिक सुविधाएं एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का साथ-साथ होना है।

दो दृश्य हमारे सामने हैं। एक तो है हमारी प्राचीन व्यवस्था का, और दूसरा है आज समानता के असफल प्रयोगों का। आइए दोनों स्थितियों का तुलनात्मक विवचेन करें।

आज हमारी प्राचीन पद्धति को इसलिए खराब बताया जा रहा है क्योंकि हमारी दशा अच्छी नहीं है। हम यह विचार करें कि क्या प्राचीन पद्धतियों को छोड़ दिए जाने के कारण गिरावट आई है या प्राचीन पद्धतियों को न छोड़ने के कारण। किसी ने गांधी जी से पूछा था कि "आप वर्ण धर्म का नाम लेते रहते हैं, क्या आप यह नहीं मानते हैं कि इस वर्ण धर्म के कारण समाज में कितने झगड़े खड़े हो रहे हैं? "महात्मा जी ने कहा, "आपकी बात सही है। बहुत परिवर्तन आया है। बहुत विकृतियां आई हैं। इनको दूर करना होगा।" अब उनसे फिर प्रश्न पूछा गया — "क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वर्ण धर्म को ही खत्म करना चाहिए?" तो महात्मा जी ने कहा, "आप रोग की शल्यक्रिया कीजिए, रोगी को मत मार डालिए।" यदि किसी को एपेंडीसाइटिस हुआ तो क्या इसका एक मात्र रास्ता यह है कि रोगी को ही खत्म कर दें? यह रास्ता नहीं है। रास्ता यह है कि एपेंडीसाइटिस (अंत्यगुच्छ) का आपरेशन करो। हमारे समाज में जो विकृतियां आई हैं, उन विकृतियों को हम शुद्ध करें। पर मूलभूत सिद्धांत रखना चाहिए।" कहने का आशय है कि हमें यह देखना पड़ेगा कि हमारे प्राचीन सिद्धांतों के कारण गड़बड़ी आई है या सिद्धांतों में जो विकृतियां आ गई हैं उनके कारण?

दूसरा शब्द उनके यहां आता है वर्गविहीनता का। सब लोगों ने कहा कि हम वर्ग नहीं चाहते। इस "वर्ग" शब्द का अर्थ क्या है? कार्ल मार्क्स ने "वर्ग" शब्द का प्रयोग बहुत ही तकनीकी अर्थ में किया है। मार्क्स ने कहा कि सम्पन्न अर्थात् पूंजीपति और विपन्न अर्थात् सर्वहारा, ये दों ही वर्ग हैं। जिनके पास उत्पादन के साधन हैं एक वह वर्ग, और जिनके पास उत्पादन के साधन नहीं है वह दूसरा वर्ग। इन दोनों में अखण्ड संघर्ष है। अब यदि इस अर्थ में देखा जाय तो भारत में वर्ग है यह कहना, या दुनिया में कई वर्ग हैं, यह कहना कठिन है। मेरी एक साम्यवादी के साथ बातचीत हुई। वे हमारे मित्र भी हैं। मैंने उनसे कहा कि "आप लोग बता रहे हैं कि पूंजीपति तथा सर्वहारा, दो परस्पर विरोधी वर्ग हैं, तो यह भी बताइए कि इन दोनों वर्गों को पारिभाषित करने की दृष्टि से सीमा रेखा क्या है, ताकि पता लगे कि उस रेखा के ऊपर के लोग पूंजीपति और नीचे के लोग सर्वहारा हैं। उन्होंने कहा कि "ऐसी कोई रेखा नहीं है। कुछ लोग पूंजीपति हैं, कुछ लोग सर्वहारा।" मैंने कहा यह तो ठीक है। लेकिन आप हमें दोनों के बीच की सीमा-रेखा बताएं, क्योंकि मेरे सामने एक व्यावहारिक असुविधा है। ये धनी और ये निर्धन, यदि हम इसी को लेकर विचार करें तो पांच रुपए कमाने वाला चपरासी कहता है कि में तो सर्वहारा हूं, लेकिन यह जो मेज पर बैठकर बाबू लिखता है, जिसको पचास रुपए मिलते हैं, वह धनी है। बाबू कहता है कि मैं तो निर्धन हूं, मेरा मैनेजर जिसको पांच सौं पांच रुपए मिलते है वह धनी है। मैनेजर कहता है कि मैं निर्धन हूं,

पांच हजार रुपए पाने वाला मेरा मालिक धनी है। मालिक कहता है कि मैं तो गरीब हूं, केवल पांच हजार रुपए ही कमाता हूं, करोड़ों रुपए कमाने वाले टाटा-बिरला धनी हैं। अर्थात् हर-एक अपने को निर्धन कहता है और दूसरों को धनी। आप मुझे बताइए कि इसमें सीमा-रेखा क्या है? कितने रुपए के नीचे पाने वाले को निर्धन कहेंगे और कितने रुपए ऊपर पाने वाले को धनी? सौ रुपए, दो सौ रुपए, पांच सौ रुपए या एक हजार रुपए, कुछ तो बताइए।" रात का समय था। उन्होंने कहा, "देखिये, कल इसके बारे में बात करेंगे।" मैंने कहा कि ठीक है। दूसरे दिन प्रातः ही आएं। मुझे पुकारा तो मैं समझ गया कि वे पूरी तैयारी करके आए हैं। कहने लगे कि "ठेंगड़ी जी! कल तो आपने हमें भ्रमित कर दिया। आपने गलत प्रश्न पूछा।" मैंने कहा कि 'कैसे?' वे बोले; "देखिये, धनी और निर्धन में आमदनी की कोई सीमा-रेखा नहीं है, सीमा-रेखा है मालिक और मजदूर की। यानी जो उत्पादन के साधनों के मालिक हैं वे सारे धनी वर्ग में हैं, और जो वहां काम करने वाले बाकी मजदूर इत्यादि हैं वे निर्धन वर्ग में हैं। मालिक और सर्वहारा के बीच यही सीमा-रेखा है।" मैंने कहा, "अब यह निश्चित हो गया है न? अब तो मैं आपको भ्रमित नहीं कर रहा।" वे बोले, "नहीं, यह सीमा-रेखा अन्तिम है।" मैंने कहा तय हो गया कि सारे मालिक एक तरफ और मजदूर दूसरी तरफ हैं। लेकिन अब मेरे सामने कुछ प्रश्न आते हैं। छोटे किसान को धनी वर्ग में गिनेंगे या निर्धन वर्ग में क्योंकि उसके पास आधा एकड़ जमीन है। चूंकि उत्पादन के साधन उसके पास हैं इसलिए वह धनी वर्ग में आएगा। दूसरी बात यह है कि आधा एकड़ जमीन में से पूरे परिवार का पालन-पोषण नहीं हो सकता, इसलिए वह दूसरों के यहां मजदूर के नाते काम भी करता है। उस समय मालिक दूसरा रहता है। इस छोटे किसान को धनी कहेंगे या निर्धन? क्योंकि आंशिक रूप से यह मालिक भी है और आंशिक रूप से मजदूर भी। मार्क्स ने तो अपने जीवन के अन्त तक इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया। अतः आप कृपया इसका उत्तर दीजिए।" वे बोले यह तो आपने केवल एक श्रेणी की चर्चा की है। मैंने कहा कि अच्छा ठीक है। अब दूसरा उदाहरण लें। हमारे यहां का एक बहुत बड़ा सेक्टर हमारा विश्वकर्मा सेक्टर है। ये स्वकर्मी हैं जैसे, बढ़ई, चमार, लोहार, नाई आदि। इनको आप क्या कहेंगे? ये तो मालिक भी नहीं हैं और नौकर भी नहीं हैं। वे स्वयं अपने मालिक और स्वयं अपने कर्मचारी हैं" उन्होंने कहा, "आपने तो चार-पांच लोगों का नाम ले लिया। मैंने कहा "ये केवल चार-पांच लोग नहीं हैं। हिन्दुस्थान के कई करोड़ लोग स्वकर्मी हैं। उनको "किस वर्ग में डालेंगे?" उन्होंने कहा "इसका विचार बाद में करेंगे।"

फिर मैंने कहा "जो मजदूर हैं, उनका विचार भी मेरे मन में आता है। मान लीजिए मैं किसी फैक्टरी में बाबू का काम कर रहा हूं। मैं दस बजे से पांच बजे तक फैक्टरी में काम करता हूं अतः वहां मैं मजूदर हूं । वहां मेरा मालिक या मैनेजर धनी वर्ग में है, और मैं निर्धन वर्ग में। लेकिन फैक्ट्री में काम करने के बाद जब शाम को पांच बजे मैं अपने मकान में आता हूं और यहां रसोई बनाने या झाड़ू लगाने के लिए रखे हुए नौकर को कहता हूं कि जरा एक कप चाय बनाओ, मैं थककर आया हूं। उस समय वह मेरा नौकर बन जाता है और मैं उसका मालिक। अब मेरी गिनती किस वर्ग में होगी? आपकी परिभाषा के अनुसार दस से पांच बजे तक आप मुझे विपन्न वर्ग में रखेंगे

और सायं पांच बजे से दूसरे दिन प्रातः दस बजे तक सम्पन्न वर्ग में। और यदि दोनों वर्गों में लड़ाई शुरू हो जाय तो मैं किधर रहूंगा? क्या दस बजे से पांच बजे तक तो मैं इधर से तलवार इत्यादि लेकर लड़ाई करूंगा और पांच से दूसरे दिन दस बजे तक उधर बन्दूक आदि लेकर लडूंगा? मेरी क्या भूमिका रहेगी?" उन्होंने कहा कि "आपने तो अपवादजनक परिस्थितियों के उदाहरण बताए हैं। मैंने कहा कि "अपवाद नहीं, ये वस्तुस्थितियां हैं, और सर्वत्र चल रही हैं।"

संक्षेप में मेरे कहने का आशय यह है कि तकनीकी दृष्टि से वर्ग नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह कवि की कल्पना मात्र है। यह बात तो ठीक है कि तरह-तरह के स्वार्थ और उनमें परस्पर विरोध भी निर्माण हो सकता है। लेकिन वर्ग नाम की वस्तुतः कोई वस्तु नहीं है। विभिन्न श्रेणियां हैं, जिन्हें समाप्त करना होगा।

लेकिन यदि हम ऐसा मान लें कि वर्ग शब्द का उपयोग समाज में अलग-अलग विभागों को बताने के लिए किया गया है तो मैं कहना चाहूंगा कि हमारे यहां भी विभाग थे। श्रम विभाजन था। जहां भी समुन्नत समाज होगा, वहां श्रम विभाजन होगा ही क्योंकि एक ही आदमी सब काम नहीं कर सकता।

अब हम इसका विचार करें कि क्या लोग कहीं वर्गविहीनता ला सके हैं? स्पष्ट है कि नहीं ला सके। जैसा मैंने कहा कि साम्यवादी देशों में भी शासक एवं शासित वर्ग है। रूस के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री ख्रश्चेव का एक लेख छपा था। उसमें उन्होंने कहा था "बचपन में भी लोगों के दिमाग में वर्ग-भेद का भाव रहता है। मेरे सामने यह समस्या है कि इसे कैसे दूर करें। रूस के विद्यालयों और महाविद्यालयों में मध्यावकाश के समय पेड़ के नीचे या और कहीं बाहर बाग इत्यादि में आपस में झुंड बनाकर लड़के बैठ जाते हैं। प्रशासकों और वैज्ञानिकों के लड़के अलग-अलग झुंड बनाते हैं और साधारण श्रमिकों और किसानों के लड़के अलग झुंड बनाते हैं। इसको कैसे दूर किया जाय?" अर्थात् रूस में वर्ग भी है और वर्ग-भेद का भाव भी है, इसे उन्होंने स्वीकार किया है। वहां भी वर्गविहीनता नहीं आई, वर्गविहीन समाज का निर्माण नहीं हुआ।

हमारे यहां वर्गविहीनता थी। यहां मैं वर्ग का तकनीकी अर्थ छोड़ रहा हूं। किंतु सामान्य अर्थ में लोग जिसको वर्ग कहते हैं, उस अर्थ में वर्ग-विहीनता यहां थी। हमारे यहां वर्गविहीनता के लिए प्रत्येक को अधिकारी नहीं माना गया था । सबको यह अधिकार नहीं दिया गया कि तुम वर्गविहीन बनो ही। लेकिन जो परिपक्व बन जाते थे जिनकी आंतरिक प्रगति हो चुकी होती थी उनके लिए हमारे यहां वर्ग-विहीनता रखी गई। इस वर्गविहीनता का दूसरा समकक्ष उदाहरण दुनिया में और कहीं नहीं मिलेगा। अधिकारी लोगों को कहा गया है तुम्हारा कोई वर्ग नहीं। तुम केवल श्रेष्ठ मानव के नाते रहो और तुम्हारी जो भी पुरानी वर्ग-भावना हो उसको छोड़ दो। (पुनः स्मरण दिला दूं कि मैं यहां वर्ग शब्द का उपयोग सामान्य अर्थ में कर रहा हूं, तकनीकी अर्थ में नहीं) सब भूल जाओ। जाति का नाम भूल जाओ। वर्ग का नाम भूल जाओ। कुल का नाम भूल जाओ। अपना भी नाम भूल जाओ। माता-पिता का नाम भी भूल जाओ। तुम संन्यासी हो। हिन्दू संन्यासी के लिए "स्वदेशो भुवनत्रयम्" होता था। अर्थात् वह त्रेलोक्य का नागरिक बन जाता है।

किसी संन्यासी के पूर्वाश्रम का आपको पता नहीं चलेगा। उसके कुल, उसकी मां, उसके पिता— किसी का पता नहीं चलता था। इस प्रकार के विश्व नागरिक स्तर पर वर्गहीनता का एक ज्वलंत आदर्श हमारे यहां था। किन्तु हर-एक मनुष्य को उस श्रेणी में नहीं लाया गया। पहले देखा जाता था कि वास्तव में उसकी आन्तरिक जागृति उस स्तर की है क्या? उसकी आत्मा का विकास उतना हुआ है क्या? समाधानकारक स्थिति में ही उनको संन्यास दिया जाता था। लेकिन एक बार संन्यासी बन गया, फिर किसी को यह पता नहीं चलता था कि वह पहले ब्राह्मण था या अनुसूचित जाति का।

कुछ विशेष शर्तों और कुछ संशोधन के साथ, कुछ पथ्य रखते हुए वर्गविहीनता का अस्तित्व और कहीं नहीं, हमारे यहां ही है।

अब तीसरी बात आती है शासन विहीनता की। साम्यवाद के प्रणेता कार्ल मार्क्स और अराजकतावाद के प्रेणता बाकूनिन आदि ने समाज की अन्तिम अवस्था — शासनविहीनता — की अवधारणा प्रस्तुत की है। साम्यवाद और अराजकतावाद की उच्चतम स्थिति में शासनविहीन समाज-रचना इच्छित और अपेक्षित है। किन्तु क्या आज ये प्रगतिशील और साम्यवादी लोग शासनविहीनता की ओर बढ़ रहे हैं? ऐसा दिखाई देता है कि उनकी प्रवृत्ति शासन को अधिक सुदृढ़ और अधिक तानाशाह बनाने की है। केवल उनकी ही ऐसी प्रवृत्ति है, यह दोष मैं उनको नहीं दूंगा। क्योंकि यदि कल मेरे भी हाथ में शासन आ जाएगा तो मेरी भी यही प्रवृत्ति बनेगी। आज मेरे हाथ में सत्ता नहीं, इसलिए मैं धर्म का प्रवचन कर सकता हूं। जो जंगल में रहता है उसका ब्रह्मचारी बने रहना कोई बड़ी बात नहीं है क्योंकि ब्रह्मचारी रहने के अलावा उसके पास कोई विकल्प ही नहीं होता। आज तो हम सब श्रेष्ठ पुरुष हैं, क्योंकि हमारे हाथ में सत्ता नहीं। इसके कारण आज हम चाहें तो भी सत्ताजन्य दोष हमारे पास नहीं आ सकते। सत्ता के कुछ वैशिष्ट्य हैं। उनमें से एक वैशिष्ट्य यह है कि उसमें आत्मचिराधिकार (सेल्फ परपीचुएशन) की इच्छा निहित होती है। "आत्म-चिराधिकार" का अर्थ है कि जिसके हाथ में एक बार सत्ता आती है, उसकी यह स्वाभिक इच्छा होती है कि वह सत्ता उसके हाथ में अखण्ड रूप से कायम रहे।

अब कोई कहेगा कि इसमें अपवाद है कि नहीं? अपवाद है, किन्तु बहुत कम। कनफ्यूशियस ने "दार्शनिक राजा" और "राजा दार्शनिक" का आदर्श रखा था कि जो दार्शनिक है, उसको राजा बनाना चाहिए और जो राजा है उसको दार्शनिक होना चाहिए। लेकिन कनफ्यूशियस अकेला पड़ गया। क्योंकि ऐसे थोड़े से ही उदाहरण हैं। रोम सम्राट डायोक्लशियन या मार्क्स आरेलियस का बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण है। वे एकदम अनासक्त थे। एक महान साम्राज्य उनकी अधीनता में था, लेकिन उनको कोई आसक्ति नहीं थी। सम्राट चार्ल्स का भी ऐसा उदाहरण है। अपने यहां जनक आदि कुछ लोग हो गए जो राजा होते हुए भी ऋषि थे। इसलिए उनको राजर्षि कहा गया।

आमतौर पर ऐसा दिखाई देता है कि जो साधु-संत या महात्मा होते हैं, अनासक्त होते हैं। वे शासक नहीं बनते, और जो शासक बनते हैं वे साधु, संत या महात्मा नहीं होते। सत्ता को टिकाए

रखने का विचार शासन के कर्तव्य-पालन से भी अधिक प्रबल होता है। इस सन्दर्भ में साम्यवादी देशों को ही दोष देना न्यायोचित नहीं होगा। यह सर्वसाधारण प्रवृत्ति है।

दूसरा वैशिष्ट्य है; सत्ता की सीमा को विस्तृत करते जाने की इच्छा सत्ताधीश की। सत्ताधीशों का सत्ता पर चिर-अधिकार न हो सके, इसके लिए यह व्यवस्था आवश्यक है कि सत्ता की सीमा वह अनियंत्रित और अनिर्बंध न बढ़ा सके। यह व्यवस्था किसी भी पश्चिमी तंत्र में नहीं है। लोकतंत्र में भी ऐसी कोई ठोस व्यवस्था नहीं है जो इस दृष्टि से बिल्कुल निश्चित रूप से सफल हो सके। मतपत्र के लोकतांत्रिक माध्यम से ही हिटलर की तानाशाही का निर्माण हुआ था। साम्यवादी देशों की तो बात ही छोड़िए।

साम्यवादियों ने यह कहा है कि हमारे यहां तो तानाशाही है तानाशाही का अर्थ होता है कि "सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, सब कुछ राज्य के लिए है, राज्य की परिधि के बाहर कुछ भी नहीं। तानाशाही आने के बाद यदि कोई यह सोचे कि राज्य अस्तित्व-विहीन होकर स्वयं नष्ट हो जाएगा तो यह गलत होगा। उसमें से शासनविहीन समाज-रचना का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आज हमारे देश में शासन का महत्व बहुत ही अधिक है। क्योंकि अपना स्वराज्य नया-नया है। हमें स्वराज्य का अनुभव बहुत दिन तक नहीं था। फिर लोकतंत्र का यह वर्तमान स्वरूप भी नया-नया है। इस लोकतंत्र में हर-एक को लगता है कि मैं शासन को बना और बिगाड़ सकता हूं, इसके कारण नई शक्तियां अपने हाथ में आई हैं। जहां चिरकाल से स्वराज्य चलता आया है, वहां के लोगों के लिए स्वराज्य एक प्रकृतिगत बात है। किन्तु ऐसे देश में जहां स्वराज्य शताब्दियों से नहीं था, नया-नया आया है, वहां के लोगों को राज्य और शासन के विषय में बहुत आकर्षण निर्माण होना स्वाभाविक बात है। इसके कारण लोगों के मन में शासन संस्था का अतिरेकी महत्व निर्माण हो सकता है।

हमारे कुछ मित्र हैं। वे कहते हैं कि "सब कुछ शासन के माध्यम से ही होगा।" अर्थात् राष्ट्र-निर्माण कार्य भी सरकार के द्वारा होगा। कुछ मित्रों ने यह भी कहा कि "संघ कार्य चलाना व्यर्थ है। १९४७ के पहले यह ठीक था। आज इसका क्या महत्व है?" मैंने पूछा, "क्यों?" इस पर वे बोले कि "अब तो स्वराज्य आ गया है।" मैंने कहा, "इससे इसका क्या सम्बन्ध हुआ?" उन्होंने कहा, "मालूम होता है कि आप आधुनिक नहीं, पच्चीस वर्ष पीछे हैं।" मैंने कहा, "क्यों?" वे बोले, "आपको पता नहीं कि स्वराज्य आ गया, लोकतंत्र आ गया, अब तो सब काम राज्य के द्वारा ही होगा। अब इस सारे 'दक्ष-आरम' की क्या आवश्यकता है? इसे सरकार पर छोड़िए।" मैंने कहा, "इसका नतीजा क्या होगा? क्या आपने इसके बारे में सोचा है? यदि हम हर दायित्व सरकार को सौंप देते हैं तो फिर हर चीज में सरकार का अधिकार भी मान्य करना होगा। और यदि राष्ट्र-निर्माण का कार्य भी सरकार के माध्यम से ही होने लगेगा तो फिर सरकार तानाशाह बन जाएगी। क्या हम इस अवस्था को पसन्द करते हैं?" मैंने कहा, "इससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राष्ट्र को जीवित रहना है या मरना है?" तो उन्होंने कहा, "इसमें जीने या मरने का प्रश्न ही कहां आता

है?" मैंने कहा, जरा दूरदृष्टि से विचार करेंगे तो इसमें यह प्रश्न नजर आएगा। इतिहास की प्रक्रिया हमें बताती है कि राज्य और राष्ट्र के परस्परं क्या सम्बन्ध रहे? यदि आज हम हिन्दुस्थान के बाहर की दुनिया का इतिहास देखेंगे तो ऐसा दिखाई देगा कि कई राष्ट्र निर्माण हुए, विकसित हुए विकास की चरम सीमा तक पहुंचे। हम जानते हैं कि किसी भी कालखण्ड में भौतिक प्रगति की जो चरम सीमा होती है उसका संकेत करने के लिए सभ्यता शब्द का उपयोग किया जाता है। किसी भी एक कालखण्ड में भौतिक प्रगति या साधनों की चरम सीमा जिस राष्ट्र ने प्राप्त की होती है उस राष्ट्र का नाम विश्व सभ्यता को दिया जाता है। इस दृष्टि से जिनका नाम विश्व सभ्यता को भिन्न-भिन्न कालखण्डों से प्राप्त हुआ, भौतिक प्रगति की दृष्टि से जिन्होंने दुनिया का नेतृत्व किया, ऐसे कई राष्ट्र अतीत केअंधकार में समाकर नष्ट हो गए। वह खाल्दिया कहां है? बेबीलोनिया कहां है? असीरिया कहां है, फारस कहां है? सुकरात का यूनान कहां है? आज का जो यूनान है, वह सुकरात का उत्तराधिकारी नहीं। वह जूलियस सीजर का रोम कहां है? आज का इटली जूलियस सीजर के रोम का उत्तराधिकारी नहीं। फारोआ राजाओं का मिश्र कहां है? आज का मिश्र फाराओ राजाओं के मिश्र का उत्तराधिकारी नहीं है। मिश्र, रोम, ग्रीस, फारस, खाल्दिया, बेबीलोनिया, असीरिया आदि सभी राष्ट्र एक समय इतने उन्नत थे तो फिर वे नष्ट क्यों हो गए? उसके कारण की खोज करेंगे तो सबके इतिहास में एक समान बात दिखाई देगी कि उनकी समाज संरचना में शासन संस्था का महत्व बढ़ गया था समाज का जीवन शासनाभिमुख हो गया था सम्पूर्ण समाज-जीवन का प्रवाह शासन के इर्दगिर्द बहने लगा था। ऐसी अवस्था में, चाहे आन्तरिक विघटन के फलस्वरूप हो या बाह्य आक्रमण के फलस्वरूप, किसी भी कारण से क्यों न हो, जैसे ही यह शासन संस्था टूटी है, वैसे ही उसके सहारे चलने वाला समाज जीवन नष्ट हो गया है। जिस तरह पेड़ के सहारे बेल ऊपर चढ़ती है और किसी कारण पेड़ नीचे गिर जाता है तो उसके सहारे चढ़ी हुई बेल भी गिर जाती है, उसी तरह यदि समाज-जीवन शासनाभिमुख, शासनावलम्बी, शासन केन्द्रित रहा तो किसी भी कारण से जब शासन टूटता है तो वह राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रक्रिया में खल्दिया, बेबीलोनिया, असीरिया, रोम, ग्रीस, मिस्र और पारस नष्ट हुए।"

इस संदर्भ में भी हिन्दुस्थान का राष्ट्र-जीवन बड़ा विचित्र रहा है, वह शासनावलम्बी या शासन केन्द्रित कभी नहीं रहा। यहां स्वायत्त अर्थात् स्वयंशासित रचना रही। शासन चाहे जिसका रहा हो, हमारा समाज जीवन सतत् चलता रहा। हर-एक व्यक्ति और हर-एक व्यक्ति-समूह के नियमों का पालन अक्षुण्ण चलता था। पराए लोगों ने यहां आक्रमण किए, यहां अपना शासन चलाया तो उनके शासन में रहते हुए भी हमारे व्यक्ति-धर्म और व्यक्ति-समूहों के धर्म में व्यवधान नहीं आया। यहां का स्वायत्त-स्वयं-शासित-समाज जीवन अक्षुण्ण चलता रहा।

हिन्दुस्थान के बाहर यह माना गया है कि शासन साध्य है और समाज साधन है। किन्तु हिन्दुस्थान में सदा यह माना गया कि समाज साध्य है और शासन उसके अनन्त साधनों में से एक साधन है, इससे अधिक नहीं। अतएव यहां समाज शासनाभिमुख, शासनावलम्बी, शासन केन्द्रित

नहीं रहा, बल्कि शासन समाजाभिमुख, समाजावलम्बी एवं समाज केन्द्रित रहा। इसी कारण यहां शासन आए और शासन गए, किन्तु समाज का जीवन अक्षुण्ण चलता रहा। अंग्रेजी में "ब्रुक (निर्झर)" नामक एक कविता है। उसमें निर्झर कहता है—

Men may come and men may go

But I go on for ever.

— अर्थात् मनुष्य आते हैं और चले जाते है, किन्तु मैं सदा-सर्वदा चलता रहता हूं।" इसी प्रकार हमारा कहना है कि शासन आएंगे और नष्ट हो जाएंगे, किन्तु यह हिन्दू राष्ट्र, यह हिन्दू समाज सनातन काल से चलता आया है और चिरकाल तक चलता रहेगा।

राष्ट्र और राज्य या समाज और राज्य के क्या सम्बन्ध रहे, यह केवल मतदान का प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्र को चिरंतन रहना है, या खाल्दिया और बेबीलोनिया की सूची में शामिल होना है ताकि इतिहास में यह लिखा जाय कि "किसी समय हिन्दू राष्ट्र था।" यदि हम इस अवस्था को चाहते हैं कि यह हिन्दू सनातन है पहले भी था, आज भी है और सदा रहेगा, तो राष्ट्र और समाज-जीवन के शासन निरपेक्ष और स्वायत्त अर्थात् स्वयंशासित होने की आवश्यकता होती है। इसके अनन्त साधनों में से एक साधन के नाते शासन रहे, इससे अधिक नहीं। नहीं तो राष्ट्र चिरंतन नहीं हो सकता, और यह भी "कभी था" में शामिल हो जाएगा।

साम्यवाद ने अपने सामने शासन-विहीनता का आदर्श तो रखा है किन्तु सत्ता के जो अंगभूत दोष हैं उनके बारे में कोई अवरोध और प्रतिसंतुलन का पूरा और प्रभावी विचार नहीं किया। आत्म-चिराधिकार और अधिनायकवादी निरंकुश प्रवृत्ति, दोनों का हमारे पुराने लोगों ने, उनको प्रगतिशील भले ही न कहा जाय, विचार किया और बहुत से अवरोध और प्रति-संतुलनों की व्यवस्था भी की। एक तो हमारे यहां शासन संस्था को कभी सर्वोच्च माना ही नहीं गया। हमारे यहां समाज का नेतृत्व शासन ने कभी नहीं किया। फिर जो लोग शासन का नेतृत्व करने वालों में थे, उनके कुछ विशेष गुण थे। उनका अपना कोई वर्ग नहीं, कोई श्रेणी नहीं, कोई गुट नहीं, कोई धड़ा नहीं था। वे अयं निजः परोवेपित्त, गणना लघु चेतसाम् उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" के प्रतीत थे। यह मेरा है, यह पराया है— यह निम्न भाव उनके मन में नहीं होता था। वे ऐसे लोग थे जिन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च स्थिति प्राप्त थी जो सम्पूर्ण समाज और सम्पूर्ण मानवता का विचार कर सकते थे। सभी बातों का सम्यक् संतुलित विचार करने के लिए आवश्यक आत्म-प्रगति कर चुके होते थे। वे भौतिक बातों को तुच्छ समझते थे। इसलिए नहीं कि भौतिक बातों की प्राप्ति उनके लिए असंभव थी बल्कि भौतिक बातों को प्राप्त करना तुच्छ बात है ऐसा समझकर वे इधर से मुंह मोड़कर जंगलों और गिरि-गह्वरों में वास करते थे। ये लंगोटी लगाने वाले लोग थे। ऐसे वर्गविहीन लोग, जिनके पास अर्थसत्ता नहीं, शासकीय सत्ता नहीं, समाज के नेता होते थे। समाज का विधान बनाने का काम राजा के हाथ में नहीं, उन लंगोटी वालों के हाथ में था। उन्होंने ही समाज का विधान बनाया। विधान में सबके लिए उनका अपना-अपना कर्तव्य

बताया। शासन संस्था के लिए भी कर्तव्य भी निर्धारण किया। उसे राजधर्म कहा गया। जिसके हाथ में शासन नहीं, जो पंचायत परिषद का भी अध्यक्ष नहीं, वह सम्राट को बताता था कि तुम्हारा क्या कर्तव्य है। समाज की नैतिक सत्ता एक ओर, और शासन सत्ता दूसरी ओर। अर्थसत्ता एक ओर, समाज बल दूसरी ओर। इस प्रकार सत्ता का विभाजन किया गया और इस विभाजन में नैतिक सत्ता को सर्वोच्च माना गया। कितना सर्वोच्च? इसकी तो आज कल्पना करना भी कठिन है।

मैं जब महाविद्यालय में पढ़ता था तो एक उदाहरण आया कि रामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होने जा रहा है। वशिष्ठ नामक कोई लंगोटी वाला उनको बताता है कि "देखो, तुम्हारा राज्य तुम्हारे हाथ में आएगा, किन्तु जरा संभलकर काम करना।" त्वं बाल एवासिनेव च राज्यमं।" "नवंम्, च राज्यं" का अर्थ है प्रशासन तुम्हारे लिए नया है। अब "त्वं बाल एव असि" है। संस्कृत में बाल शब्द के दो अर्थ होते हैं। बाल का अर्थ छोटा और मूर्ख, दोनों होता है। होने वाले राजा को यह लंगोटी वाला बताता है कि तू बाल है अर्थात् मूर्ख भी है और बच्चा भी है। यह प्रशासन का शास्त्र तुम्हारे लिए नया है, अतः जरा संभलकर काम करो, "तो उस समय भी मेरे साथ बैठे हुए मेरे सहपाठी ने कहा था कि "क्यों जी! क्या आज किसी के मन में ऐसा कहने का साहस हो सकता है?"

यह विभाजन कितना प्रभावी था। इसका एक और उदाहरण है। कुछ पराक्रमी राजा अपना पर्याप्त राज्य विस्तार कर लेते थे तो उनका अभिषेक चक्रवर्ती राजा की तरह होता था। चक्रवर्ती का अभिषेक पूरा होने की एक अन्तिम प्रक्रिया होती थी। जनता का दरबार बैठता था। वह चक्रवर्ती अपने साम्राज्य सिंहासन पर विराजमान होता था। उसके पास, हाथ में पलाश दण्ड लेकर, एक लंगोटी वाला खड़ा होता था। चक्रवर्ती होने वाला सम्राट सबके सामने तीन बार कहता था। **"अदण्डयोऽस्मि, धर्म अदण्डयोऽस्मि"** अर्थात् मुझे कोई सजा नहीं दे सकता। उसके बाद वह लंगोटी वाला तीन बार पलाश-दण्ड उसकी पीठ पर मारकर कहता था **"धर्म दण्डयोऽसि, धर्म दण्डयोऽसि, धर्म दण्डयोऽसि"**— अर्थात् तुम अदंड्य नहीं हो, धर्म तुम्हें दण्ड दे सकता है। इसके बाद ही उसके चक्रवर्तित्व का अभिषेक पूरा हुआ माना जाता था।

हमारे यहां शक्ति-विभाजन, अवरोध एवं संतुलन का विधान था। इसके कारण राजा को मुख्य कार्यकारी अधिकारी से अधिक और कुछ नहीं माना गया था। उस समय का राजा केवल प्रजानुरंजक होता था। यह कहा गया है कि वह "षष्ठांश भोगी भृत्य है, स्वामी नहीं।" अर्थात् आप का छठा भाग वेतन के रूप में ग्रहण करने वाला मृत्य है, स्वामी नहीं।

इस विषय में एक सज्जन ने कहा कि "शासन को अत्यधिक महत्व देने का एक विशेष कारण है।' मैंने कहा, "जिसके हाथ में सदा से स्वराज्य रहा, उनको तो इसका अत्यधिक महत्व लगता नहीं।" वे बोले, "बहुत दिनों तक स्वराज्य अपने हाथ में नहीं था, अब यह नया-नया मिला है, इसलिए इसका महत्व अधिक है।" उन्होंने उदाहरण दिया कि जिसका स्वाभाविक अवस्था में विवाह हो जाता है, वैवाहिक जीवन के बारे में उसकी आसक्ति साधारण होती है। लेकिन जो बहत दिनों तक जबर्दस्ती ब्रह्मचारी रहते हैं और जिनका विवाह बहुत देरी से होता है उनके मन में वैवाहिक जीवन के बारे में आसक्ति असाधारण होती है। राज्य के बारे में भी जो असाधारण

आसक्ति दिखाई देती है, उसका भी यही कारण होगा।

प्राचीनकाल के जीवन-मूल्यों का हम आज विचार करें तो कल्पना करना भी कठिन होता है। हम रघुवंश के बारे में जो कुछ सुनते हैं, वह केवल रघुवंश की ही बात नहीं बल्कि सभी पर लागू होती थी कि —

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
बार्धक्येमुनिवृत्तिनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

यानी सारा शासन इत्यादि जुटाने के बाद वार्धक्य आ गया तो वानप्रस्थाश्रम ले लिया। सब छोड़ दिया। अब कल्पना कीजिए कि यदि यह वानप्रस्थाश्रम का नियम प्रचलित हो जाय तो इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। अगर यह हो जाय कि चाहे उद्योगपति हो, चाहे राजनीतिज्ञ, एक विशेष समय के बाद सबको वानप्रस्थाश्रम लेना होगा। और यदि ऐसा हुआ तो क्या यह प्रतियोगिता बहुत कम नहीं हो जाएगी?

इसके फलस्वरूप कई विचित्र उदाहरण अपने देश में मिलते हैं। भरत को ही लें। उसको शासन मिल गया, किन्तु वह हाथ में आया हुआ राज्य अपने बड़े भाई को समर्पण करने के लिए अपनी सेना इत्यादि लेकर पैदल चित्रकूट जाता है। कोई भी सामान्य राजनीतिज्ञ इसको मूर्खता कहेगा। वह कहेगा, "अरे भाई, हम तो राष्ट्रपति बनने के लिए इतना परिश्रम करते हैं और तुम्हारे हाथ में राज्य आ जाने पर तुम उसको दूसरे के हाथ में देने के लिए इतना लम्बा प्रवास करके जा रहे हो?" कोई सामान्य मनुष्य भी आज इतनी मूर्खता का व्यवहार नहीं करेगा? लेकिन यह व्यवहार हमारे यहां हुआ है।

एक उदाहरण गुरु गोविन्द सिंह का भी है। वे जिस समय राजनीति में आए या उनको जब राजनीति में आना पड़ा, तो उन्होंने भगवान से कहा (उस समय उनको शासन भी चलाना पड़ा, वह योद्धा और शासक भी थे) "भगवान! तुमने मुझे इस राजनीति में क्यों डाला? मुझे इस खेड़ा परिवार में क्यों डाला? यहां तो मेरा मन लग नहीं रहा।"

आप सबको हीर और रांझा की कहानी मालूम होगी। उस लड़की का विवाह खेड़ा परिवार में किया गया था। उसका मन वहां नहीं रमता था। इसलिए पंजाबी में गीत है, उसमें वह लड़की कहती है कि "मुझे क्यों खेड़ा परिवार में डाला है। मेरा मन वहां है, यहां नहीं।" गुरु गोविन्द सिंह जी ने राजनीति के बारे में कहा है कि "मुझे क्यों इस खेड़ा परिवार में डाला।" मैं नहीं समझता कि आज कोई ऐसा कहने की मूर्खता करेगा। आज तो अधिकतर लोग इसी खेड़ा परिवार में आना चाहते हैं।

छत्रपति शिवाजी का भी एक उदाहरण है। उन्होंने राज्य प्राप्त किया और फिर उनके दिमाग में क्या सनक आ गई कि जैसे ही समर्थ स्वामी रामदास भिक्षा मांगने आए तो उन्होंन चिट्ठी लिखकर उनकी झोली में डाल दी कि अपना राज्य आपको अर्पण करता हूं। समर्थ रामदास जी के सामने यह प्रश्न आया कि "यह राज्य अर्पण कर रहा है, किन्तु मेरा तो यह धंधा नहीं है, मैं इसे

कैसे चलाऊं?" अन्त में मध्यम मार्ग निकला कि "ठीक है, तुम भी राजा नहीं, मैं भी राजा नहीं। यह भगवा ध्वज अपना राष्ट्र ध्वज है। इसके प्रतिनिधि के रूप में तुम शासन चलाओ।"

अपना अर्जित राज्य एक संन्यासी की झोली में डालने के लिए कितना पागलपन आवश्यक है, इसका हम विचार करें। यह अपनी परम्परा से आया हुआ पागलपन है।

महाभारत में एक बहुत अच्छा उदाहरण आता है। महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। तत्पश्चात् धृतराष्ट्र वन में जाने के लिए निकले। गांधारी ने भी जाने की तैयारी की। पांचों पांडव हाथ जोड़कर खड़े हो गए। कहने लगे, "चाचा जी! जो हो गया सो हो गया। दुर्योधन मानता ही नहीं था। आपकी भी नहीं मानता था, हमारी भी नहीं मानता था। इस सबके परिणामस्वरूप हमारा सम्पूर्ण क्षय हो गया। लेकिन अब जो अवस्था आई है, इसमें आप भी चले जाएंगे तो हमारा क्या होगा? हमारे परिवार में आपके अतिरिक्त और कौन ज्येष्ठ है? आप ही तो हमारे सब कुछ हैं।" धृतराष्ट्र ने कहा, "ठीक है बेटा! तुम्हारी इस भावना को मैं समझता हूं। लेकिन मेरे लिए जंगल में जाना ही अच्छा है।"

जब उन्होंने जंगल में जाने का निश्चय कर लिया तो माता कुन्ती ने भी अपना बौरिया-बिस्तर बांधना शुरू किया। युधिष्ठिर सहित पांडवों ने माता को कहा, "यह तो बड़ी अजीब बात है। हम पांचों तो लड़ाई ही नहीं करना चाहते थे। जो कुछ हमें मिल जाता, उसी में अपना जीवन बिता लेते। तुम्हीं ने हमको राज्य प्राप्ति के लिए लड़ाई करने को बाध्य किया, प्रोत्साहित किया, प्रेरित किया। अब जब राज्य प्राप्त हो गया है, तब हे माता! तुम जंगल में जा रही हो, यह क्या है?

कुन्ती ने कहा, "यह बात सही है कि तुम्हारी युद्ध करने की इच्छा नहीं थी। मैंने तुमको राज्य प्राप्ति के लिए लड़ने को प्रोत्साहित किया। किन्तु तब मेरा और तुम्हारा वही कर्तव्य था। यदि तुम कर्तव्य के नाते राज्य प्राप्त न करते, तो उसका अर्थ यह होता कि तुमने कर्तव्य-पालन में भूल की है अतः अपने धर्म, अपने कर्तव्य के पालन और राज्य प्राप्ति के लिए लड़ाई लड़ने को मैंने तुमको प्रोत्साहित किया। किन्तु मैं अपने पुत्रों के राज्य का उपभोग करूंगी, यह भावना मेरे मन में न तब थी न अब है। उस समय राज्य प्राप्ति के उद्देश्य से लड़ाई के लिए तुमको प्रोत्साहित करना मेरा धर्म था। वह धर्म के अनुकूल था और अब जब धृतराष्ट्र वन में जाने के लिए निकले हैं तो उनके साथ वन में जाना मेरा धर्म है, इसलिए मैं उनके साथ जा रही हूं।

हम सोचें कि यदि हम लोग कुन्ती के स्थान पर होते तो क्या ऐसा व्यवहार करते?

भीष्म, युधिष्ठिर को बताते हैं कि एक समय ऐसा था जब राज्य जैसी कोई संस्था नहीं थी। **"न राज्यं नैव राजासीन्न दण्ड्यो न च दाण्डिकः"** — अर्थात् राज्य नहीं था, राज्याधिकारी नहीं थे। दण्डनीय तथा दण्डकर्ता, दोनों नहीं थे। मतलब यह है कि जेल नहीं थी, मजिस्ट्रेट नहीं थे, न्यायालय नहीं थे। कुछ नहीं था। **"तेषां नासीत् विधातव्यम्"** उस समय कोई विधान भी नहीं बना था। कोई यह नहीं कह सकता था कि तुमने अमुक धारा का उल्लंघन किया है, अतः उच्चतम

न्यायालय चलो। "तेषां नासीत् विधातव्यं प्रायश्चितं कथं च न "। कोई अनुशानात्मक कार्यवाही का प्रावधान नहीं था। उन्होंने यहां तक कहा कि मृत्युदण्ड भी नहीं था। "पुरा धिग्दण्ड एवा सीद्, वधदण्डोऽद्य न वर्तते"। आज वधदण्ड है, उस समय नहीं था। तो क्या था? धिक् दण्ड था, यानी केवल जनधिक्कार ही दण्ड था। लोगों के द्वारा "धिक्" कहना ही उस समय सबसे बड़ा दण्ड था। लेकिन इस प्रकार शासनविहीनता कैसे चली थी? इस पर उन्होंने कहा—

"न राज्यं राजाऽसीन्न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम् ।।

अर्थात् तब धर्म के आधार पर लोग एक दूसरे की रक्षा करते थे। एक दूसरे को साथ लेकर चलते थे। आधार धर्म था, राज्य नहीं। हिन्दुओं की विशेषता यह है कि इस समाज की धारणा धर्म के आधार पर है, सरकार के आधार पर नहीं। सरकार धर्म के विभिन्न साधनों में से एक साधन हो सकती है किन्तु उसके आधार पर समाज की धारणा नहीं होती।

धर्म का अर्थ क्या है? इसका बहुत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। समाज की धारणा करने वाले विधान को धर्म कहा गया है। इसी धर्म के आधार पर हमारे यहां शासन-विहीन समाज की रचना की गई थी।

प्रश्न यह है कि यदि अपना समाज फिर से निर्माण करना हो तो कौन सा आधार लिया जा सकता है? इसका विचार हमारे यहां किया गया है कि समाज निर्माण का आधार है धर्म।

धर्म को सर्वोच्च मानने के कारण ही हमारे यहां कभी शासनविहीन समाज था और इसी आधार पर बाद में भी कभी शासन विहीन समाज हो सकता है। पश्चिमी देशों में शासनविहीनता नहीं आ सकती। अधिनायकवाद के द्वारा शासनविहीन समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। धर्म के अभाव में मात्स्य न्याय आता है, जहां बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है।

हमने देखा कि पश्चिम के विचारकों के मन मे शासनविहीनता की स्थिति का विचार तो है किन्तु उनके पास शासनविहीनता लाने वाला कोई आधार नहीं है। हमारे यहां इसको "धर्म" का प्रबल आधार दिया गया है। हमारे यहां राजनीति को धर्म का एक साधन माना गया। इसके कारण इतिहास में हम कुछ ऐसे विचित्र वक्तव्य पढ़ते हैं कि जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते कि इस तरह कैसे बोला गया होगा। मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे बोलने वाले लोग वस्तुतः होश में थे? इस प्रकार के कई उदाहरण अपने यहां हैं।

छत्रपति शिवाजी चन्द्रराव मोरे को, जो बीजापुर के बादशाह का सरदार था, अपने पक्ष में लाना चाहते थे। चन्द्रराव मोरे यह समझते थे कि उनका खानदान बड़ा है। शिवाजी ने उनको पत्र लिखे। उनको कहा कि तुम भी इस स्वराज्य के प्रयास में कंधे से कंधा लगाकर खड़े हो जाओ। चन्द्रराव ने कहा कि कहां तुम, कहां मैं? हम तुमसे श्रेष्ठ हैं। हमकों राजा की पदवी बादशाह ने मेहरबान होकर दी है।" स्मरण रहे, शिवाजी को किसी बादशाह ने राजा की उपाधि दी नहीं थी, क्योंकि वे राज्याश्रय पर चलने वाले सरदार नहीं थे। शिवाजी ने उत्तर दिया, "तुम्हें राजा की

उपाधि बादशाह ने दी होगी, हमें तो यह राज्यत्व श्री शंभु ने दिया है।" यह पागलपन ही है न! कौन है वह श्री शंभु? किसने देखा है उसको? उसने राज्य दिया तो कैसे दिया? कब दिया? कब देने के लिए आया था? देने की क्या पद्धति थी? उसकी लिखा-पढ़ी है क्या? लेकिन शिवाजी ने कहा कि "यह राज्य हमें श्री शंभु ने दिया है।"

अपने एक दूसरे साथी को लिखे पत्र में शिवाजी कहते हैं, "हिन्दवी स्वराज्य होना चाहिए, ऐसी भगवती की प्रबल इच्चा है।" वे यह नहीं कहते कि मेरी इच्छा है। यह भी नहीं कहते कि भोसले कुल की इच्छा है। यह नहीं कहते कि हमारे प्रान्त की इच्छा है। कहते यह हैं कि भगवती की इच्छा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि भगवती ने कब इच्छा व्यक्त की और उनको कैसे पता चला? हमारी राजनीति में क्या होना चाहिए, इससे भगवती का क्या सम्बन्ध? लेकिन शिवाजी ने कहा "भगवती की ऐसी इच्छा है कि हिन्दवी स्वराज्य होना चाहिए।" यह सर्वविदित है कि उनका सम्पूर्ण प्रयास धर्म का आधार लेकर हुआ। इसी कारण राज्य संचालन की बातों में व्यक्तिगत आसक्ति हमारे यहां के किसी भी श्रेष्ठ पुरुष में नहीं दिखाई देती।

शिवाजी को कुछ यश प्राप्त हुआ तो उनके गुरु समर्थ रामदास ने संतोष प्रकट किया। किन शब्दों में उन्होंने अपना संतोष प्रकट किया, यह आज हमारे ख्याल में भी नहीं आ सकता। वास्तव में सीधी-सादी बात थी कि 'औरंगजेब का राज्य हट गया, मेरा राज्य आ गया। किन्तु रामदास जी ने ऐसा नहीं कहा। उनकी शब्द-रचना बहुत अच्छी है। उन्होंने यह नहीं कहा कि "विरोधी दल वाला नष्ट हुआ है।" बल्कि यह कहा कि "पापी औरंगजेब नष्ट हुआ है। अभक्तों का क्षय हुआ है। अधर्म नष्ट हुआ है। धर्म की स्थापना हुई है।" और फिर यह कहा कि "त्रिखण्ड में सेनाएं चारों ओर संचार कर रही हैं।" किसकी? हरिभक्तों की सेनाएं। यह नहीं कहा कि मेरी पार्टी वाले त्रिखण्ड में जा रहे हैं। उन्होंने उस समय सारी राज्य क्रांति की फलश्रुति बताते हुए कहा, "अब स्नान-संध्या करने के लिए विपुल पवित्र वायु, भूमि और जल प्राप्त हो गया है।"

आज के लोग कहेंगे कि यह भी कोई बात हुई। यदि संतोष ही व्यक्त करना था तो यह कहते कि यश प्राप्त हुआ, पद या महत्व प्राप्त हुआ। किन्तु वे यह बता रहे हैं कि सारी राज्य क्रांति के फलस्वरूप स्नान-संध्या के लिए पवित्र भूमि और जल मिल गया। राज्य क्रांति करने वाले शिवाजी और आशीर्वाद देने वाले रामदास, दोनों की मनोभूमिका यही थी। हमारे सम्पूर्ण इतिहास में यह भावना भरी पड़ी है।

इस भावना की प्रतिष्ठापना यदि समाज में है तो शासन-विहीनता की ओर जाने में अधिक दिक्कत नहीं होगी, लेकिन जहां अधिनायकवाद है, सब कुछ राज्य के लिए, सब कुछ राज्य के अन्तर्गत, राज्य के बाहर कुछ नहीं है, वहां राज्य की परिसमाप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अब राष्ट्र निर्माण करने का हमें पुनः अवसर मिला है। खण्डित भारत का ही क्यों न हो, किन्तु राज्य अब अपने हाथ में आ गया है। हम स्वयं ही अपने भाग्य-विधाता हो सकते हैं। अतएव हमें

यह विचार करना होगा कि यहां किस प्रकार की समाज और शासन की रचना की जाय।

यदि किसी का नमूना देखकर हम अपनी रचना कर सकते तो काम बड़ा आसान हो जाता। नमूने के लिए आज के नम्बर एक और नम्बर दो के राष्ट्रों का विचार हमने किया। दुःख की बात यह है कि वे आकाश में चन्द्रमा पर तो जा पहुंचे हैं, लेकिन अपने विश्वविद्यालयों में असंतोष और विद्रोह को नहीं रोक सके, लोगों का हिप्पी बनना नहीं रोक पाए। साम्यवाद एवं अराजकतावाद का भी हमने विचार किया, लेकिन संतोष वहां भी दिखाई नहीं देता। अपने सिद्धांत से पीछे और अधिक पीछे हटते जाने की प्रवृत्ति हम वहां भी देख रहे हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अपना राष्ट्र निर्माण करने के लिए कोई तैयार मॉडल हमारे सामने उपस्थित नहीं है।

पश्चिम के प्रगतिशील लोगों ने जो कुछ आदर्श अपने सामने रखे, उनको वे चरितार्थ नहीं कर सके।किन्तु उनको चरितार्थ करके दिखाने का काम हमारे समाज ने कभी किया है, यह भी हमने देखा। हम विचार करें कि हमारी गिरावट, हमारी परम्परा, धर्म, संस्कृति के कारण है या उनको छोड़ने के कारण है? हमारे अन्दर कुछ विकृतियां आ गईं, विकृतियां आने के कारण की तलाश करेंगे तो हम पाएंगे कि लगभग बारह सौ वर्ष तक हम युद्ध की स्थिति में थे। विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध सम्पूर्ण देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक हम निरंतर युद्धरत रहे। युद्धकाल में वे सभी बातें नहीं हो सकतीं जो सामान्य शांतिकाल में होती हैं। इसके कारण समाज में कुछ विकृतियां आ गई हैं। इन विकृतियों को दूर करते हुए, अपनी मूल बात को हृदय में धारण करके क्या हम आगे नहीं बढ़ सकते?

इस दृष्टि से हमें पूर्ण विचार करना होगा। संसार के सभी वादों का अध्ययन हम करें और अपनी भी संस्कृति एवं परम्परा का चिंतन करें। अध्ययन सभी पद्धतियों का होना चाहिए, किन्तु किसी का भी अंधानुकरण करना हमारे हित में नहीं है। यह आवश्यक है कि सनातन काल से राष्ट्र रचना का आधार बना हुआ "धर्म" भी हमारे गहन चिंतन का विषय बने। इन सब बातों की पृष्ठभूमि पर अपने राष्ट्र के पुनर्निर्माण के विषय में अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा के आधार पर निर्णय करें। □

१६. हिन्दू परम्परा का संदर्भ

१९ फरवरी, सन् १६३०.

काल की कोख से ज्योति-श्लाका का प्रस्फुटनः वह भाग्यशाली दिन, जिसने इतिहास के एक अद्वितीय व्यक्तित्व शिवाजी को इस धर्मभूमि पर अवतीर्ण किया — शून्य से सृष्टि का निर्माण करने वाले कर्तृत्व के सूत्रपात का पावन दिवस।

संसार के गुण-सम्पन्न अनेकानेक महापुरुषों की शिवाजी से तुलना की जा सकती है : सेना संचालन की दृष्टि से सिकन्दर, सीजर, हानिबाल और नेपोलियन; दारुण निराशा की घड़ियों में जनता का मनोधैर्य टिकाए रखने की क्षमता की दृष्टि से लिंकन और चर्चिल; प्रखर राष्ट्रभाव को जाग्रत और संगठित करने में मैजिनी, वाशिंगटन तथा बिस्मार्क ; राष्ट्र-निर्माण-कार्य में आत्मविसर्जन की दृष्टि से कमालपाशा और लेनिन; आसक्ति रहित शासन करने में मार्क्स आरेलियस तथा चार्ल्स पंचम।

किन्तु सम्पूर्ण गुण समुच्चय की दृष्टि से शिवाजी की तुलना किससे करें? कल्याण के सूबेदार की लावण्यमयी पुत्रवधू को मातृवत् सम्मानित करने वाले छत्रपति के चरित्र की तुलना हम अन्य किस सत्ताधीश से करें?

माओ और चे-ग्वेवारा से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व शिवाजी ने गुरिल्ला युद्धतंत्र का निर्माण किया। नेपोलियन और हिटलर के मास्को अभियान के अनुभवों के सैकड़ों वर्ष पहले, युद्ध के दौरान संभाव्य आपत्काल में आश्रय स्थान के नाते, सुदूर दक्षिण में उपयुक्त प्रदेश सम्पादित करने की दूरदर्शिता उन्होंने दिखायी। शास्त्र के नाते "जिओपोलिटिक्स" का विकास होने के २५० वर्ष पूर्व उन्होंने सागरीय सत्ता का सूत्रपात प्रयासपूर्वक किया। इतिहास के जिस कालखण्ड में "सेक्यूलर" राज्य की कल्पना पश्चिम में लोकप्रिय नहीं थी, उस समय शिवाजी ने हिन्दू परम्परा के अनुकूल सम्प्रदाय निरपेक्ष धर्मराज्य की स्थापना की।

अपने कर्तृत्व से सम्पादित राज्य के प्रति पूर्ण अनासक्ति, आध्यात्म-प्रवण होने के कारण अर्जित राज्य छोड़कर संत तुकाराम के समक्ष हरि-संकीर्तन में ही शेष जीवन व्यतीत करने की

इच्छा प्रकट करना। एक अन्य अवसर पर तो उन्होंने अपना सम्पूर्ण राज्य ही समर्थ गुरु रामदास स्वामी के चरणों में समर्पित कर दिया था।

६ जून, १६७४ के दिन सम्पन्न हुआ शिवाजी का राज्यारोहण किसी व्यक्ति का नहीं, धर्म का राज्यारोहण माना गया। हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना, हिन्दू राष्ट्र के सफल प्रत्याक्रमण और हिन्दू संस्कृति के पुनरुत्थान, और विश्व-धर्म की पुनः प्रतिष्ठापना की घोषणा थी।

सनातन काल से हिन्दू राष्ट्र ने जिस आदर्श का संगोपन किया, वही आदर्श मानव रूप धारण कर सिंहासनारूढ़ हो रहा है, यही भावना जनमानस में उस समय थी। स्वयं शिवाजी ने भी समय-समय पर इसी धारणा का उद्घोष किया—

"हिन्दवी स्वराज्य स्थापन होना चाहिए, यह श्री भगवती की इच्छा है। राज्य धर्म का है, शिवबा का नहीं।"

यह तीन सौ साल पूर्व की घटना है। हिन्दुस्थान में चारों ओर पराये आक्रामकों का राज्य; साम्राज्य और धर्म पर आक्रमण; हिन्दुओं में आत्मविश्वास का अभाव; पराये आक्रामकों को हम परास्त कर नहीं सकते, इस करह का मन का भाव और इन परिस्थितियों में एक बालक मन में निश्चय कि "मैं पराये आक्रमण का मुकाबला करूंगा उनको पीछे हटाऊंगा, अपने स्वराज्य की स्थापना करूंगा, धर्मराज्य की स्थापना करूंगा।" जबकि विरोध में बड़े राज्य और साम्राज्य, बड़ी-बड़ी सेनाएं और सेनापति, राज्यकार्य-धुरंधर लोग और अपार कोष था। उस बालक के पास कुछ नहीं, केवल पांच-पचास अपने समवयस्क लड़कों की लगन। इतनी ही साधन सम्पत्ति थी उसके पास, किन्तु निश्चय के आधार पर इस अवस्था में भी उसने "रावण रथी विरथ रघुबीरा" की नाईं साधन सम्पन्न राज्यों, साम्राज्यों का मुकाबला करते हुए उनको परास्त करके धर्मराज्य की स्थापना की, जिसकी घोषणा ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी को हुई। उसको कहा गया "हिन्दू साम्राज्य दिनोत्सव"। आज की स्थिति में भी इस घटना को वही सिद्धान्त, वही आदर्श, वही स्वप्न, वही लक्ष्य सामने रखकर काम करने वाले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को समझना भी आवश्यक है।

किन्तु ऐसा दिखता है कि दोनों बातों में लोगों को काफी कठिनाई हो रही है। हमारी हालत यह है कि आदमी जितना अधिक अध्ययन करता है पराये लोगों और पराये सिद्धान्तों के बारे में उसकी उतनी ही अधिक जानकारी बढ़ती जाती है, किन्तु अपने बारे में उसकी जानकारी धीरे-धीरे कम होने लगती है। अपने आदर्श, अपने सिद्धान्त, अपनी व्यवस्था आदि के विषय में जानकारी रखने की इच्छा नहीं रहती और इसके कारण अपनी बात, अपनी कल्पना, अपनी रचना को समझ पाना हमारे भाइयों के लिए बहुत कठिन हो जाता है। यह वर्तमान शिक्षा पद्धति और प्रचार का परिणाम है। उदाहरण के लिए यदि हमने हिन्दू साम्राज्य का नाम लिया तो लोगों के दिमाग में वह कल्पना नहीं आएगी जो कल्पना हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने वाले छत्रपति शिवाजी के मन में थी। हिन्दू होते हुए भी पढ़े-लिखे लोगों का पाश्चिमात्य कल्पनाओं से तो परिचय है किन्तु हिन्दू शब्द में निहित कल्पना से परिचय नहीं है। उनका अध्ययन हिन्दू नहीं, पाश्चिमात्य है।

वे "हिन्दू साम्राज्य" शब्द का अर्थ लगाएंगे, उसका अनुवाद करेंगे और कहेंगे साम्राज्य माने राज्य, यह साम्राज्यवाद है। गलत अर्थ, गलत भाषान्तर, गलत समकक्ष शब्द। केवल उधर की एक कल्पना, इधर की एक कल्पना, थोड़ा सा ऊपर से सादृश्य दिखाई दिया तो कहा कि वही बात है, कोई अन्तर नहीं है। वे यह सत्य जानने का प्रयास नहीं करते कि हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति, प्राचीन परम्परा और प्राचीन इतिहास है। आज के अति प्रगत राष्ट्र जिस समय वन्य अवस्था में थे, उस समय सुसभ्य और दुनिया का नेतृत्व करने वाला राष्ट्र हमारा ही रहा है। इसलिए इस तरह की अनेक कल्पनाएं, कई रचनाएं हमारे यहां हैं जो पश्चिम में देखने के लिए नहीं मिल सकतीं। उनका स्वतंत्र अध्ययन न करके कुछ इधर का, कुछ उधर का सादृश्य दिखाते हुए भाषान्तर कर दिया जाता है, और कहा जाता है कि साम्राज्यवाद खराब है और साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग गलत है। जैसे अब लोग मानने लगे हैं कि "भई!" धर्म माने रिलिजन नहीं, रिलिजन माने धर्म नहीं।" लेकिन अब तक वे कहते थे 'धर्म यानी रिलिजन है, रिलिजन यानी धर्म हैं।' यह कहने वाले न रिलिजन को जानते हैं, न धर्म को। इस प्राचीन और सनातन राष्ट्र की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। यहां के हमारे विशेष शब्दों के लिए अंग्रेजी में कोई समकक्ष शब्द नहीं है। उनका अंग्रेजी पर्याय नहीं हो सकता, ठीक-ठीक भाषान्तर भी नहीं हो सकता। उन्हें अपने प्रकृत रूप में ही जाना जा सकता है। यह बात न समझते हुए पश्चिम में जो-जो चीजें हैं, वही चीजें यहां भी होनी और दिखाई देनी चाहिएं यह दुराग्रह रखते हुए यहा की बातों और विचारों पर वही दोषारोपण किया जाता है जो दोषारोपण पश्चिम की कल्पनाओं पर होता है। हिन्दू शब्द को यदि समझना है तो इसकी परम्परागत अर्थ-सम्पदा, अर्थच्छाया को समझना होगा।

जिसके राज्यारोहण दिवस को हिन्दू साम्राज्य दिनोत्सव के रूप में मनाया जाता है, उस शिवाजी के बारे में क्या हम जानते नहीं कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा था कि 'यह व्यक्ति का नहीं, कुल का नहीं, जाति का नहीं, धर्म का राज्य है।' राज्य स्थापना का प्रयास उन्होंने सत्ता के मोह में नहीं किया। हिन्दू स्वराज्य का निर्माण उन्होंने धर्म के संस्थापन के एक साधन और माध्यम के रूप में किया था। यही कारण है कि हम देखते हैं कि शिवाजी ने अपने जीवन में तीन बार स्वकष्टार्जित, स्वपराक्रामार्जित सत्ता छोड़ दी थी। अपने गुरु रामदास को उन्होंने गुरुदक्षिणा के रूप में उनकी झोली में अपना स्वकष्टार्जित स्वराज्य समर्पित कर दिया था। जिसके मन में केवल राजनीतिक आकांक्षाएं होती हैं वह ऐसा नहीं कर सकता। जो यह मानता है कि यह मेरा नहीं, धर्म का राज्य है, अर्थात् राजसत्ता अपने पास होते हुए भी सत्ता की पिपासा नहीं, सत्ता का मोह नही, और जो धर्म स्थापना के एक साधन के रूप में सत्ता सम्पादन की ओर देखता है वही आदमी यह कार्य कर सकता है। किन्तु इस हिन्दू पृष्ठभूमि, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, वायुमण्डल की पृष्ठभूमि को न जानते हुए यदि पश्चिम के तौर-तरीकों के संदर्भ में अर्थ लगाए गए तो हिन्दू बातों को समझना बहुत मुश्किल होगा।

शिवाजी के ही संदर्भ में मैं केवल उदाहरण के लिए बताता हूं कि किस तरह हिन्दू अर्थच्छाया न समझने के कारण गलतफहमियां हो सकती हैं। कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया के नेता कामरेड

डांगे का कहना है कि हिन्दुओं के हर एक शब्द की विशिष्ट अर्थच्छाया (कनोटेशन) है। उस अर्थच्छाया को न समझने के कारण गड़बड़ होती है, उसे ठीक ढंग से समझा नहीं जा सकता। इसलिए जिन एक-दो कल्पनाओं के बारे में हमारे तथाकथित प्रगतिवादी, प्रोग्रेसिव लोग "प्रोग्रेसिव" का मतलब, जिसको खुद के बारे में जानकारी नहीं, किन्तु दुनिया के बारे में जानकारी होती है, टीका करते थे। उसका उदाहरण डांगे ने दिया 'यह ठीक है कि अवतार भगवान का ही होता है।' कई प्रगतिवादी लोगों ने इसका मखौल उड़ाना शुरू किया कि यह दकियानूसी विचार है कैसा अवतार? अवतार की बात गलत है। डांगे ने कहा, 'यह कहने वाले जानते ही नहीं कि अवतार शब्द की विशेष परम्परागत अर्थच्छाया क्या है? उन्होंने बताया कि जब समाज की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में विकृतियां और दोष निर्माण होने के कारण समाज का पतन होने लगता है, उस समय जो महापुरुष सामने आकर उन विकृतियों और दोषों को दूर करके नई परिस्थिति के अनुकूल समाज की रचना करता है, उसे अवतार माना जाता है।" इसका मर्म न समझते हुए, स्वयं को एकमेव प्रगतिवादी और "प्रगमनशील" बताने वाले लोग यदि कहते हैं कि अवतार वगैरह क्या है, यह सब पोंगापंथी है, तो ऐसे लोगों के अभिप्राय को हमें कोई महत्व नहीं देना चाहिए। उनको न तो परम्परागत शब्दों का अर्थ ज्ञात है, न उनका ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा ही है। वे पूर्वाग्रहस्त लोग हैं। वे अपने अतिरिक्त शेष लोगों को बुद्धू समझते हैं। जिनके मन में इस तरह की एक सस्ती और लड़कपन की भावना है, हिन्दू कल्पनाओं के बारे में उनके विचारों को महत्व देना हम आवश्यक नहीं समझते।

दूसरी कल्पना डांगे ने बताई कि परम्परागत अर्थ, परम्परागत अर्थच्छाया न समझने के कारण जिस तरह का भ्रम पाश्चिमात्य विद्वानों को है, उसी तरह के भ्रम के शिकार हमारे लोग भी हैं। शिवाजी का एक विशेषण है "गो ब्राह्मण प्रतिपालक"। इस पर बहुत टीका-टिप्पणी हुई कि गो पशु है, इसका पालन क्या करना? ब्राह्मण एक जाति है, इसका पालन क्या करना है? कुछ लोगों ने इसमें जातिवाद का भी दर्शन कर लिया। आजकल जो ज्यादा शौकीन और आधुनिक हैं वे ही इस प्रकार की बात सोच सकते हैं। कामरेड डांगे ने कहा "यह गलत बात है। ये दोनों शब्द प्रतीकात्मक हैं। हिन्दू परम्परा के अनुसार ये शब्द किसके प्रतीक हैं, यह समझेंगे तो ही उनका वास्तविक अर्थ ध्यान में आ सकेगा।" उन्होंने कहा कि "गौ" केवल "पशु गाय" के बारे में नहीं है, यह उस समय की अर्थव्यवस्था की प्रतीक है। उस साय की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी। अर्थव्यवस्था के प्रतीक के रूप में "गौ" शब्द इस देश की परम्परा के साथ जुड़ा हुआ है। जब शिवाजी ने कहा कि मैं "गौ प्रतिपालक हूं", तो उसका विशेषार्थ केवल "गौ" नाम के पशु का प्रतिपालन नहीं था। उसका अर्थ यह है कि शिवाजी ने संकल्प किया था कि उस समय की जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था थी, जिसका आधार कृषि था, जिस कृषि का आधार गौ थी, उस कृषि अवस्था को मैं टूटने नहीं दूंगा, अर्थात् देश की अर्थव्यवस्था को मैं मजबूत करूंगा। "गौ प्रतिपालक" शब्द की इस परम्परागत अर्थच्छाया का यह अर्थ समझने की आवश्यकता है।" "ब्राह्मण" शब्द के बारे में उन्होंने कहा "यह जातिवाचक शब्द नहीं है। यह भी एक प्रतीक है इस देश की परम्परा में

"ब्राह्मण" शब्द विधि के अर्थ में आता है। क्योंकि शिवाजी के पूर्व जो भी पराये राजे, बादशाह और सुल्तान यहां हुए, वे पश्चिम के सर्वसत्तावादी राजा के समान थे। वे ही सर्वेसर्वा थे। तानाशाह थे। उनको नियंत्रित करने वाला कोई कानून नहीं था। उनकी इच्छा ही उनके राज्य का कानून होती थी। शिवाजी ने इस परिस्थिति से भिन्न परिस्थिति वाले राज्य का निर्माण किया कि अब शासक की इच्छा ही कानून नहीं होगी, बल्कि समाज के कानून के अन्तर्गत राजा को चलना होगा। अतः ब्राह्मण प्रतिपालक होना राजा का समाज के कानून के नियंत्रण के होने का प्रतीक है।"

इससे स्पष्ट होता है कि हमारी परम्परा में विशेष शब्दों का विशेष अर्थ है। कई शब्द प्रतीकात्मक हैं, वे शब्द किसके परिचायक हैं? किस बात के प्रतीक हैं? यदि हम नहीं जानते तो फिर प्रचलित भाषा के आधार पर उनके बारे में गलत धारणाएं बनेंगी। यह बहुत ही सतही बात होगी। केवल तथाकथित प्रगतिवादी लोगों को ही ऐसा सतही एवं सस्ता विचार शोभा देता है, किसी गंभीर और परम्परा से परिचित व्यक्ति को शोभा नहीं देता।

यही बात राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विषय में भी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उद्देश्य है राष्ट्र का पुनर्निर्माण। हमारी मान्यता है कि यह सम्पूर्ण हिन्दुस्थान अपनी-अपनी उपासना-पद्धति को कायम रखते हुए आगे बढ़े। उपासना पद्धति व्यक्तिगत बात है, यह समझकर हरेक की उपासना पद्धति को पूरी स्वतंत्रता देते हुए राष्ट्र अर्थ में "भारत" हिन्दू राष्ट्र है और इस राष्ट्र को हिन्दू राष्ट्र कहा जाये या न कहा जाये, इसके विषय में विवाद करने वाले लोग मिल सकते हैं तो भी इस राष्ट्र का पुनर्निर्माण होना चाहिए, इस विषय में मतभेद रखने वाला, मैं समझता हूं, कोई नहीं है। यह हो सकता है कि लोग अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करते हों, किन्तु सभी चाहते हैं कि पुनर्निर्माण होना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि सर्वांगीण उन्नति होना चाहिए, कुछ लोग समग्र क्रान्ति की बात करते हैं, गंभीर से लेकर रोमांटिक तक जिसका जैसा स्वभाव होता है उसके अनुसार अलग-अलग शब्दों का प्रयोग लोग करते हैं। लेकिन सबके मन में यह भाव समान रूप से है कि आज की परिस्थिति अवांछनीय है और जीवन के हरेक क्षेत्र में युगानुकूल, सर्वंकष, सर्वांगीण परिवर्तन होना चाहिए। इस दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में प्रयास चल रहे हैं। यह प्रयास करने वाले लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ क्या कर रहा है? संघ के विराटच् रूप और अपार शक्ति को देखकर उनको आनन्द भी होता है। लेकिन साथ-साथ यह भी सोचते हैं कि इतनी बड़ी शक्ति किसी काम की नहीं है। ये लोग सामाजिक, राजनैतिक और आथक परिवर्तन के लिए कुछ न करते हुए बस 'दक्ष-आरम' कर रहे हैं। इसका क्या उपयोग है?

संघ का प्रयास समाज की स्वाभाविक अवस्था निर्माण करने का है। संगठन से संघ का मतलब है समाज के हर-एक व्यक्ति के हृदय पर समाज के साथ एकात्मता और समाज के प्रति समर्पण का संस्कार अंकित करना। हर व्यक्ति को यह प्रतीत हो कि मैं अलग नहीं, पृथक् नहीं, स्वतंत्र नहीं, सम्पूर्ण समाज शरीर का अवयव मात्र हूं, सम्पूर्ण समाज के साथ मैं एकात्मक हूं, समाज के सुख में मेरा सुख, समाज के दुःख में मेरा दुःख, समाज के सम्मान में मेरा सम्मान, समाज के अपमान में मेरा अपमान है। इस दृष्टि से हृदय पर संस्कार अंकित करने वाली दिन-प्रति-दिन एकत्रीकरण

की कार्यपद्धति राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अपनाई है। समाज के साथ एकात्मता के संस्कार ग्रहण किए हुए लोगों का अनुशासनबद्ध समूह खड़ा करने का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रयास है। किन्तु लोग उसका महत्व समझ नहीं पा रहे हैं।

क्यों नहीं समझ पा रहे हैं, यह प्रश्न स्वाभाविक है। उन्हें संघ को समझ पाने में इसलिए कठिनाई हो रही है कि पश्चिम की ओर से आने वाली विचार परम्परा में इसका महत्व नहीं माना गया है कि एक-एक व्यक्ति को संस्कारित करके, संस्कारित व्यक्तियों का संगठन निर्माण करके, उसके माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में जो परिवर्तन आएगा, वह विकृत न होते हुए स्थायी हो सकता है।

यह पश्चिमी विचार कौन सा है? पिछली शताब्दी में बहुत दिनों तक बौद्धिक स्तर पर इसकी चर्चा चली कि चेतन प्रधान है कि अचेतन? मौलिक बात कौन सी है? चेतन-अचेतन को नियंत्रित करता है कि अचेतन चेतन को? यह चर्चा इतनी लम्बी चली कि लोग ऊब गए। उस समय चेस्टरटन जैसे लोगों ने इन दोनों को विरोधाभासी बताते हुए मखौल किया था, "भई, काहे के लिए चर्चा ज्यादा बढ़ा रहे हो, यह एक अनबूझ पहेली है " What is mind does not matter, What is matter do not mind." पहले बौद्धिक स्तर पर चल रही इस चर्चा का धीरे-धीरे समाज-शास्त्र में प्रयोग होने लगा और कार्ल मार्क्स जैसे कुछ श्रेष्ठ विचारकों ने कहा कि अचेतन ही सर्वप्रधान है, उसके अनुसार ही चेतन बनता है। बाह्य परिस्थिति ही प्रधान है जैसी बाह्य परिस्थिति होती है वैसा ही व्यक्ति का मन बनता है। व्यक्ति का मन कोई अलग स्वयंभू इकाई नहीं है। अतएव बाह्य परिस्थिति के परिणामस्वरूप व्यक्ति का मन बनता है, व्यक्ति के मन के कारण परिस्थिति पर प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए मौलिक बात है, बाह्य परिस्थिति, समाज की स्थिति, अर्थात् मनुष्य परिस्थिति को नहीं, परिस्थिति मनुष्य को बदल सकती है। परिस्थिति में परिवर्तन आएगा तो मनुष्य के मन में भी परिवर्तन आएगा। मनुष्य के मन में परिवर्तन आने के कारण परिस्थिति में परिवर्तन नहीं आएगा।

लोगों को जानकारी हो या न हो, हमारे यहां यह विचारधारा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उधर से आई। कार्ल मार्क्स को मानने वाले और मार्क्स का विरोध करने वाले हिन्दुओं पर भी इस विचारधार का प्रभाव हुआ। इसके कारण सबके मन में यह विचार आया कि यदि हम परिवर्तन चाहते हैं तो पहले बाह्य परिस्थिति में परिवर्तन किया जाए। हमारी समाज रचना में, शासकीय सत्ता में, कानून में, क्या परिवर्तन हो सकता है यह विचार किया जाए। यदि सत्ता और कानून में परिवर्तन होगा तो उसके फलस्वरूप समाज की रचना में परिवर्तन होगा। उसके स्वाभाविक परिणाम के रूप में व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन होगा। व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन बाह्य परिस्थिति में परिवर्तन के आनुषंगिक फल के रूप में होगा उसके लिए अलग से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। यह विचार जाने-अनजाने, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यहां आया और मार्क्स को मानने और न मानने वाले हमारे पश्चिमी विद्याभूषित विद्वानों के मन में बैठ गया। इसी विचार के प्रकाश में संस्थाएं शुरू हुईं। उपकरण बनाए गए। इसलिए जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ यह कहता है कि हम प्रारम्भ व्यक्ति के हृदय उसके मन और आत्मा से करेंगे, हम एक-एक व्यक्ति

के हृदय में उचित, अनुकूल, इष्ट और वांछनीय परिवर्तन लाएंगे, इन सभी परिवर्तित व्यक्तियों का हम संगठन खड़ा करेंगे और उसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप बाह्य परिस्थितियों में हम परिवर्तन लाएंगे, तो लोगों को लगता है कि यह तो बहुत लम्बी प्रक्रिया है, पता नहीं व्यक्ति के हृदय पर संस्कार अंकित करने से सारा काम होगा कि नहीं होगा। लेकिन वास्तविकता क्या है? हिन्दू विचार यह है कि दोनों पर एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। परिस्थिति का मन पर और मन का परिस्थिति पर परिणाम होता है। लेकिन मनुष्य की इच्छाशक्ति विपरीत परिस्थिति को भी बदल सकती है। मनुष्य की इच्छा शक्ति और मनुष्य का मन स्वयं शक्ति है — यह हिन्दू विचार न जानने के कारण पश्चिमी विचारों के प्रकाश में सोचने के कारण लोग संघ को समझ नहीं पा रहे हैं।

हम दूसरा पक्ष देखें कि जिन्होंने यह तथाकथित प्रगतिवादी विचार रखा है उनको इसमें कहां तक सफलता प्राप्त हुई? यदि व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन न हो तो क्या केवल बाह्य परिस्थिति, शासकीय सत्ता और कानून में परिवर्तन होने से कोई व्यवस्था चल सकती है? इस विषय में पश्चिम और कम्युनिस्टों का अनुभव अच्छा नहीं है। चेकोस्लोवाकिया के भूतपूर्व उपप्रधानमंत्री मिलोवन जिलास ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा कि यह बात सही है कि रूस में कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई, उस क्रान्ति के फलस्वरूप समाज-रचना में परिवर्तन हुआ किन्तु इस क्रान्ति के कारण रूसी मनुष्य के मन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सका। जिन बुराइयों को दूर करने की प्रतिज्ञा लेकर कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई थी, वे बुराइयां दूर नहीं हो सकीं और इसके फलस्वरूप आज हम वहां ऐसा देखते हैं कि वर्ग समाप्त करने के नाम पर पुराने वर्ग की कब्र पर नए वर्ग निर्मित हुए; विषमता समाप्त करने के नाम पर नई विषमताएं पनपीं। एक ही समय मनुष्य के हृदय में मौलिक दृष्टि से कुछ परिवर्तन न होने के कारण वहां पुरानी बुराइयां नये रूप धारण करके अभी भी विद्यमान हैं।

सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी चीन को माना जाता है। शुरू-शुरू में चीन के उस समय के नेता माओ ने यह कहा भी था कि वे मार्क्स के इस सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करके दिखाएंगे कि बाह्य परिस्थिति के परिणामस्वरूप मनुष्य का मन बनता है। चीन में कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई। यदि उनका सिद्धान्त सही होता तो कम्युनिस्ट के बाद समाज-रचना में हुए परिवर्तन के कारण चीन के मनुष्य के मन में परिवर्तन होता। पर माओ की यह अपेक्षा गलत सिद्ध हुई। सर्वसाधरण चीनी मनुष्य के मन में परिवर्तन होना तो दूर रहा उनको ऐसा दिखायी दिया कि कम्युनिस्टों के भी हृदय में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इतना ही नहीं, जिन्होंने क्रान्ति का नेतृत्व किया था उनके मन में भी, क्रान्ति के बाद हुए समाज परिवर्तन के कारण कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सका। इसलिए माओ को दुःख के साथ कहना पड़ा कि हमने क्रान्ति की है, समाज में परिवर्तन किया है, लेकिन लोगों तथा नेताओं के मन में हम परिवर्तन नहीं ला सके। हमारा अनुभव यह है कि कल का क्रान्तिकारी आज का प्रति-क्रान्तिकारी बन जाता है। कल कान्ति की बात करने वाले नेता के शासन में आते ही धीरे-धीरे उसका निहित स्वार्थ उत्पन्न होने लगता है। वह यह प्रयास करने

लगता है कि यथास्थिति बनी रहे; और इसका कारण कल की क्रान्ति के नेता आज की क्रान्ति के नेता का विरोध करने लगते हैं।" उन्होंने फिर कहा "इसलिए एक बार क्रान्ति करने से ही काम नहीं चलेगा। पहले के निहित स्वार्थ को नष्ट करने के लिए क्रान्ति करो, क्रान्ति के पश्चात के क्रान्तिकारी नेता बिगड़ जाते हैं, प्रति-क्रान्तिकारी बन जाते हैं, निहित स्वार्थी बन जाते हैं, तो फिर उनको नष्ट करने के लिए दूसरी क्रान्ति करो, ये क्रान्तिकारी नेता सत्ताधारी बनने के बाद फिर से निहित स्वार्थी बन जाएंगे तो इनको नष्ट करने के लिए फिर से क्रान्ति करो।" इस प्रकार माओ ने सतत क्रान्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बाह्य परिस्थिति के परिणामस्वरूप मन बनने के मार्क्स प्रणीत सिद्धान्त को गलत सिद्ध करने वाला इससे बड़ा प्रमाण कोई और नहीं हो सकता। माओ की सतत क्रान्ति का सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि यह निश्चित नहीं है कि बाह्य परिस्थिति में परिवर्तन होने के कारण मनुष्य के मन में भी तदनुकूल परिवर्तन होगा ही। मनुष्य के मन को परिवर्तित करने के लिए स्वतंत्र प्रयास की आवश्यकता है।

हिन्दुओं का प्राचीन परम्परागत विचार इससे सर्वथा भिन्न रहा है। हमने यह सोचा कि यह बात ठीक है कि परिस्थिति का मन पर, मन का परिस्थिति पर, एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में परिणाम होता है तो भी मनुष्य की इच्छाशक्ति ही प्रधान है। इस इच्छाशक्ति के भरोसे व्यक्तिगत जीवन में वह नर से नारायण बन सकता है। इस इच्छाशक्ति को जाग्रत करते हुए मनुष्य के मन और हृदय को यदि हम सम्पूर्ण समाज के साथ एकात्मता का संस्कार देते हैं तो शेष सभी भेद नष्ट हो जाएंगे, और नया समाज खड़ा होगा। युगानुकूल रचना और आमूलाग्र परिवर्तन का आधार सत्ता, कानून, बाह्य परिस्थिति में परिवर्तन नहीं बन सकता। वांछनीय परिवर्तन लाने के लिए सर्वप्रथम मनुष्य के मन को परिवर्तित करना होगा। इस हिन्दू विचार के अनुसार प्रतिदिन एकत्रीकरण, सामूहिक कार्यक्रम के माध्यम से सामूहिकता का संस्कार, समष्टिगत कार्यक्रम के माध्यम से समष्टि का संस्कार, इस मनोविज्ञान के सिद्धांत के आधार पर जो दिन-प्रतिदिन आमूलाग्र परिवर्तन व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में करने का प्रयास चल रहा है, वह प्रयास अधिक सफल होने वाला है, स्थायी परिणाम देने वाला है, इस बात को हमें ध्यान में रखना चाहिए। किन्तु केवल इतना ही कहने से काम नहीं चलेगा कि दोनों विचारधाराएं अलग-अलग हैं। गलत साधनों का परिणाम गलत निकलता है। जब मनुष्य यह समझने लगता है कि बाह्य परिस्थिति के कारण मनुष्य के मन पर असर होगा, मनुष्य का मन बदल जाएगा तो हमारे सारे चिंतन में गड़बड़ी आ जाती है, क्योंकि आज बाह्य परिस्थिति का मतलब केवल सत्ता और कानून से है। फिर हम सोचने लगते हैं परिवर्तन, क्रान्ति, महाक्रान्ति, उसे और कुछ कहिए, वह सत्ता के माध्यम से आएगा। इसमें सर्वप्रधान बात सत्ता है। सत्ता के माध्यम से सब कुछ का विचार प्रधान होने के कारण सारा ध्यान सत्ता हथियाने पर केन्द्रित हो जाता है। परिणामस्वरूप, जीवन-मूल्यों में परिवर्तन होता है, प्रतिष्ठा के प्रतीक भी परिवर्तित हो जाते हैं।

जब व्यक्ति के हृदय को महत्व न देते हुए सत्ता, कानून और बाह्य बातों का महत्व दिया जाता है तो इसका परिणाम क्या होता है, दुनिया का इतिहास हमें यह बताता है। इतिहास शास्त्रज्ञों ने

अलग-अलग राष्ट्रों का जब अध्ययन किया तो हिन्दुओं के बारे में उनको एक बात का बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पाया कि यहां के राष्ट्र और समाज जीवन की एक विशेष रचना थी। यहां का समाज जीवन कभी शासनाभिमुख, शासनावलम्बी, शासन केन्द्रित नहीं रहा। यहां का समाज स्वायत्त और स्वयं शासित रहा है। यहां शासकीय सत्ता का सीमित महत्व रहा है। सम्पूर्ण जीवन को ग्रस्त करने वाली शासकीय सत्ता यहां कभी नहीं रही और समाज जीवन भी शासनावलम्बी और शासन केन्द्रित कभी नहीं रहा। जब हिन्दुओं का शासन था उस समय शासन समाज केन्द्रित था। परायों के समय में यह अवस्था बदल गई, किन्तु अपने सम्पूर्ण इतिहास में हम देख सकते हैं कि समाज का जीवन अनादिकाल से आज तक स्वयंशासित रहा है। इसके कारण समाज जीवन पर शासन और राज्य का प्रभाव नहीं हुआ। अनेक शासन समाप्त हो गए, किन्तु यह हिन्दू राष्ट्र अखण्ड चलता रहा।

अतएव हमारा समाज-जीवन जब स्वयंभू, स्वयं के सामर्थ्य से जब स्वायत्त स्वयंशासित, और सुसंगठित रूप में खड़ा होगा, तभी हमारा यह चिरंतनत्व टिक सकता है। इस दृष्टि से यदि व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय को संस्कारित किया गया तो वह समाज के प्रति पूर्ण समर्पित होगा सम्पूर्ण समाज के सुख-दुःख के साथ उसका एकात्म होगा। ऐसे एकात्म व्यक्तियों का अनुशासनबद्ध संगठन खड़ा किया गया तो वह समाज विभिन्न क्षेत्रों में आने वाली सभी समस्याओं का स्वाभाविक रूप से मुकाबला करने में समर्थ होगा। पश्चिम की ओर से उधार लाई हुई विचार-पद्धतियों से हमारा मौलिक मतभेद है। भारत को भारत की मिट्टी से उपजी विचारधारा चाहिए, पश्चिम से उधार ली गई विचारधारा नहीं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य की यही मौलिकता है। इस हिन्दू कल्पना को हिन्दूशब्दच्छाया और संकल्पना के संदर्भ एवं प्रकाश में समझना चाहिए। अपनी परम्पराओं के संदर्भ में हम अपने भविष्य का विचार करेंगे तभी आगे का रास्ता हम ठीक ठंग से निश्चित कर सकेंगे।

१७. शब्द और अर्थ

ईसा मसीह ने कहा है कि 'शब्द मृत्यु देता है और उसका भाव जिलाता है।'

प्रख्यात जर्मन दार्शनिक वाल्टेयर ने कहा है कि 'यदि तुम मुझसे बात करना चाहते हो तो पहले अपने शब्दों को परिभाषित करो।'

महान व्याकरणशास्त्री पतंजलि कह गए हैं कि "एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सम्प्रयुक्तः लोके स्वर्गे च कामधुक् भवति"।

शब्द एक मंत्र है। उसका सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् प्रयोग इष्ट फलदायी होता है।

परन्तु देश की वर्तमान अवस्था में हमारे सार्वजनिक जीवन में अनेक महत्वपूर्ण शब्दों का सम्यक् ज्ञान जनसाधरण को नहीं करवाया जाता। कुछ ऐसे लोग जो अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर किसी न किसी कामना पूर्ति की पंक्ति में प्रतीक्षारत हैं वे शब्दों के बारे में जनसाधारण में भ्रांतियां निर्मित करने का प्रयास करते हैं।

जिन शब्दों या विषयों के बारे में भ्रांतियां निर्मित की गई हैं, उनमें से एक शब्द है "सेक्युलरिज्म"। निहित स्वार्थी नेताओं ने इसके विषय में योजनापूर्वक तरह-तरह की भ्रांतियां फैलाई हैं। "सेक्युलर" शब्द का प्रयोग हमारे देश में जिस अर्थ में किया जाता है, उस अर्थ में दुनिया के दूसरे किसी भी देश में नहीं किया जाता। वस्तुतः "सेक्युलर" का अर्थ होता है "इहवादी" या "इहलोकवादी"। पंडित नेहरू के मन में इस बारे में अभिप्रेत संकल्पना के लिए सुयोग्य संज्ञा थी "असाम्प्रदायिक"। संविधान सभा में हुई चर्चा से लेकर श्री पी. सी. चटर्जी की पुस्तक "सेक्युलर वैल्यूज फॉर सेक्युलर इण्डिया" के प्रकाशन तक इस विषय पर लगातार चर्चा होती आई है। "सेक्युलिरज्म" का व्यावहारिक अर्थ "बाइबल" की भाषा में "सीजर" (राजा) को वह दो, जो सीजर (राजा) का है; और ईश्वर को वह दो, जो ईश्वर का है।" अर्थात् राजकर्म और धर्मकार्य को पृथक माना गया है।

भारत में राज्य संस्था हमेशा सेक्युलर ही रही है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्रीगुरुजी ने बार-बार कहा है कि 'हिन्दू इतिहास में राज्य सदैव असाम्प्रदायिक

रहा है। हिन्दुओं का राज्य अर्थात् सेक्युलर राज्य।' फर्डिनांड तथा इसाबेल के क्रूर धार्मिक न्यायपीठ की कल्पना भी हमारे देश में नहीं की जा सकती। पर सेक्युलर अर्थात् निधर्मी की धारणा भी गलत है। डॉ॰ बाबासाहब अम्बेडकर कहते हैं : "इसका (सेक्युलर राज्य) अर्थ यह नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं का ध्यान नहीं रखेंगे। सेक्युलर राज्य का अर्थ यह है कि इस संसद को किसी मजहब विशेष को शेष लोगों पर लादने का अधिकार नहीं होगा। यही वह एक मात्र सीमा है जिसे संविधान मान्य करता है। सेक्युलरिज्म का अर्थ धर्म का निर्मूलन नहीं है।"

इहवादी, धर्मनिरपेक्ष और निधर्मी, ये तीनों शब्द पूर्णतः समानार्थक नहीं हैं। उनकी अर्थच्छाया में अन्तर है।

दूसरी भ्रांति है धर्मराज्य और थियोक्रेसी (मजहबी शासन) के बारे में। धर्म की संकल्पना से अपरिचित होने तथा धर्म का भाषान्तर अंग्रेजी में "रेलिजन" करने के कारण अनेक प्रामाणिक चिंतक भी थियोक्रेसी और धर्मराज्य को समानार्थक समझने लगे। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन कई बार हो चुका है कि धर्म और रिलिजन पर्यायवाजी शब्द नहीं हैं। उदाहरण के लिए श्रुतियों, स्मृतियों, धर्मशास्त्र, धर्मसूत्र, राजधर्म से सम्बन्धित रामायण के ६६ श्लोक तथा महाभारत के शांतिपर्व के राजधर्म प्रकरण, १७ प्रमुख निबंध, कौटिल्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति तथा इन सबका परिपूर्ण परामर्श लेने वाले महामहोपाध्याय डॉ॰ पा॰ वा॰ काणे द्वारा रचित "धर्मशास्त्र के इतिहास" में उल्लिखित तथ्यों के प्रकाश में विद्वान लेखक न्या॰ श्री एम॰ राम जोइस ने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ "लीगल एण्ड कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इडिया" (भारत का विधिक और सांविधानिक इतिहास) में लिखा है :

"संस्कृत में धर्म सर्वाधिक विस्तृत अर्थ की एक अभिव्यक्ति है। इसको व्यक्त करने वाला किसी अन्य भाषा में कोई शब्द नहीं है। इस शब्द की कोई परिभाषा करने का प्रयास भी व्यर्थ होगा। इसके अनेकविध विस्तृत अर्थ हैं। उनमें से कुछ अर्थ हमें उक्त शब्द का विस्तार समझने में सहायक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए "धर्म" शब्द इन सबके लिए प्रयुक्त होता है : न्याय — ऐसा व्यवहार जो परिस्थिति विशेष में उचित हो नैतिक, आध्यात्मिक, पवित्र या मर्यादित हो, प्राणिमात्र के प्रति सहायता का भाव — दान-दक्षिणा देना, सजीव जगत के स्वाभाविक गुण या पहचान या विशिष्टताएं, विधिक कर्तव्य और उसका उपयोग या विधिक के समान ही मान्य परम्पराएं और एक वैध राजशासन।"

"..... जब धर्म का उपयोग राजा के कर्तव्य और शक्ति के संदर्भ में होता है तो इसका अर्थ राजधर्म या सांविधानिक विधि से होता है। इसी प्रकार जब कहा जाता है कि नागरिकों की शांति और समृद्धि तथा एक नैतिक समाज की स्थापना के लिए धर्मराज्य आवश्यक है तो धर्म शब्द राज्य के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है। अतः यहां धर्मराज्य का अर्थ हुआ विधि सम्मत राज्य, न कि किसी मजहब का या थियोक्रेटिक राज्य।"

तीसरी भ्रांति राष्ट्र और राज्य के बारे में है। वस्तुतः राष्ट्र और राज्य दो भिन्न संकल्पनाएं हैं।

परन्तु इस भेद का ज्ञान न रहने के कारण अनेक विचारक भी यह मानने लगे हैं कि रिलिजन, पंथ या उपासना पद्धति के आधार पर राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। जबकि यह स्पष्ट है कि राष्ट्र का प्राण संस्कृति है, कोई भी उपासना पद्धति इस गरिमा को प्राप्त नहीं कर सकती। यदि उपासना पद्धति राष्ट्रीयता का आधार है तो फिर दुनिया के सभी ईसाई देश मिलकर एक राष्ट्र क्यों नहीं बना सके? बल्कि हुआ इसके ठीक विपरीत। इस शताब्दी के दो बड़े महायुद्ध ईसाई देशों ने ही अपने-अपने राष्ट्रीय स्वार्थों की रक्षा के लिए लड़े। यदि उपासना पद्धति राष्ट्रीयता का आधार है तो फिर संसार के लगभग पचास मुस्लिम देश मिलकर एक राष्ट्र क्यों नहीं बने? उल्टे अपने-अपने राष्ट्रीय हित के लिए विभिन्न मुस्लिम देश आपस में लड़ते आए हैं और आज भी लड़ रहे हैं।

पाकिस्तान का निर्माण इस्लाम के नाम पर हुआ। वह एक राज्य तो बन गया, लेकिन राष्ट्र नहीं बन सका। जिस दिन ढाका ने पश्चिमी पाकिस्तान के खिलाफ आवाज उठाई, उसी दिन उपासना पद्धति पर आधारित राष्ट्र की संकल्पना का खोखलापन स्पष्ट हो गया।

बंगलादेश ने इस्लाम को राज्य का मजहब घोषित किया है। क्या वहां मजहब के आधार पर राष्ट्र निर्माण हुआ है? यदि ऐसा हुआ है तो, वहां के पन्द्रह प्रतिशत हिन्दुओं की बात छोड़ भी दी जाए तो भी, १९४७ में इस्लाम के नाम पर बंगलादेश गए बिहारी मुसलमान वहां की राष्ट्रीय मुख्यधारा के साथ अब तक एकरूप क्यों नहीं किए जा सके? १९४७ में इस्लाम के नाम पर भारत से पश्चिमी पाकिस्तान गए मुसलमान (मुजाहिद) वहां के स्थानीय मुसलमानों द्वारा अब तक क्यों नहीं अपनाए गए? अहमदिया और शिया, दोनों मुस्लिम हैं, फिर भी पाकिस्तानियों द्वारा उनको क्यों नहीं अपनाया जाता? अभी तक पाकिस्तान में पठानों की पख्तूनी अस्मिता, बलूचियों की बलूची अस्मिता प्रखर रूप से जीवित है। इन तीनों प्रदेशों के मुसलमान पाकिस्तान से पृथक होकर अपनी-अपनी पृथक इकाइयां बनाना चाहते हैं। इसका मतलब क्या यह नहीं है कि पाकिस्तान एक राज्य तो है किन्तु राष्ट्र नहीं है, और यह कि मजहब के आधार पर राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। सिंधी मुस्लिमों के ज्येष्ठ नेता श्री जी. एम. सईद, जिन्होंने १९४७ में सिंधी असेम्बली में सर्वप्रथम पाकिस्तान के निर्माण का प्रस्ताव रखा था, आज खुलेआम कह रहे हैं कि उस समय उन्होंने जिन्ना के बहकावे में आकर बहुत बड़ी गलती की। लेकिन अब वे अनुभव करते हैं कि इस्लाम या किसी भी मजहब के आधार पर राष्ट्र नहीं बन सकता। सिंधी मुसलमान राजा दाहिर को अपना राष्ट्रपुरुष मानते हैं और मुहम्मद बिन कासिम को पराया आक्रामक। सिंधी मुसलमानों की इच्छा है कि पाकिस्तान से निकलकर भारत के साथ सिंध का गठबंधन (महासंघ) होना चाहिए। श्री सईद कहते हैं कि "सिंध असेम्बली में पाकिस्तान के निर्माण का प्रस्ताव लाकर उन्होंने पाप किया और उस भयंकर भूल को महसूस करने के लिए खुदा ने उनको लम्बी उम्र दी, यह खुदा का शुक्र है।"

वास्तविकता यह है कि आज हर-एक मुस्लिम देश अपनी-अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के आधार पर राष्ट्र बना है, न कि इस्लाम के कारण। यही कारण है कि इंडोनेशिया के लोगों ने मुस्लिम देश होते हुए भी अपनी राष्ट्रीय हिन्दू संस्कृति को अक्षुण्ण रखा है।

चौथी भ्रांति की यह मान्यता है कि हिन्दू एक पंथ, सम्प्रदाय, उपासना पद्धति या एक रिलिजन है। जहां तक थियोक्रेसी (मजहबी राज्य) का प्रश्न है, उसके लिए एक मजहब का होना जरूरी है। ईश्वर द्वारा भेजा गया एक पैगम्बर, एक पुस्तक, एक उपासना पद्धति और एक स्वर्ग रिलिजन या मजहब के गुणधर्म हैं। यदि इस कसौटी पर परखा जाय तो क्या हिन्दू धर्म को रिलिजन कहा जा सकता है? हिन्दुओं का एक पैगम्बर कौन है? उनकी किताब कौन सी है और उनका एक ही स्वर्ग कहां है? हिन्दुओं की स्थिति तो यह है कि **"नेको मुनिः यस्य वचः प्रमाणम् "** — ऐसा कोई भी मुनि नहीं, जिसका वचन प्रमाण माना जाएं। हिन्दुओं के कितने ही अलग-अलग पंथ हैं। उनमें और भी नए पंथ जोड़ने की उसमें क्षमता है। गांधी जी ने कहा है कि 'हिन्दू धर्म में जीसस के लिए पर्याप्त जगह है। और मुहम्मद, जरथुस्त्र तथा मूसा को भी शामिल करने का पर्याप्त स्थान है।'

भारत के चार्वाक जैसे नास्तिक भी हिन्दू ही हैं। उच्चतम न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर का यह अभिमत है कि "विश्व के अन्य पंथों के विपरीत हिन्दू धर्म किसी एक पैगम्बर का दावा नहीं करता और न ही किसी एक देव की उपासना करता है। इसी प्रकार यह किसी एक दार्शनिक अवधारणा को भी नहीं मानता, उपासना की किन्हीं विशिष्ट पद्धतियों या क्रियाओं को नहीं स्वीकारता, वास्तव में यह किसी पंथ या सम्प्रदाय की संकीर्ण पारम्परिक विशेषताओं को संतुष्ट करता प्रतीत नहीं होता। इसे एक जीवन पद्धति के रूप में ही वर्णित किया जा सकता है, कुछ और नहीं .....।"

.... भारतीय विचार-दर्शन का इतिहास इस तथ्य को भलीभांति प्रगट करता है कि हिन्दू धर्म का विकास हमेशा सत्य के लिए अपूर्व खोज की अभिलाषा से प्रेरित रहा है। यह खोज इस बात पर आधारित है कि सत्य के अनेक रूप होते हैं। सत्य एक है, परन्तु विद्वान भिन्न प्रकार से उसका वर्णन करते हैं।"

इस संदर्भ में हुमायूं, कबीर द्वारा उद्धृत विलियम कॉप का यह विचार दृष्टव्य है : "हिन्दू संस्कृति की अपूर्व शक्ति और दीर्घायु का सर्वप्रमुख कारण प्रकटतः भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और परस्पर विरोधाभासी आस्थाओं को व्यवस्थित तथा समायोजित करने की इसकी क्षमता है। अनेक रूपी तत्वों को समायोजित करने और उन्हें सामाजिक और अलग पहचान देने की इसकी योग्यता संभवतः मानव इतिहास में अभूतपूर्व है।"

हमारे एक मित्र सामान्य जन को समझाने के लिए हिन्दू की तुलना किराने की दुकान से करते है। कहते हैं कि "आप पच्चीस रुपए लेकर किराने की दुकान में जाइए। वहां आपको पचासो वस्तुएं रखी दिखाई देंगी। किन्तु आप यदि दुकानदार से पच्चीस रुपए का "किराना" मांगेंगे तो वह कुछ भी देने में असमर्थ होगा, क्योंकि "किराना" नाम से पहचानी जाने वाली अनेक वस्तुएं होती हैं" परन्तु किराना नाम की कोई एक वस्तु नहीं होती। हमारे उक्त मित्र का कहना है कि "हिन्दू नाम से पहचान में आने वाले कई संघ, पंथ, सम्प्रदाय और पूजा-पद्धतियां तो हैं, परन्तु हिन्दू नाम का कोई एक रिलिजन नहीं है।"

वास्तव में हिन्दू की परिभाषा समझ पाना पश्चिमी देशों के लोगों के लिए कठिन है। हिन्दू शब्द के भावार्थ क्षेत्रीय और विभिन्न स्तरीय है, विभिन्न पहलुओं और आयामों से युक्त है। हिन्दू शब्द धार्मिक, सांस्कृतिक, अन्तर्राष्ट्रीय और वैश्विक भी है। इसलिए हिन्दू विचार पद्धति से अनभिज्ञ लोगों को हिन्दुत्व निष्ठा के कुछ उद्‌गार आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ प्रखर हिन्दुत्वनिष्ठ स्वातंत्र्य वीर सावरकर कहते हैं :

"वस्तुतः सम्पूर्ण पृथ्वी हमारी मातृभूमि है, और मानवता हमारा राष्ट्र। किन्तु जब तक विकास का यह नियम रहेगा कि जो अपने अडिग निर्देश में यह कहता है कि कमजोर और कायर हमेशा शक्तिशालियों और साहसी लोगों के शिकार होते हैं, तब तक राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयवाद में परिवर्तित होने से अस्वीकार करती रहेगी।"

"हिन्दू" का सर्वांगीण अर्थ हमारे 'प्रगतिशील' बंधु समझें या न समझें, किन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि हिन्दू कोई रिलिजन नहीं है। अतएव हिन्दुओं का राज्य कभी भी मजहबी राज्य का स्वरूप धारण नहीं कर सकता। इसी कारण पूज्य श्रीगुरुजी ने कहा है कि "हिन्दू और सेक्युलर राज्य, दोनों शब्द पर्यायवाची और समानार्थक हैं।"

सेक्युलरिज्म के संदर्भ में यूरोपीय विकासक्रम हिन्दू ऐतिहासिक विकासक्रम से एकदम भिन्न है।

यह सर्वविदित है कि आरम्भ में रोमन सम्राटों ने ईसाइयत का विरोध किया था, बाद में उन्होंने उसे स्वीकार किया और ईसाई मत को राजाश्रय प्राप्त हुआ। रोम के विभिन्न यूरोपीय भागों का राज्य संभालने वाले लोग अपने-अपने क्षेत्र के शासक बन गए फिर भी उन पर चर्च और पोप की अधिसत्ता का अंकुश था। यह अंकुश न सिर्फ आध्यात्मिक क्षेत्र में रहा अपितु भौतिक, राजनीतिक, व्यावहारिक और शासकीय क्षेत्र में भी था। कुछ शताब्दियों तक यही व्यवस्था चलती रही। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में ब्रिटेन के राजप्रमुख चतुर्थ हेनरी ने इस अधिसत्ता के विरोध में पहला विद्रोह किया। हालांकि वह सफल नहीं हुआ और अन्ततोगत्वा उसे पोप ग्रेगरी सप्तम के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा, फिर भी इस विद्रोह के बाद यूरोप में वेटिकन सिटी (जहां पोप का मुख्य केन्द्र है) के अधिकार क्षेत्र के बारे में एक चर्चा का सूत्रपात हुआ।

आगस्टिन ने पोप की अधिसत्ता का समर्थन किया तो मार्सिग्लिओ ऑफ पेडुआ, वायक्लिफ, इरस्मस, लूथर दांते आदि ने इसका विरोध किया। चौदहवीं शताब्दी के पश्चात राज्य तथा चर्च आपस में सांठगांठ करके जनता का शोषण करने लगे। सरकारी संरक्षण में चर्च में भ्रष्टाचार बढ़ने लगा। फ्रांसीसी राज्य क्रांति के पूर्व चर्च के अधिकारियों के पास बड़ी-बड़ी सम्पत्तियां थीं। फ्रांस के धर्माधिकारियों की व्यक्तिगत आय प्रतिवर्ष चार से पांच लाख तक रहती थी। इसके अलावा लगभग उतना ही धन प्रतिवर्ष उनके भक्तों की ओर से प्राप्त होता था। उनके मठ राजमहल के समान सुखोपभोग के सभी साधनों से युक्त रहते थे। लोगों की आमदनी का एक षष्टमांश चर्च के पास जाता था। चर्च की वार्षिक आमदनी लगभग पन्द्रह करोड़ की थी।

यूरोप के अन्य देशों में भी ऐसी ही परिस्थिति थी। परिणामस्वरूप, सामान्य जनता में भी पोप विरोधी भावना का उदय होने लगा। राजनीति में चर्च को अनौपचारिक रूप से अलग करने की बात स्पष्ट रूप से प्रकट करने वाले प्रथम विचारक मैकियावेली थे। यद्यपि वे लोकतंत्र के विरोधी तथा राजशाही के प्रबल समर्थक थे। इंग्लैण्ड के हेनरी अष्टम द्वारा पोप के विरोध में किया गया विद्रोह तथा मार्टिन लूथर के नेतृत्व में आध्यात्मिक क्षेत्र में पोप के खिलाफ हुआ विद्रोह सर्वविदित है।

सोलहवीं शताब्दी के धर्म सुधारक आंदोलन के परिणामस्वरूप यह मान्यता बनी कि रिलिजन, व्यक्ति के लिए निजी जीवन का विषय है। राजनीतिक और आध्यात्मिक विचारों की दृष्टि से सत्रहवीं शताब्दी में सेक्युलरिज्म ने प्रगति की। इस दृष्टि से अलथूसियस ग्रेसियस हॉबस, जॉन लॉक आदि नाम उल्लेखनीय हैं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रबुद्धवाद के विचार के साथ ही चर्च का प्रभाव और क्षीण हुआ। यूरोप के बाहर अमेरिकन संयुक्त राष्ट्र का संविधान बनाने वाले राष्ट्र निर्माताओं, विशेषतः मैडिसन, ने प्रारम्भ में ही चर्च और राजसत्ता के पृथकत्व पर जोर दिया। १८४६ में सेक्युलरिज्म सिद्धान्त को सूत्रबद्ध करने का काम हॉलिऑक ने किया। उसने अपनी पुस्तक "प्रिंसिपल ऑफ सेक्युलरिज्म" तथा "ओरीजिन एण्ड दि नेचर ऑफ सेक्युलरिज्म" में सेक्युलरिज्म के सिद्धांत का विषद विवेचन किया है।

२० सितम्बर, १८७० को पोप के रोम पर इतालवी स्वातंत्र्य सेना का अधिकार हो गया। उसके बाद रोम में जनमत संग्रह किया गया कि रोम की जनता पोप के शासन में रहना चाहती है या नव स्वतंत्र इटली के राज्य में। रोम की बहुसंख्य जनता ने स्वतंत्र इटली के पक्ष में मत दिया। फलस्वरूप, उसको स्वतंत्र इटली में सम्मिलित करके राजधानी घोषित किया गया। २ जून, १८७१ को विक्टर इमैन्युअल ने रोम में विजय प्रवेश किया। उसी वर्ष इटली की संसद में "लॉ ऑफ पेपर गारंटीज" पास किया गया, जिसके अन्तर्गत पोप को उनका निवास स्थान तथा उसके पास का कुछ क्षेत्र सर्वोच्च शासक मानकर उन्हें सौंप दिया गया और रोम उससे अधिकृत रूप से छीन लिया गया। १९०५ में फ्रांस की संसद ने पृथकता का कानून पास करके अपने देश में सेक्युलरिज्म का सूत्रपात किया।

यूरोप में सेक्युलरिज्म के अभ्युदय का इतिहास आयरिश लेखक विलियम एडवर्ड लेकी ने अपने ग्रंथ "दि राइज एण्ड इन्फ्लुएन्स ऑफ रैशनलिज्म इन यूरोप" में किया है।

ग्यारहवीं शताब्दी से पोप के मजहबी राज्य का विरोध होना प्रारम्भ हुआ था और तब से अब तक वह बढ़ता ही जा रहा है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भौतिक और राजनीतिक मामलों में पोप का हस्तक्षेप समाप्त हो गया। नेपोलियन घोर पोप-विरोधी था। लेकिन उसे अपनी सत्ता के चरम बिन्दु पर अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए पोप के सामने झुकना पड़ा था। यह घटना नेपोलियन-पोप समझौता के नाम से प्रसिद्ध है।

जर्मनी का लोहपुरुष बिस्मार्क वेटिकन विरोधी था। किन्तु मैकियाविली के समान वह भी राजशाही का समर्थक था। उसके जीवन में एक समय ऐसा आया जब उसे समाजवादियों तथा चर्च

की अधिकता के विरोध में एक साथ दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा। एक ही समय दो मोर्चों पर विजयी होना असंभव जानकर रणनीति के तौर पर उस लौहपुरुष ने अपना सुविचारित सांस्कृतिक संघर्ष छोड़ दिया और न चाहते हुए भी १८८७ में वह पोप के सामने झुक गया। मुसोलिनी ने सात साल तक पोप विरोधी अभियान चलाया था। लेकिन परिस्थितिवश उसे भी फरवरी १९२९ में पोप के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा। यह घटना "लेटरन समझौते" के नाम से प्रसिद्ध है। १८७१ में "लॉ ऑफ पेपर गारंटीज" द्वारा प्रस्थापित हुए कई इहवादी सिद्धांतों को ११ फरवरी, १९२९ के इस समझौत के अन्तर्गत छोड़ दिया गया जबकि स्पष्ट रूप से यह समझौता मुसोलिनी के लिए अपमानजनक था।

हमारे 'प्रगतिशील' विचारक इस भ्रान्ति से ग्रस्त हैं कि समृद्ध पश्चिमी देशों में पूरी तरह सेक्युलरिज्म चल रहा है और वहां के शासक रिलिजन के दबाव से मुक्त हैं। इसकी असत्यता के अनेक प्रमाण हैं। एक विद्वान रूसी लेखक ए. बासमिनकोव ने अपने ग्रंथ. "फ्रीडम ऑफ कान्सियंस इन दि यू. एस. एस. आर. " के पांचवें अध्याय में लिखा है "अन्तरात्मा की स्वतंत्रता तथा राज्य से चर्च और चर्च से शिक्षा प्रणाली को सिद्धान्ततः पृथक करने की घोषणा करके भी बुर्जुआ प्रत्यक्ष में कभी वैसा करता नहीं। सत्ता हस्तगत करने के बाद उन्होंने नास्तिक लोगों के विरुद्ध लड़ाई में चर्च का समर्थन किया। आज भी कई पूंजीवादी देशों में नास्तिकता के मजहब और सम्प्रदाय का बचाव करने के लिए चर्च को शासन से पृथक करके एक कवच के रूप में उसका उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों नास्तिकता बढ़ रही है और विभिन्न पंथ-सम्प्रदाय अपना-अपना बेसुरा राग अलापते जा रहे हैं, त्यों-त्यों शोषक वर्ग को समझौते के रूप में सुविधाएं देने के लिए चर्च का उपयोग किया जा रहा है। कई पूंजीवादी देशों में चर्च राज्यतंत्र का सच्चा और कितने ही प्रसंगों में संवैधानिक अंग बन गया है। राज्य शासन चर्च को आर्थिक सहायता देते हैं और अपने वर्ग-हित के लिए उसका उपयोग करते हैं।"

अधिकांश पूंजीवादी देशों के संविधान में अन्य उपासना पद्धतियों पर प्रतिबंध लगाकर विशिष्ट उपासना पद्धति को ही लाभ पहुंचाने की व्यवस्था की गई है। उदाहरण के लिए एवेंजेलिकल लूथरन चर्च, डेनमार्क, नार्वे तथा स्वीडन में सरकारी उपासना पद्धति है। ग्रीस की सरकार ईस्टर्न ऑर्थोडाक्स चर्च का समर्थन करती है, तो ब्रिटेन में चर्च ऑफ इंग्लैण्ड का प्रभाव है। स्पेन का प्रस्थापित चर्च रोमन कैलोलिक है। किसी भी एक पंथ को सरकारी मान्यता प्रदान करने से अन्य पंथ, मजहब और सम्प्रदाय स्वाभाविक रीति से द्वितीय श्रेणी के हो जाते हैं। मध्य-पूर्व, दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका के १७ देशों में इस्लाम को कानून द्वारा विशेष श्रेणी प्रदान की गई है। चौदह यूरोपीय तथा लैटिन अमरीकी देशों में चर्च को लाभ पहुंचाने के लिए सरकार की ओर से पूरा प्रबन्ध किया गया।

विश्व में ऐसे २२ राज्य हैं जहां विशिष्ट मान्यता प्राप्त चर्च का सदस्य ही राज्य प्रमुख बन सकता है। अर्जेन्टीना, साइबेरिया तथा ईरान में सरकारी नौकरियों के लिए वहां के मान्यता प्राप्त मजहब का अवलम्बी होना अनिवार्य कर दिया गया है, फिर अन्तरात्मा की स्वतंत्रता का अर्थ

क्या रह जाता है? उत्तरी आयरलैंड के कैथोलिकों पर राजनीतिक उद्देश्यों से प्रोटेस्टेंट उग्रवादी हमले करते रहते हैं, उन्हें ब्रिटेन के शासक वर्ग का समर्थन प्राप्त है।

अमरीका में आत्मा की स्वतंत्रता और चर्च को राज्य से अलग करने की औपचारिक घोषणा की गई है। फिर भी अधिकांश सरकारी संस्थाओं में आज भी मजहबी परिपाटियों के अनुसार समारोह सम्पन्न होते हैं। अमरीकी प्रतिनिधि सभा "कांग्रेस" का सत्र ईसाई प्रार्थना कहने के बाद प्रारम्भ होता है। केवल शासनाधिकारी ही नहीं, अपितु राष्ट्रपति भी जब अपने पद की शपथ ग्रहण करता है तो उसे भी मजहबी शपथ लेनी पड़ती है। बयालीस राज्यों के संविधानों की प्रस्तावनाओं में ईश्वर की प्रार्थना की गई है। कई राज्यों में न्यायाधीश नास्तिक गवाहों के साक्ष्य स्वीकार नहीं करते, नास्तिकों को सरकारी सेवाओं मे भर्ती नहीं किया जाता। डेलावारे राज्य के संविधान के अनुसार सभी नागरिकों के लिए सार्वजनिक प्रार्थना में उपस्थित रहना अनिवार्य है। नार्वे के संविधान में किए गए प्रावधान के अनुसार सभी नागरिकों को चाहिए कि वे अपने बच्चों को प्रस्थापित एवंजेलिकल लूथरन चर्च की भावना के अनुसार ही शिक्षित करें। पश्चिम जर्मनी में चर्च बहुत सी शिक्षण संस्थाओं और पाठशालाओं का चालक भी है। ग्रीस के विधान के अनुसार माध्यमिक एवं प्राथमिक शालाओं में शिक्षा ग्रीक क्रिश्चियन संस्कृति के वैचारिक आदर्शों और राष्ट्रीय अस्मिता के अनुरूप होनी चाहिए। मजहबी शिक्षा के लिए इजराइल में एक राज्य परिषद है। वहां यहूदी मत को सरकारी उपासना पद्धति की मान्यता दी गई है।

सन् १९८६ में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार अमरीका में सत्रह साल से अधिक आयु वाले १६ करोड़ ६० लाख अमरीकियों में से ८१ प्रतिशत खुद को ईसाई कहने में गौरव अनुभव करते हैं। उनमें से ६२ प्रतिशत लोगों का ईसा के पुनरागमन पर विश्वास है, ३८ प्रतिशत लोगों को पुनर्जन्म पर विश्वास है, ४३ प्रतिशत लोग नियमित रूप से पूजा स्थानों में प्रार्थना करने जाते हैं। पाश्चात्य देशों में मजहबी लोगों का इससे अधिक प्रमाण केवल आयरलैण्ड में है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि अमरीका जैसे प्रगत देशों में इन दिनों ईसाई कट्टरवाद का प्रारंभ हो रहा है। वर्जिनिया विद्यापीठ के समाजशास्त्र के प्राध्यापक जेफरी हंडन ने इस ईसाई कट्टरवाद को "नई आंधी" की उपमा दी है। जिम बाकर, जेरी फावेल, जिमी स्वागार्ट, राबर्टसन, बेन किचले आदि लोकप्रिय प्रोटेस्टेंट पंथीय धर्मोपदेशक इसके प्रचारक हैं।

जो लोग सेक्युलरिज्म का खुलेआम विरोध करते हैं, उनकी मांग है कि जिन शिक्षा संस्थाओं में ईसाइयत के बजाय सेक्युलर ह्यूमनिज्म (पंथनिरपेक्ष मानववाद) पढ़ाया जाता है, उन शिक्षा संस्थाओं को सरकारी अनुदान नहीं होना चाहिए। इनके ही प्रभाव के कारण अलाबामा प्रांत की पाठशालाओं में विद्यार्थियों के लिए एक मिनट के अनिवार्य मौन पालन का नियम बनाया गया था। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने इस नियम को गैर-कानूनी घोषित किया। ये कट्टरवादी डार्विन के उत्क्रान्तिवाद के विरोधी हैं। उनकी मांग है कि पंथनिरपेक्ष मानवतावाद का प्रचार करने वाली पुस्तकों को पाठशालाओं तथा ग्रंथालयों में से निकाल देना चाहिए। ईसाई कट्टरवाद का यह घोषणा-पत्र सन् १९८१ में फ्रांसिस शाफर नामक पादरी ने प्रकाशित किया है जिसमें यह

आवाहन किया गया है कि ईसाई अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए कानून, सत्याग्रह और बल का प्रयोग करें। ईसाई जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए कानून तथा सरकारीतंत्र का प्रयोग हो सके, इस तरह की अनुकूल स्थिति निर्माण करने के लिए फॉलवेल ने मॉरल मैजारिटी नाम का संगठन प्रारम्भ किया है। यह घटनाक्रम हमारे तथाकथित प्रगतिशील बंधुओं के लिए विस्मयजनक होगा।

मार्क्स ने रिलिजन को अफीम कहा और प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्घाटन करते समय स्टालिन ने रिलिजन तथा भगवान को रूस से निष्कासित करने का समयबद्ध कार्यक्रम घोषित किया। लेकिन उसी स्टालिन को १९४५ में मास्को चर्च का पुनरुज्जीवन करके एलेक्सी नाम के धर्माचार्य को मास्को चर्च में नियुक्त करने के साथ ही पूर्वी यूरोपीय देशों में चर्च की गतिविधियां पूर्णरूपेण प्रतिबन्धित करने का निर्णय वापस लेना पड़ा।

कई दशक तक कम्युनिस्ट शासित राज्य पोलैण्ड में पोप का स्वागत करने के लिए देश के लगभग छह करोड़ लोग रास्ते पर आते थे। उनके "मास" सामूहिक प्रवचन में दस लाख से अधिक लोग उपस्थित रहते थे। कम्युनिस्ट भूमि पर खड़े होकर पोप ने भौतिकवाद अर्थात् कम्युनिस्टों के अधिकृत तत्वज्ञान की तीव्र भर्त्सना की थी। ये बातें पहले प्रकाशित हो चुकी हैं। बिली ग्राहम ने अपनी रूस यात्रा के बाद रूस को यह प्रमाण पत्र दिया है कि इस देश में चर्च की प्रतिष्ठा सुरक्षित है। रूस में चर्च की प्रतिष्ठा इसलिए बढ़ गई है कि कई दशकों तक रिलिजन को अफीम बताने के बाद अब रूस और चीन ने अपने-अपने संविधानों में मतवाद की स्वतंत्रता का समावेश किया है। कम्युनिस्ट सरकार रूस में ईसाइयत के एक हजार वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में आर्थोडॉक्स चर्च के विभिन्न समारोहों तथा उत्सवों को न केवल अनुमति दे रही है, अपितु सरकारी प्रचार माध्यमों में भी उनको स्थान दिया है। स्तालिन ने १९४५ के पूर्व मास्को का एक कैथेड्रल नष्ट किया था। उसके मुआवजे के रूप में रूस की सरकार अब नया कैथेड्रल बनाने वाली है। इस समय रूस में ईसाई पादरी सार्वजनिक रूप से प्रार्थना करते हैं कि भगवान गोर्बाचोफ का पेरेस्त्रोयका कार्यक्रम सफल करें ।

सेक्युलरिज्म की संकल्पना से सम्बन्धित भ्रांति के विषय में यहां जान-बूझकर विस्तृत विवरण नहीं दिया गया। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण और मौलिक स्वरूप की है, किन्तु उसके विषय में इसके पूर्व कई बार प्रकट रूप से सर्वांगीण चर्चा हो चुकी है। अतः उस विषय की पुनरुक्ति अनावश्यक प्रतीत होती है। मौलिक भ्रांति है धर्म अर्थात् रिलिजन, रिलिजन अर्थात् धर्म। यहां इसी का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

जब तक इन सब भ्रांतियों का निराकरण नहीं होता, तब तक सेक्युलरिज्म का "सम्यक ज्ञान" तथा इस शब्द का "सम्यक प्रयोग" असंभव है ।

१८. समरसता और समता

दिनांक १४ अप्रैल, १९८३ को "सामाजिक समरसता मंच" की स्थापना हुई। इसकी स्थापना का कारण मूलगामी परिवर्तन प्रक्रिया से जुड़ा विचार है।

सभी यह अनुभव कर रहे हैं कि विगत कुछ वर्षों से देश की परिस्थिति निरंतर बिगड़ती जा रही है। नित्य नवीन समस्याएं खड़ी हो रही हैं। शरीर का रक्त दूषित हो जाता है तो उसके कारण होने वाले फोड़े-फुंसियों को केवल मरहम-पट्टी करने से काम नहीं चलता। उसके लिए रक्त-शुद्धि का उपाय करना आवश्यक हुआ करता है। राजनीतिक नेताओं को तो हर बात की जल्दी रहती है। इस कारण वे रोग का निदान करने के पचड़े में नहीं पड़ते। धैर्य का अभाव होने के कारण तात्कालिक इलाज करके वे अपना काम चलाते रहते हैं। परिणामस्वरूप, कभी पंजाब सुलगता है तो कभी असम, कभी जम्मू-कश्मीर तो कभी दार्जिलिंग सुलग उठता है। राजनीतिक नेता किसी भी समस्या का स्थायी हल खोजने का प्रयास तक नहीं करते।

देश की वर्तमान समस्याओं का किसी ने गहराई से विचार किया है क्या? उनका कोई निदान खोज लिया है क्या? इनका कोई इलाज सोचा है क्या? इन बातों का विचार करने पर ऐसा दिखाई देता है कि जिन महापुरुषों ने समस्याओं का ठीक-ठाक निदान खोज लिया था, उनकी समाज ने उपेक्षा की है, लेकिन भविष्य में समाज को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ेगी। ऐसे कुछ श्रेष्ठ पुरुष अभी-अभी हमारे देश में हुए हैं जिन्होंने समस्या के मूल कारण खोज लिए थे। उन्होंने कुछ उपाय-योजना भी बनाई। ऐसे ही दो महापुरुषों का जन्म-दिन वर्ष १९८३ में संयोग से १४ अप्रैल को ही था। इन श्रेष्ठ पुरुषों में एक का नाम है श्रद्धेय बाबासाहब अम्बेडकर, और दूसरे हैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक पूज्य डा॰ केशवराव बलिराम हेडगेवार। इन दोनों ही महापुरुषों ने समाज की समस्याओं का ठीक-ठाक निदान ही नहीं खोजा, वरन् समुचित उपाय भी किए।

मैं श्रद्धेय बाबासाहब अम्बेडकर की ओर किस प्रकार आकृष्ट हुआ, सर्वप्रथम यह बताना ठीक होगा। मैं था एक सामान्य युवा कार्यकर्ता और वे थे अखिल भारतीय प्रतिष्ठाप्राप्त नेता। यह बात ध्यान में रखने से हमारे परस्पर के सम्बन्ध का स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा।

मैंने सन् १९५० तक बाबासाहब अम्बेडकर का केवल नाम सुन रखा था। मेरी यह धारणा थी कि वे एक वर्ग विशेष के नेता हैं। तब तक मुझे न तो उनके जीवन-विषयक जानकारी थी और न ही उनके कार्य की।

सर्वप्रथम सन् १९५० में हम कुछ युवक उनके व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए। उस समय मैं राजनीतिक क्षेत्र में कार्य कर रहा था। देश का युवा वर्ग उन दिनों दो नेताओं से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। वे दोनों डॉक्टर थे। प्रभावित होने का कारण था पंडित नेहरू के मंत्रिमण्डल से दोनों का त्याग-पत्र। ये दो नेता थे, डॉ॰ बाबासाहब अम्बेडकर और डॉ॰ श्यामाप्रसाद मुखर्जी।

इन दोनों नेताओं के त्याग-पत्र देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की महत्वपूर्ण घटना थी। सर्वसाधरण लोगों की दृष्टि में यह एक अबुद्धिमत्तापूर्ण कार्य था, क्योंकि यह आम-धारणा है कि मंत्रिमण्डल में स्थान पाना बड़े भाग्य की बात है और एक बार यदि मंत्रिपद मिल गया तो जैसे-तैसे उसी पद पर बने रहना चाहिए। हो सकता है, पंडित नेहरू ने उन्हें वित्त मंत्री बनाने का आश्वासन दिया होगा और वैसा नहीं किया तो इसी बात पर त्याग-पत्र देना तो कोई बुद्धिमानी नहीं हो सकती। एक बार गाड़ी में बैठ जाने पर कभी-न-कभी गाड़ी गंतव्य स्थान पर पहुंचेगी ही। **"को कालः फलदायकः"**, कभी न कभी तो भाग्योदय होगा ही, "किन्तु सत्ता प्राप्ति के लिए सिद्धान्तों की केवल घोषणा करना और सत्ता में पहुचने पर उन सिद्धान्तों को भुला देना तथाकथित प्रगतिवादी लोगों के इस मार्ग को अपनाने के बजाय इन दोनों डाक्टरों ने सिद्धान्त के लिए शासन का उपयोग करना और शासन में रहते हुए यदि सिद्धान्तों पर अमल न हो पाता हो तो सत्ता का त्याग करने का पागलपन किया था। इस कारण ही देश के युवावर्ग के हृदय में इन दोनों नेताओं ने अपना स्थान बना लिया। मेरे मन में भी श्रद्धेय बाबासाहब के प्रति श्रद्धा जाग्रत होने का यही कारण था। श्रद्धेय बाबासाहब से अपनी प्रथम भेंट में ही मुझे उनके व्यक्तित्व में विशिष्टता के दर्शन हुए। मैं उस समय विश्वविद्यालय से निकला ताजा-ताजा ३१ वर्षीय युवक था। इस कारण मनुष्य का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति कम थी। फिर भी कुछ घटनाओं के कारण उनके असाधारण व्यक्तित्व की छाप मन पर अवश्य थी। उनमें से एक घटना इस प्रकार है :

प्रथम निर्वाचन के पूर्व बाबासाहब का नागपुर आगमन हुआ। सार्वजनिक सभा के पश्चात एक पत्रकार परिषद में बाबासाहब ने अनेक प्रश्नों का समाधान किया। 'नागपुर टाइम्स' के प्रतिनिधि और मेरे मित्र श्री शरद शेवडे ने पत्रकार परिषद के बाद अकेले में प्रश्न किया कि "आपने कहा है कि हमारा शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन केवल एक विरोधी दल की भूमिका निभाने के लिए ही चुनाव नहीं लड़ रहा, वह तो अपनी सरकार बनाने की भी आकांक्षा रखता है। यदि ऐसा है तो क्या आप बता सकते हैं कि यह कितने वर्षों में संभव हो सकेगा? बाबासाहब ने उत्तर दिया, "यह प्रश्न किसी ज्योतिषी से पूछना ठीक होगा"। श्री शेवडे ने कहा, "फिर भी आपका क्या अनुमान है?" इस पर श्रद्धेय बाबासाहब बोले, "आप जरा इंग्लैण्ड का इतिहास देखिए। वहां की ब्रिटिश लेबर पार्टी की स्थापना कब हुई और उसने अपना मंत्रिमण्डल कितने दिन बाद किस वर्ष बनाया?" इसमें आपको अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा।

बाबासाहब अम्बेडकर की उस समय की आयु को देखते हुए यह स्पष्ट था कि शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के माध्यम से अपने जीवनकाल में भारत का प्रधानमंत्री बनने का विचार उन्होंने निश्चित रूप से नहीं किया होगा। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि स्वयं की प्रधानमंत्री बनने की संभावना न होते हुए भी उन्होंने वृद्धावस्था में नया राजनीतिक दल बनाने का कष्ट क्यों किया? अर्थात् स्वतः की स्वार्थ सिद्धि ही प्रत्येक कार्य की प्रेरक शक्ति हुआ करती है, इस प्रकार की भूमिका से सोचने वाले सर्वसाधारण समाज का बाबासाहब अम्बेडकर के द्वारा नवीन राजनीतिक दल बनाने में किसी प्रकार की बुद्धिमानी दिखाई न देना स्वाभाविक था।

दूसरा प्रसंग भी ऐसा ही है। भंडारा क्षेत्र का उपचुनाव था। वहां के सुरक्षित चुनाव क्षेत्र में एक सुरक्षित तथा दूसरे सामान्य स्थान के लिए कांग्रेस का प्रत्याशी था। विपक्ष से सुरक्षित स्थान के लिए बाबासाहब अम्बेडकर तथा सामान्य स्थान के लिए अखिल भारतीय पार्टी के प्रत्याशी एक प्रसिद्ध नेता थे। स्थिति ऐसी थी कि शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के लोगों का दूसरा मत जिस किसी कांग्रेस विरोधी प्रत्याशी को मिलता, वह निश्चित रूप से विजयी होता। लेकिन सुरक्षित स्थान पर बाबासाहब अम्बेडकर के जीतने की संभावना नहीं थी, क्योंकि जिस पार्टी से समझौता किया गया था वह पार्टी येन-केन- प्रकारेण दूसरे पक्ष के मत हथिया लेने के लिए प्रसिद्ध थी और अपने समर्थकों के मत जिस दल से समझैता होता उसे दिलाने में उदासीन रहा करती थी। बम्बई में भी एक बार ऐसा ही अनुभव आने के कारण सभी कार्यकर्ताओं का यह विचार था कि इस समझौते का कोई लाभ नहीं है।

इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए जो बैठक हुई उसमें एक छोटे से कार्यकर्ता के रूप में मैं भी उपस्थित था। गर्मागर्म बहस हुई। अधिकांश लोगों का कहना था कि हमने यदि अपना दूसरा वोट विपक्ष को (अर्थात् जिससे समझौता हुआ है) दिया तो कांग्रेस का प्रत्याशी जीतेगा, और बाबासाहब की हार होगी। इसलिए अपना दूसरा वोट जला दिया जाए अर्थात् किसी को भी न दिया जाए। यह चर्चा चल ही रही थी कि बाबासाहब भी बैठक में पहुंच गए। उनके पूछने पर लोगों ने स्पष्ट कहा कि हम अपना दूसरा वोट व्यर्थ कर देंगे, तभी आप जीत सकते हैं।

यह सुनकर बाबासाहब गंभीर होकर बोले, "मैंने भारत का संविधान बनाया है। मैं यह बात कभी नहीं कह सकता, और न ही इसे सहन कर सकता हूं। मैं अपने अनुयायियों को संविधान के विरुद्ध व्यवहार करने अर्थात् दूसरे वोट का प्रयोग न करने के लिए कभी नहीं कह सकता। न तो मैं इसके लिए अनुमति दूंगा और न ही संविधान के विरुद्ध इस व्यवहार को सहन करूंगा। चुनाव में हार जाना मैं इससे बेहतर समझूंगा।" फलस्वरूप, बाबासाहब चुनाव हार गए और सामान्य सीट पर खड़े वे नेता जीत गए। चुनाव जीतने का इतना सरल नुस्खा उपलब्ध होते हुए भी उसे न अपनाकर उन्होंने हार जाना स्वीकार किया। वह भी केवल इसलिए कि भारत के जिस संविधान का निर्माण उन्होंने किया उसकी रक्षा हो। उनकी इस सिद्धान्त निष्ठा से भी उनके असाधारण व्यक्तित्व का परिचय मिला।

तीसरी घटना है उनके धर्म परिवर्तन के समय की। नागपुर के श्याम होटल में बाबासाहब के प्रमुख कार्यकर्ताओं की बैठक थी। भारतीय बौद्धजन समिति के मंत्री श्री वामनराव गोडबोले के

द्वारा बैठक बुलाई गई थी। धर्मान्तरण की पूर्व संध्या अर्थात् दिनांक १३ अक्तूबर, १९५६ का यह प्रसंग है। वहां पर चाय का प्रबन्ध मेरी ओर था। बैठक में बाबासाहब अम्बेडकर ने कहा, "हम परिवर्तन करने वाले हैं इसलिए सर्वप्रथम हमें अपनी भावी योजना भलीभांति समझ लेना चाहिए। हमारे जो सिद्धांत हैं उन्हें सुदृढ़ आधार देना आवश्यक है। हमें अपनी भावी व्यूह-रचना भी निश्चित करनी होगी।"

इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "शिड्यूल्ड कास्ट्स के रूप में समाज का जो वर्ग है, वह अपना ही है। हम अब बौद्धमत अपनाने वाले हैं। शिड्यूल्ड कास्ट्स में से कुछ लोग बौद्ध बनेंगे। जो लोग बौद्ध नहीं बनेंगे, वे शिड्यूल्ड कास्ट्स के होने के कारण पहले से ही अपने हैं। बौद्धमत को हमें शिड्यूल्ड कास्ट्स तक ही सीमित नहीं रखना है। शिड्यूल्ड कास्ट के बाहर भी इसका प्रचार करना होगा। इससे जो शिड्यूल्ड कास्ट के नहीं हैं वे, और जिन्हें बौद्धमत के प्रति आकर्षण है वे लोग भी हमारा साथ देंगे। और गैर-शिड्यूल्ड कास्ट्स बौद्ध के रूप में भी एक वर्ग तैयार होगा। अर्थात् (१) बुद्धिस्ट शिड्यूल्ड कास्ट्स, (२) शिड्यूल्ड कास्ट्स नॉन बुद्धिस्ट, और (३) नॉन शिड्यूल्ड कास्ट्स बुद्धिस्ट, इस प्रकार के वर्ग निर्मित होंगे। इन तीनों वर्गों का सहयोग हमारे द्वारा शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन के रूप में निर्मित होने वाली राजनीतिक पार्टी को भी मिलेगा। हमारी पार्टी पश्चिम के जनतांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर काम करेगी।

मैं यह जानता हूं कि आप लोगों को धर्म की अपेक्षा राजनीति में अधिक रुचि है, लेकिन मुझे राजनीति से अधिक धर्म के प्रति आकर्षण है। शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन ने दलित वर्ग में स्वाभिमान एवं आत्मगौरव का भाव जगाया है। दलित वर्ग के लोगों ने अपने और शेष समाज के बीच एक दीवार खड़ी कर ली है। स्थिति यहां तक पहुंची है कि अस्पृश्य वर्ग के प्रत्याशी को अन्य लोग अपना मत नहीं देते और वे भी अन्य पार्टियों के प्रत्याशियों को अपना मत नहीं देते। इसलिए जिन लोगों को दलितों के प्रति सहानुभूति है, ऐसे लोगों को साथ लेकर एक राजनीतिक दल की स्थापना करके अन्य राजनीतिक दलों के नेताओं के साथ काम करने का प्रयत्न करना चाहिए। अब परिस्थिति का सिंहावलोकन करने का समय आ गया है। हमारे शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन के सिद्धान्तों से जो सहमत होंगे, राजनीतिक क्षेत्र के ऐसे लोग भी हमारा साथ देंगे। इनमें से कुछ शिड्यूल्ड कास्ट्स के होगे और कुछ शिड्यूल्ड कास्ट्स के बाहर के भी होंगे। कुछ बौद्धमत को मानने वाले होंगे तो कुछ बौद्धमत को न मानने वाले भी होंगे। इसका अर्थ है कि हमारे साथ शिड्यूल्ड कास्ट्स और बौद्ध रिपब्लिकन्स के रूप में रहेंगे, और ऐसे भी लोग रहेंगे जो शिड्यूल्ड कास्ट्स, रिपब्लिकन और बौद्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में एक धर्ममत, एक राजकीय मत तथा एक सामाजिक वर्ग के जितने भी विनिमयन और समुच्चय हो सकते हैं, उन सबको मिलाकर विभिन्न प्रकार के लोग हमारा साथ देंगे और इस प्रकार अपने सिद्धान्तों के लिए अनुकूल एक सामाजिक अधिष्ठान का निर्माण होगा।"

यह विषय उन्होंने कार्यकर्ताओं के समाने विस्तार से रखा था। साथ ही एक चेतावनी भी दी थी कि " ध्यान रखने की बात है कि कहीं ऐसा न हो जाए कि सामाजिक इकाई के रूप में जो वर्ग खड़ा हो वही धर्म का भी मुखौटा लगा ले, और वही राजनीतिक दल के रूप में भी काम करे।"

यह बात अक्तूबर, सन् १९५६ की है। उस समय उनके स्वास्थ्य, उनकी आयु और उनके द्वारा प्रस्तुत व्यूह-रचना को सुनकर यह एक बात तो किसी के भी ध्यान में आ सकती थी कि "इतनी दीर्घकालीन योजना को फलीभूत देखने के लिए वे स्वयं जीवित नहीं रहेंगे। लोगों ने यह अनुभव किया कि उनका ध्येय स्पष्ट है, ध्येय सिद्धि देखने के लिए रहें या न रहें किन्तु पूरी निष्ठा के साथ वे वृद्ध सज्जन ध्येय सिद्धि के प्रपत्र की पराकाष्ठा कर रहे हैं। अपने सुखी जीवन की ओर से मुंह मोड़कर स्वेच्छा से दुःख और कष्ट का मार्ग अपना रहे हैं।" राजनीतिक क्षेत्र में कार्यरत नेता इसे बुद्धिमानी नहीं कहेंगे। वे तो यही सलाह देंगे कि समझदार व्यक्ति बुढ़ापे में कभी भी आम, बेल या कैथ के पौधे का रोपण नहीं किया करते। क्योंकि उनके जीते जी न तो ये वृक्ष फल देने वाले हैं और न ही वे उसका उपभोग कर सकेंगे। तो फिर ऐसी स्थिति में उस वृद्ध सज्जन ने व्यर्थ ही क्यों परेशानी मोल ली? केवल इसलिए कि उनके सामने भव्य-दिव्य ध्येय था, और यही उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। ऐसी ही कुछ घटनाओं से बाबासाहब अम्बेडकर के विषय में मेरे हृदय में श्रद्धा का निर्माण हुआ। उनके संगठनात्मक विचार से बाबासाहब के विषय में मेरे मन में आत्मीयता की वृद्धि हुई।

बाबासाहब अम्बेडकर उच्च सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ ही संगठन के लिए अपेक्षित व्यवहार की साधारण दिखाई देने वाली बातों का भी ध्यान रखते थे।

इस सम्बन्ध में एक प्रसंग स्मरण आता है। १४ जुलाई, १९५२ को बम्बई के दामोदर हाल में आयोजित सभा में भवन-निर्माण फण्ड के विषय में बोलते हुए उन्होंने कहा था, " हमारे लोगों ने जो धनराशि एकत्रित की है, उसमें जिन विभिन्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों ने पच्चीस रुपए अथवा इससे अधिक की धनराशि दी है, उसका कुल योग २५, ७०१ रुपए ४ आने हुआ है। पच्चीस रुपए से कम देने वालों की धनराशि १००० रुपए से कम हुई है, और जिस राशि के स्रोत का पता नहीं, वह धनराशि ५००० रुपए है। इन पांच हजार रुपयों का विवरण क्यों उपलब्ध नहीं हुआ? कारण स्पष्ट है, पावती पुस्तकें वापस जमा नहीं हुई। उन पावती पुस्तकों में और भी धनराशि जमा होने की संभावना है। यह अनुल्लिखित धनराशि लोगों के द्वारा हड़प किए जाने का संदेह निर्माण होना स्वाभाविक है। इस संदेह को दूर करने के लिए लोगों के द्वारा ली गई समस्त पावती पुस्तिकाओं को उनके द्वारा प्राप्त धनराशि के साथ जमा करना होगा। पावती पुस्तकों को वापस न करना अथवा प्राप्त धनराशि को जमा न करना, कानून की दृष्टि से दण्डनीय अपराध है। यह बात सभी को ध्यान में रखनी चाहिए।

इस प्रसंग पर मुझे शिक्षित लोगों से भी दो शब्द कहने हैं। गरीब जनता द्वारा दी गई धनराशि का हिसाब आपको ठीक प्रकार से रखना होगा। एक पैसे की भी गड़बड़ न होने पाए, इसकी सावधानी रखनी होगी। सार्वजनिक धन का हिसाब व्यवस्थित रखकर उसे समय-समय पर जनता के सन्मुख रखने से बढ़कर पवित्र और कोई कार्य नहीं हो सकता और सार्वजनिक धन का आहार करने जैसा नीच कृत्य भी दूसरा कोई हो नहीं सकता।"

ऐसे ही प्रसंग पर उन्होंने अपना यह भाव प्रकट किया था कि "मुझसे अनेक लोग पूछा करते हैं,

आप भाषण क्यों नहीं देते? संदेश क्यों नहीं देते? मैं भाषण या संदेश नहीं देता इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मुझे आपकी चिंता नहीं, आपके प्रति आत्मीयता नहीं, या मैं आपके कल्याण की कामना नहीं करता। अवसर देखकर काम करना पड़ता है। शत्रु कौन है? मित्र कौन है? किस समय क्या करना चाहिए? इन सब बातों की जांच भी करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में रुककर सोचने के सिवाय कोई भी उपाय नहीं होता।"

जीन कसे हुए घोड़े पर सवार होना अलग बात है और किसी संगठन को खड़ा करना एक भिन्न प्रक्रिया है। संगठन खड़ा करने वाले नेता को धरती से सम्बन्ध रखना पड़ता है। उसी से उसमें कार्यकर्ताओं को मार्गदर्शन करने की पात्रता आती है। कार्यकर्ताओं से बाबासाहब अम्बेडकर की चर्चा की कुछ बानगी देखिए। वे कहते हैं : "अपना घर छोड़कर दूसरे के बंगले में घुसना निरी मूर्खता है। अपनी झोंपड़ी सलामत रखो, अन्यथा अपनी अवस्था ब्राह्मणेतर पार्टी जैसी हुए बिना नहीं रहेगी। ब्राह्मणेतर पार्टी की क्या दुर्गति हुई, यह आप जानते ही हैं। सन् १९३२ तक हम परस्पर सहयोग से काम कर रहे थे। उस समय कुछ ब्राह्मणेतर नेताओं का विचार हुआ कि कांग्रेस के बाहर रहने से कोई लाभ नहीं। कांग्रेस में प्रवेश करके अन्दर से उसके दुर्ग में दरार डाली जाए। यह काम बाहर से संभव न होगा। यह सोचकर वे कांग्रेस में गए। मैंने उन्हें ऐसा न करने के लिए बहुत समझाया, लेकिन उन्होंने एक न सुनी। अब वे अपनी भूल मान रहे हैं। किन्तु अब वे अपनी झोंपड़ी बांध भी सकेंगे या नहीं, इसकी मुझे शंका है। झोंपड़ी मिटाकर समझौता करना मुझे बिल्कुल मान्य नहीं। झोंपड़ी कायम रखकर ही हमसे जो कुछ संभव होगा, हम करेंगे। जो मिल रहा है उसे स्वीकार करके शेष मांगों के लिए संघर्षरत रहने का हमारा स्वभाव होना चाहिए। **"कै हंसा मोती चुगे, कै तो रहे उपास"** इस कहावत वाली वृत्ति अच्छी नहीं। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं।

किसी भी राजनीतिक दल से हमारी सहमति का अर्थ यह कदापि नहीं होना चाहिए कि हम अपने संगठन का अस्तित्व ही समाप्त कर दें। कांग्रेस , सोशलिस्ट, पीजेंट्स एण्ड वर्कस पार्टी जैसा कोई भी राजनीतिक दल हो, उनसे सहयोग करते समय हम इस बात को अवश्य ध्यान में रखें। राजनीतिक क्षेत्र में अकेले व्यक्ति की कोई कीमत नहीं होती। मुझे भी आज कांग्रेस पार्टी तथा राजनीतिक क्षेत्र में जो सम्मान प्राप्त है, इसका कारण मेरे साथ शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन का संगठन है। इसका समर्थन खो देने पर मुझे राजनीतिक क्षेत्र में कोई नहीं पूछेगा। इसीलिए राष्ट्र-रक्षा की भावना हृदय में धारण कर, राजनीतिक क्षेत्र में "शत्रु-मित्र" के सम्बन्ध को जानकर स्वतः के स्वत्व की रक्षा करते हुए सतर्कता से शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के नेतृत्व में कार्य करना चाहिए।

मनुष्य को केवल स्वार्थ का ही विचार नहीं करना चाहिए। कुछ परमार्थ भी आवश्यक है। मैं भी इसी भावना से फेडरेशन का कार्य कर रहा हूं। यह प्रेरणा मुझे "धर्म" से प्राप्त हुई। स्वतः का पेट भरना ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। पेट तो भिखमंगे भी भर लेते हैं। स्वयं के परिवार के भरण-पोषण के साथ-साथ समाज के कल्याण के लिए भी कार्य करते रहना चाहिए।

अब हम अपना मन शुद्ध करें। सद्गुण प्राप्ति की हमें धुन हो। हम धार्मिक बनें। शिक्षित होना ही सब कुछ नहीं है। शिक्षा प्राप्ति के साथ चरित्र सम्पन्न भी बनना होगा। चरित्र के बिना

शिक्षा निरर्थक हो जाती है। ज्ञान दुधारी तलवार के समान होता है। व्यक्ति के हाथ की तलवार का सदुपयोग या दुरुपयोग उस व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर करता है। तलवार से किसी की हत्या भी की जा सकती है और प्राणरक्षा भी। ज्ञान का भी दोहरा प्रयोग होता है। शिक्षित व्यक्ति यदि चारित्र्य सम्पन्न होगा तो अपने ज्ञान का उपयोग समाज के कल्याण के लिए करेगा। यदि वह दुश्चरित्र होगा तो उसका ज्ञान लोगों को पीड़ित करने का माध्यम बनेगा। शील अर्थात् चारित्र धर्ममय जीवन का परिपाक है। शिक्षित व्यक्ति यदि केवल अपना ही पेट भरता है, स्वार्थ के अतिरिक्त उसे कुछ दिखाई नहीं देता, परमार्थ की ओर उसकी लेशमात्र भी प्रवृत्ति नहीं है तो ऐसे शिक्षित व्यक्ति का जीना व्यर्थ है।

कार्यकर्ताओं की यह धारणा बनी है कि निर्वाचन यानी राजनीति! निर्वाचन के बिना राजनीति का कोई अर्थ नहीं। इसीलिए निर्वाचन के समय टिकट प्राप्ति के लिए भाग-दौड़ किया करते हैं। निर्वाचन के बाद सभी निष्क्रिय हो जाते हैं। लेकिन समाज के दीर्घकालीन जीवन में राजनीति एक अल्पकालिक घटना मात्र है। राजनीति ही सबकुछ नहीं है। अन्य कार्य इससे भी अधिक महत्व के हैं। केवल राजनीति से समाज की उन्नति नहीं होती। समाज के सर्वतोमुखी विकास के लिए सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि अन्य क्षेत्रों में भी कार्यकर्ताओं को कार्य करना चाहिए। राजनीति को अत्यधिक महत्व देने के कारण ही चुनाव के समय टिकट प्राप्ति के लिए भाग-दौड़ और वह न मिलने पर समाज में गुटबाजी का निर्माण, चुनाव में हार जाने पर सार्वजनिक जीवन से मुंह मोड़ लेना, विजयी होने पर विधानसभा अथवा संसद में कुर्सी की शोभा बढ़ाने के अतिरिक्त कुछ न करना ही आजकल कार्यकर्ताओं ने सबकुछ समझ लिया है।

व्यक्तिशः किसी भी कार्यकर्ता से मेरा विशेष स्नेह होने का प्रश्न ही नहीं है। मुझे तो कार्य प्रिय है। जो अधिक कार्य करेगा, वही मुझे प्रिय होगा। चुनाव भी क्रिकेट के मैच के समान है। मैच में हारने वाली टीम खेल खेलना नहीं छोड़ देती। वह भविष्य में होने वाले मैच में विजय प्राप्ति की आकांक्षा लेकर दूने उत्साह से तैयारी में जुट जाती है। हमारे कार्यकर्ताओं को इसी मनोभूमिका से कार्य करना चाहिए। मेरी इच्छा के अनुसार ही संस्था का कार्य चलना चाहिए, यह प्रवृत्ति अत्यंत घातक है।

राजनीति में विवाद तो होंगे ही। उन्हें भूल जाने का अभ्यास करना होगा। मतभेद के अंकुर को मन में पनपने देना उचित नहीं। मेरा हृदय निर्मल होने पर भी अन्य लोगों से मेरे मतभेद होते हैं, लेकिन उन्हें मैं तत्काल भुला देता हूं। मनुष्य का मन पुष्प जैसा स्वच्छ एवं प्रफुल्लित रहना चाहिए।

अपने फेडरेशन में बहुत से बाजारू लोग एकत्र हो गए हैं। फेडरेशन को समाप्त करने का यदि उनका विचार हो तो वे अभी से फेडरेशन छोड़कर चले जाएं। फेडरेशन में ऐसे लोगों के लिए कोई स्थान नहीं है। दो घोड़ों पर सवारी नहीं हो सकती। फेडरेशन का यह वृक्ष जल्दी फल देने वाला नहीं है। यह निश्चित रूप से देर से ही फलने वाला है। लेकिन यह दीर्घकाल तक के लिए काम देगा। जो वृक्ष अल्पकाल में फल देते हैं, उनका जीवन भी अल्पकालीन ही होता है। इस प्रकार के वृक्ष हमें अपेक्षित नहीं हैं। इसलिए जिन्हें तत्काल फल की अपेक्षा है उन्हें अन्यत्र चले जाना चाहिए।

जिसमें धैर्य नहीं, वह नेतृत्व नहीं कर सकता। जो मरने के लिए सदैव तैयार रहता है, उससे मृत्यु भी दूर भागती है, जो मृत्यु से डरता है, वह मृतवत् है।

यदि कोई राजनीतिक क्षेत्र में ही कार्य करना चाहता है तो उसे राजनीति का गहन अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन के बिना इस दुनिया में कुछ भी साध्य नहीं हुआ करता। हमारे कार्यकर्ताओं को राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि समस्याओं का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। जिन्हें समाज का नेतृत्व करना है उन्हें नेतृत्व के लिए अपेक्षित कर्तव्य तथा दायित्व का बोध होना आवश्यक है। हमारे समाज के नेताओं को बहुत बड़ी जिम्मेदारी वहन करनी होती है। अन्य समाज के नेतृत्व वर्ग और हमारे समाज के नेतृत्व वर्ग की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अन्य समाज के नेताओं के कार्य की परिसमाप्ति सभा में उत्तेजक भाषण देकर तालियां बजवा लेना और पुष्पमालाओं से लदे हुए घर वापस आने में ही हो ही जाती है। हमारे समाज के नेतृत्व वर्ग के लिए इतने से काम नहीं चलेगा। अध्ययन, चिंतन और मनन के साथ-साथ समाज की उन्नति के लिए अहर्निश शारीरिक श्रम करना भी हमारे समाज के नेता के लिए आवश्यक होगा। तभी उसके द्वारा समाज का थोड़ा बहुत भला हो सकेगा। समाज तभी उसका नेतृत्व स्वीकार करेगा।

शायद आप सोचते हैं कि नेता बनना सरल है। लेकिन मेरे विचार से नेता बनना बहुत ही कठिन कार्य है। मेरा तो यही अनुभव है। क्योंकि अन्य लोगों जैसा मेरे नेतृत्व का स्वरूप नहीं है। मैंने जब यह आन्दोलन प्रारम्भ किया तब आज जैसा कोई संगठन नहीं था। मुझे ही सब काम करना पड़ता था। संगठन खड़ा करने के लिए भी मुझे ही खपना पड़ता था। समाचारपत्र शुरू करना भी मेरा ही सिरदर्द हुआ करता था। "मूक नायक", "बहिष्कृत भारत", जनता" आदि समाचारपत्र चलाना हो या प्रिंटिंग प्रेस चलाना हो, सभी मोर्चे मुझे ही संभालने पड़े थे। संक्षेप में यही कहना होगा कि मुझे शून्य में से सृष्टि का निर्माण करना पड़ा।

क्रोध का स्वरूप दो प्रकार का होता है : एक द्वेषमूलक और दूसरा प्रेममूलक। बधिक का क्रोध द्वेषमूलक होता है और मां का अपनी संतान पर किया जाने वाला क्रोध प्रेममूलक होता है। वह यदि अपने पुत्र को एक चपत लगाती है तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। पुत्र सदाचारी बने, सुयोग्य बने, यही उसकी आन्तरिक इच्छा हुआ करती है। मेरे द्वारा भी आप लोगों को प्रताड़ित किए जाने के मूल में भी आपके कल्याण की कामना ही रहा करती है। आप लोगों में समता और बंधुता का भाव स्थायी रूप से रहे, मेरी यह इच्छा होने के कारण ही मैं आप लोगों को राजनीति से अलग होने के लिए कहा करता हूं।"

किसी भी संस्था या संगठन के कार्यकर्ता, संगठक अथवा प्रचारक के लिए उपर्युक्त व्यावहारिक मार्गदर्शन उपयोगी हो सकता है। इसकी उपयोगिता परिस्थिति और काल निरपेक्ष है। श्रद्धेय बाबासाहब अम्बेडकर का यह विचारधन सबके लिए उपलब्ध कराने के लिए श्री डी॰ के॰ पोखर्णीकर तथा श्री मा॰ फ॰ गांजरे बधाई के पात्र हैं।

भारत के संविधान निर्माता के द्वारा कार्यकर्ता की मनःस्थिति को ध्यान में रखकर इतने विस्तार

से व्यावहारिक मागदर्शन करना सचमुच सराहनीय है। इसे पढ़ते समय मुझे गगनबिहारी गरुड़ पक्षी का स्मरण होता है। गगन में सबसे ऊंची उड़ान भरने वाला यह पक्षी अपना घोंसला हवा में नहीं, धरती पर खड़े किसी वृक्ष पर ही बनाता है। बाबासाहब अम्बेडकर ने कार्यकर्ताओं का जो मार्गदर्शन किया, वह इसी श्रेणी में आता है। यह सभी क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं के लिए पाथेय का काम दे सकता है। स्वयं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रचारक होने के कारण मैं इस प्रकार के मागदर्शन का महत्व भलीभांति जानता हूं। वर्तमान में सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यरत नेताओं के विचार और व्यवहार का विचार करने पर बाबासाहब अम्बेडकर का मार्गदर्शन मुझे विशेष महत्व का लगता है।

जो लोग पिछड़े वर्ग के नहीं थे, उनके लिए बाबासाहब का व्यवहार कुछ स्पष्टवादिता तथा उपेक्षापरक अनुभव होना स्वाभाविक था। जिन लोगों को साथ लेकर काम करना है उन्हें उन्हीं की भाषा में अपनी बात समझानी आवश्यक होती है। बाबासाहब की यह विशेषता थी कि अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का स्तर जानकर वे उसके समझ में आने वाली भाषा और वाक्य का प्रयोग तथा प्रचलित कहावत-मुहावरों का उपयोग किया करते थे। शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के प्रारम्भिक काल के नागपुर के अध्यक्ष श्री दशरथ पाटिल से श्री बाबासाहब की मित्रवत् चर्चा हो रही थी। मैं भी संयोग से वहां उपस्थित था। "लाडवण" शब्द की उत्पत्ति पर चर्चा चल पड़ी। बाबासाहब ने अपना मत प्रदर्शित करते हुए ऐसे कुछ विशिष्ट ग्रामीण बराड़ी शब्द का प्रयोग किया कि उसे सुनकर मैं भौंचक्का सा खड़ा रह गया। भारत के संविधान निर्मात्री परिषद् में दिए गए उनके विद्वत्तापूर्ण भाषणों की प्रशंसा मैंने अवश्य सुनी थी। वे बराड़ी भाषा के मुहावरे का प्रयोग भी उतनी ही कुशलता के साथ कर सकते हैं, यह देखकर हर्ष हुआ। जिन लोगों को जोड़ना है, लोकसंग्रहकर्ता को उनके ही धरातल पर उतरकर उनमें समरस होना पड़ता है, अन्यथा लोकसंग्रह संभव ही नहीं हो सकता।

बाबासाहब अम्बेडकर के विचार इतने सुस्पष्ट तथा मौलिक रहा करते थे कि उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए निर्भीकता और कभी-कभी अप्रियता को स्वीकार करने की भी तैयारी रखनी पड़ती थी। उनके बात करने की शैली को "दो टूक बात" करने की शैली की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस कारण उनके विषय में अनेक बार गलत धारणा भी बन जाया करती थी। वे स्वयं भी इसका अनुभव करते थे। एक बार अपनी इस तुनकमिजाजी का स्पष्टीकरण देते हुए उन्होंने बताया, "यद्यपि मेरा स्वभाव कुछ क्रोधी है और सत्ता में बैठे हुए लोगों से मेरी झड़पें भी अनेक बार होती रहती हैं किन्तु इससे उन्हें मेरे विषय में ऐसी गलत धारणा नहीं बनानी चाहिए कि मैं विदेशों में भारत के विरुद्ध भी बोलूंगा। मैंने देश के साथ कभी भी विश्वासघात नहीं किया है। देश का हित ही मेरे लिए सर्वोपरि है। गोलमेज सम्मेलन के समय मैं गाधी से भी दो सौ मील आगे था।"

दूसरे एक प्रसंग पर वे बोले, "बहुत से हिन्दू मुझे शत्रुवत समझते हैं, किन्तु ब्राह्मणों में भी मेरे अपने मित्र हैं। जो ब्राह्मण हम लोगों के साथ कुत्ता-बिल्ली जैसा व्यवहार करते हैं, ऐसे लोगों को उनकी समाजद्रोही करतूतों के लिए बड़ी फटकार लगाने का काम मेरे भाग्य में लिखा है। इसके लिए मैं विवश हूं।"

वस्तुतः उनके सभी कार्यों में ब्राह्मणों तथा अन्य उच्च वर्ण के लोगों ने अनेक बार भरपूर सहायता की थी। इस विषय में बाबासाहब ने अनेक बार सार्वजनिक रूप से कृतज्ञता भी प्रकट की है। व्यक्तिगत सम्बन्ध तथा सामाजिक समस्याओं का निदान, दोनों भिन्न बातें हैं, परन्तु उनकी स्पष्टवादिता के कारण अनेक बार भ्रम निर्मित होते रहे।

यह सर्वविदित है कि बाबासाहब के ग्रंथ "थाट्स ऑन पाकिस्तान" ने तूफान खड़ा कर दिया था। हिन्दुत्व के समर्थकों को इससे जर्बदस्त धक्का लगा था। तत्कालीन भावना के आवेश में यह सोचने के लिए भी किसी के पास समय नहीं था कि इस ग्रंथ के द्वारा प्रस्तुत मंतव्य के पीछे भी कोई तर्क हो सकता है। बाबासाहब के इस ग्रंथ के निष्कर्षों से पूर्णतः और अंशतः असहमत हुआ जा सकता है लेकिन उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, उसका सभी को, और विशेष रूप से हिन्दुत्व के समर्थक लोगों को अवश्य विचार करना चाहिए। बाबासाहब का यह सुचिंतित निष्कर्ष है कि "मुसलमानों के लिए उनका मजहब सर्वोपरि होने के कारण उन्हें जनतंत्र की कल्पना समझ में नहीं आ सकती। उनकी राजनीति भी मजहब प्रधान होती है। वे समाज-सुधार के भी विरोधी हैं। अपने प्रतिगामी विचारों के कारण ही वे संसार में पहचाने जाते हैं। मुसलमान अपने मजहब को विश्व का मजहब मानता है। लेकिन इस्लाम का बंधुत्व सर्वव्यापक तथा सार्वत्रिक नहीं है। उनका बंधुत्व भाव केवल मुसलमानों तक ही सीमित होता है। जिस देश पर मुस्लिम शासन नहीं, उसे वह "शत्रु भूमि" समझता है। मुसलमान अपने मजहब के लोगों के सिवाय अन्य धर्मियों से घृणा करते हैं, उन्हें शत्रु समझते हैं। ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि इस प्रकार की भावना किसी भी मुसलमान के मन को न छू सके कि "हिन्दुस्थान हमारी मातृभूमि है तथा हिन्दू हमारे भाई हैं"।

आक्रामक वृत्ति मुसलमान के रग-रग में समाई होने के कारण, हिन्दू समाज की दुर्बलता का लाभ उठाने के लिए वे गुंडागर्दी का रास्ता अपनाते हैं। मुसलमानों की प्रतिगामी तथा अराष्ट्रीय वृत्ति के सम्बन्ध में बाबासाहब ने बड़े ही कटु शब्दों में बहुत कुछ लिखा था, लेकिन उनके मित्रों ने उसे प्रकाशित नहीं होने दिया। उनका यह निश्चित मत था कि "मुसलमान जब तक अपने को मुसलमान समझता रहेगा, उसे हिन्दुस्थान के राष्ट्र-देह में आत्मसात् नहीं किया जा सकता। मुसलमानों को साथ लेकर अखण्ड हिन्दुस्थान कभी नहीं बन सकेगा और न ही हिन्दुस्थान का समाज जीवन एकरस हो सकेगा। समुद्र में जहाज न डूबे, इसके लिए आवश्यकता से अधिक जो सामान होता है, उसे फेंक देना पड़ता है और जहाज को डूबने से बचा लिया जाता है।" उनका यह स्पष्ट मत था कि मुसलमान जब तक भारत में रहेंगे तब तक केन्द्र में प्रभावी सरकार का निर्माण संभव नहीं है।

बाबासाहब यह बार-बार दोहराया करते थे कि मुसलमानों को हम आत्मसात् नहीं कर सकेंगे। किसी विदेशी तत्व को राष्ट्र के शरीर में रखने की अपेक्षा उसे निकाल देना ही उचित है। कश्मीर समस्या के सम्बन्ध में एक बार जब मैं उनके वक्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए उनसे मिला था तो वे आवेश में आकर बोले, "देशभक्ति के विषय में मैं आप लोगों से एक कदम भी पीछे नहीं हूं, लेकिन फर्क केवल इतना ही है कि जूता कहां काटता रहा है, इसका मुझे हमेशा-हमेशा अनुभव

होता रहता है, जबकि आप लोगों को जूता काट रहा है इसकी भी अनुभूति नहीं होती। कश्मीर घाटी को यदि भारत में रखना हो तो वहां के समस्त मुसलमानों को हिन्दू समाज द्वारा आत्मसात कर लेना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो यह एक कांटे की तरह सतत चुभती रहेगी। यह समस्या हमारे राष्ट्र के सिर पर सदैव के लिए एक टंगी तलवार जैसी रहेगी। हम अर्थात् "हरिजन" भी तो आपके ही अंग हैं, फिर भी आप हमें अब तक आत्मसात् नहीं कर सके। कश्मीर के सभी मुसलमानों को आत्मसात् करने की शक्ति सवर्ण हिन्दुओं में है क्या? आपकी (सवर्ण हिन्दुओं की) पाचनशाक्ति का अनुमान करने के बाद ही मैंने कहा था कि, यह विदेशी तत्व राष्ट्र शरीर के अंदर रहने देने के बजाय इसे बाहर कर देना श्रेयस्कर होगा।"

उनका यह निष्कर्ष विवाद का विषय हो सकता है। मैंने इस संदर्भ में जो कुछ कहा उन्होंने एक अज्ञानी युवक के विचार जैसा ही महत्व दिया। उस समय भी यह निश्चित ही अनुभव हुआ कि बाबासाहब का निष्कर्ष वर्तमान हिन्दू समाज की पाचन-शक्ति का दुःखद भाष्य है।

फरवरी, १९४२ में बम्बई के वागले हॉल में "थाट्स ऑन पाकिस्तान" विषय पर बोलते हुए बाबासाहब ने कहा था, "जो पाकिस्तान के बारे में चर्चा ही नहीं करना चाहते, ऐसे लोगों के साथ बाद-विवाद करने मे कोई लाभ नहीं है। उन्हें यदि पाकिस्तान का निर्माण अन्याय प्रतीत हो रहा होगा तो पाकिस्तान बनना उनके लिए एक भयंकर घटना सिद्ध होगी। लोगों को इतिहास भुला देने के लिए कहना एक भारी भूल होगी, क्योंकि इतिहास को भुलाने वाले इतिहास का निर्माण नहीं कर सकते। भारतीय सेना को मुसलमानों के प्रभाव से मुक्त करके सेना को एकरस और राष्ट्रभक्त बनाना ही बुद्धिमानी होगी, अपनी मातृभूमि की रक्षा हमीं करेंगे। यह धारणा बिल्कुल निराधार है कि पाकिस्तान बन जाने पर मुसलमान सम्पूर्ण हिन्दुस्थान पर अपना साम्राज्य विस्तार करेंगे। यदि वे ऐसा करेंगे तो हिन्दू उन्हें धूल चटा देंगे। इस बात को स्वीकार करते हुए भी कि स्पृश्य हिन्दुओं से मेरा संघर्ष होता रहता है, मैं आप सब लोगों के सम्मुख यह प्रतिज्ञा करता हूं कि देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए मैं अपने प्राण भी अर्पण कर दूंगा।"

बाबासाहब अम्बेडकर की कुछ सांकेतिक निषेधात्मक कार्यवाही से सनातनी हिन्दुओं का उत्तेजित होना स्वाभाविक है, लेकिन उन्हें भी बाबासाहब की मनोभूमिका को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

कलाकार को अपनी कलाकृति और साहित्यकार को अपनी रचना के प्रति अपनत्व अनुभव होना स्वाभाविक होता है। बाबासाहब ने भी भारत के संविधान का निर्माण किया था। सम्पूर्ण राष्ट्र ने उन्हें "आधुनिक भारत के मनु" के रूप में गौरवान्वित किया। यह उनके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। ध्येय समर्पित जीवन होने के कारण इस गौरव को उन्होंने अतीव निर्लिप्त भाव से स्वीकार किया। संविधान के निर्माण में भी उन्होंने ध्येय के लिए अनुकूल व्यवस्था की। यदि यह संभव न होता तो केवल "आधुनिक मनु" के रूप में गौरवान्वित होने में उन्हें कभी संतोष न होता। स्वयं निर्मित संविधान के प्रति उनमें दिखावटी प्रेम नहीं था। संविधान में जो कमियां रह गई थीं, वे उन्हें भलीभांति जानते थे। उनकी सूक्ष्म दृष्टि का एक उदाहरण देखिए। उन्होंने कहा था :

"छब्बीस जनवरी, १९५० को हम एक अन्तर्विरोधों से युक्त जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति में हम समानता की दुहाई देंगे किन्तु हमारे सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमानता विद्यमान होगी। राजनीति में हम एक मनुष्य का एक मत, और एक मत का एक ही मूल्य वाले सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे तो दूसरी ओर हम अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में इसी सिद्धान्त की धज्जियां उड़ाते रहेंगे। अन्तर्विरोधों से भरपूर इस प्रकार का जीवन हम कब तक जीते रहेंगे। अपने सामाजकि तथा आर्थिक जीवन में समानता को अपनाने से हम कब तक इंकार करते रहेंगे? यदि अधिक समय तक हम समानता को स्थापित करने का विरोध करते रहेंगे तो अपने जनतंत्र को ही संकट में डाल देंगे। इसलिए इन अन्तर्विरोधों को हमें अविलम्ब दूर करना होगा अन्यथा इस संविधान निर्मात्री समिति के द्वारा परिश्रमपूर्वक निर्मित इस जनतंत्र के ढांचे को विषमता से पीड़ित लोग विध्वंस कर डालेंगे।"

अपनी ध्येय-पूर्ति के मार्ग में बाधक सिद्ध होने वाली प्रत्येक बात पर निर्णायक हमला करना उनका स्वभाव था। उनके द्वारा किए गए मनुस्मृति के दाह से सनातनी बंधुओं का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था। लेकिन इस प्रकरण में उन्हें बाबासाहब की मनोभूमिका का भी विचार करना चाहिए था। वे यह भी कहा करते थे कि "यदि मेरे द्वारा निर्मित भारत का संविधान भी मेरी ध्येय-पूर्ति में बाधक बनेगा तो उसे भी जलाने में मुझे कोई संकोच नहीं होगा।"

२ सितम्बर, १९५० को संविधान सभा में दिए गए भाषण में उन्होंने कहा था, "बहुमत वाली सरकार के अनुरोध पर मैंने इस संविधान का निर्माण किया। मुझे जनमत का ध्यान रखकर संविधान का निर्माण करना पड़ा। इसके लिए मैं विवश था। भारत के संविधान में अछूतों की सुरक्षा के विशेष अधिकार राज्यपाल को न होने से यदि उनकी रक्षा न हुई तो मैं ही इस संविधान को भस्म करने वाला पहला व्यक्ति होऊंगा।"

जो निष्कर्ष उन्होंने मनुस्मृति पर लागू किया वही स्वयं निर्मित "भीमस्मृति" अर्थात् भारतीय संविधान पर भी लागू किया। इस बात को समझ लेने पर बाबासाहब के प्रति उत्पन्न अनेक दुराग्रहों से मुक्त होने में सहायता मिलेगी।

बाबासाहब अम्बेडकर के समस्त विचारों का अधिष्ठान धर्म था। अर्थात् धर्म के नाम पर ही ब्राह्मण वर्ग ने बहुजन समाज का शोषण किया। उनके लिए ज्ञान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के द्वार बंद करके उन्हें चिरकाल तक धार्मिक दासता में रखने का प्रबन्ध करके अपने निहित स्वार्थ सदा के लिए सुरक्षित किए। ब्राह्मणों तथा ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध वे इस प्रकार की कटु आलोचना किया करते। फिर भी वे यह कहते थे कि "इसमें दोष ब्राह्मणों का है, धर्म-कल्पना का नहीं।" उनका कहना था कि "दुनिया में कम्युनिस्टों को छोड़कर एक भी मनुष्य ऐसा नहीं मिलेगा, जिसे धर्म की आवश्यकता नहीं है। अतएव धर्म हमें भी चाहिए लेकिन वह सद्धर्म हो। जहां लोग समानता का अनुभव कर सकें, जहां सभी को अपनी उन्नति के अवसर समान रूप से उपलब्ध हों, वही यथार्थ धर्म है। अन्य सभी अधर्म हैं।

"हिन्दू तत्वज्ञान के अनुसार यदि सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है तो वह मेहतर और चमार में भी होना चाहिए। फिर हिन्दू धर्म में असमानता और विषमता क्यों? भगवान् बुद्ध का महाप्रयाण हुए दो हजार से अधिक वर्ष बीत चुके हैं। अभी भी इस धर्म का विस्तार हो रहा है। उसका न तो कोई शास्ता है और न ही कोई सर्वाधिकारी। भगवान् बुद्ध से अन्तिम समय में उनके शिष्यों ने पूछा, "भगवान! आपके महाप्रयाण के पश्चात इस धर्म का क्या होगा? आप किसी को अपना उत्तराधिकारी बना दीजिए। भगवान् बुद्ध ने कहा, "मेरे पश्चात धर्म ही तुम्हारा शास्ता रहेगा। यदि आप लोग धर्म का पालन नहीं करेंगे तो उससे कोई लाभ नहीं। भिक्षुओ! विशुद्ध मन से स्वीकार किए हुए धर्म को ही अपना शास्ता समझो।"

दुनिया के सब व्यवहार धर्म से नियंत्रित होते हैं। किसी मां को उसके नवजात पुत्र के विषय में यह बताया जाय कि यह तेरा पुत्र ही तेरा शत्रु है, तू इसे स्तनपान मत करा, इससे तू दुर्बल होगी, जल्दी वृद्ध होगी, तेरा सौंदर्य समाप्त हो जाएगा, तेरा यह पुत्र ही तेरी मृत्यु का कारण बनेगा", तो क्या वह मां बातों को मानेगी? कितनी भी पीड़ा हो, कितनी भी अस्वस्थ हो, फिर भी वह अपने बालक को स्तनपान कराए बिना नहीं रह सकती। संतान का भरण-पोषण करना ही उसका धर्म है। दुनिया के सारे व्यवहार इसी धर्म से चला करते हैं।

पुणे के विभिन्न कार्यालयों में काम करने वाले लोगों को प्रतिदिन टिफिन पहुंचाने वाले स्वयं आधापेट रहते हुए भी टिफिन में यदि मिष्टान्न भी हो तो उसे खाने की इच्चा नहीं करते। उनकी यह कर्तव्य-बुद्धि, यह प्रामाणिकता ही धर्म है। इस प्रकार मनुष्य के सभी व्यवहार धर्म के द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। इसलिए धर्म का पालन सभी को करना चाहिए। लेकिन वह सद्धर्म हो, अधर्म नहीं। हमें सुकर्म चाहिए, दुष्कर्म नहीं।"

एक बार भगवान बुद्ध से उनके विशाख नामक शिष्य ने प्रश्न किया, "धर्म किसे कहते हैं?" उत्तर मिला, "मलिन मन को निर्मल करना ही धर्म है।"

अस्पृश्यता मार्ग का कोई ऐसा रोड़ा नहीं है कि समाज सुधारक उसे मार्ग से अलग कर सकें। मानसिकता में परिवर्तन आने से ही यह समस्या हल होगी।

"शिक्षा का महत्व अवश्य है। परन्तु उससे भी अधिक महत्व है चारित्र्य और शील का! इसके अभाव में शिक्षा आत्मघातक भी बन सकती है। चारित्र्य और शील का उद्गम धर्म में से ही होता है।"

छह फरवरी, १९५४ को श्री अत्रे की "महात्मा फुले" फिल्म का उद्घाटन करते हुए बाबासाहब ने कहा था, "आज देश में सर्वत्र चारित्र्य का अभाव है। जिस देश में राष्ट्रीय चारित्र्य न हो, उस देश के भविष्य पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है। चाहे श्री जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री हों, चाहे और कोई,चारित्र्य के अभाव में देश का भविष्य अंधकारमय ही होगा। जिसे धर्म के यथार्थ में बोध हुआ हो, वही देश का उत्थान कर सकता है। महात्मा फुले ऐसे ही धर्म सुधारक थे। विद्या, प्रज्ञा, करुणा, शील तथा मैत्रीभाव आदि धर्मतत्वों के आधार पर ही व्यक्ति को अपने चरित्र का गठन

करना चाहिए। करुणा-शून्य विद्वान व्यक्ति को मैं कसाई समझता हूं। करुणा का अर्थ है मानव मात्र पर प्रेम। मनुष्य को इससे भी आगे जाना होगा।"

तेरह जून, १९५३ को बम्बई के वरली कैम्प की महिलाओं केसमक्ष भाषण देते हुए बाबासाहब ने कहा था, "प्रत्येक मनुष्य को मन, वचन और कर्म से शुद्ध होना होगा..... हमने धर्म के लिए सत्याग्रह किया। धर्मान्तरण करने का प्रस्ताव पारित किया। हम सबकुछ कर चुके। अब हमें अपने मन को पवित्र करना होगा। सद्‌गुण प्राप्ति का हमें प्रयास करना होगा। अर्थात् हमें अब धार्मिक बनना होगा। केवल शिक्षित होना ही सबकुछ नहीं है। शील अर्थात् सच्चरित्रता धर्म का अविभाज्य अंग है।

धर्म दुराचरण को नियंत्रित करता है। आप लोगों की समझ में आ सके, इसके लिए मैं बैलगाड़ी का उदाहरण देता हूं। बैलगाड़ी में दो पहिए, दो बैल तथा एक उसे हांकने वाला होता है। गाड़ी के पहियों की धुरी में समय-समय पर तेल देना पड़ता है जिससे गाड़ी आसानी से चलती रहे। बैलगाड़ी की धुरी के समान व्यक्ति के जीवन-रथ की धुरी का काम करता है "धर्म"। "धर्म" के बंधन के बिना कोई भी कार्य स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकता।"

श्रद्धेय बाबासाहब भौतिक-आर्थिक उन्नति का महत्व भी जानते थे। वे यह जानते थे कि "मनुष्य को धर्म तथा अर्थ, दोनों की आवश्यकता होती है। लेकिन वे इस बात पर जो भी जोर देते थे कि "केवल अर्थ अर्थात् समृद्धि अनर्थ का कारण बनेगी। धर्माधिष्ठित अर्थोपार्जन ही श्रेयस्कर है। धर्म की सबसे अधिक आवश्यकता पददलितों को है। संसार में धर्म की आवश्यकता का अनुभव समाज के निम्न श्रेणी के लोगों को ही हुआ। रोमन, इटालियन साम्राज्य में ईसाई धर्म को सर्वप्रथम गरीबों ने ही अपनाया।

संक्षेप में यह कह जा सकता है कि बाबासाहब अम्बेडकर का प्रेरणा-स्रोत विदेशी नहीं, विशुद्ध भारतीय था। धर्म ही उसका अधिष्ठान था। वे सद्‌धर्म चाहते थे, अधर्म नहीं।

शताब्दियों से पददलित, परन्तु अब जाग्रत हो रहे समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति, प्रतिशोध, प्रतिकार तथा आक्रमण की ही हुआ करती है। इससे देश की एकात्मकता खण्डित होने के साथ ही शांति और व्यवस्था भी भंग होती है। बाबासाहब के अनुयायियों में भी प्रतिशोध की भावना रखने वाले लोग थे। बाबासाहब उन्हें समझाते थे कि "भैया रे! यह आत्मघात का मार्ग है। कुछ लोग कहते हैं कि दलित फेडरेशन आक्रामक नीति नहीं अपनाता है। आक्रामक नीति का अर्थ क्या है? आक्रामक नीति हमारे लिए हितकर है क्या? हमने यदि आक्रामक नीति अपनाई तो उसके परिणाम हमको ही भुगतने होंगे। हमारे कारावास में जाने के बाद वे लोग आपको यातना देंगे। कहेंगे, आप लोग अम्बेडकर का साथ देते हैं न! अतः आप सबको सबक सिखाया जाएगा।" इससे संघर्ष के बाजय आप लोग कष्ट उठाएं, अपना मन निर्मल करें, भेदभाव इससे दूर होगा।"

ग्यारह जनवरी, १९५० को बम्बई के नरे पार्क की सभा में अपने सार्वजनिक सम्मान के अवसर पर बाबासाहब ने कहा, "वर्तमान राजनीति की मैं इस समय चर्चा नहीं करूंगा, फिर भी कुछ बातों का उल्लेख अवश्य करूंगा।"

प्रारम्भ में हमारी राजनीति शत्रुता से प्रेरित थी। मेरी दृष्टि में प्रारम्भ में अस्पृश्य वर्ग के सभी नेता कुछ संकुचित दृष्टि के थे और उनके द्वारा वैसा ही व्यवहार भी होता था। मैं भी थोड़ा बहुत इसके लिए उत्तरदायी था। लेकिन अब इसे बदलना होगा।

हमें अब एक बात अवश्य ध्यान में रखनी होगी कि हम अपने लोगों अर्थात् अपने समाज के हितसाधन में लगे थे। इसे आगे भी चलाते रहना होगा। लेकिन इसी के साथ हमें अब इस बात का भी विचार करना होगा कि हम अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा किस प्रकार करेंगे? पूर्व काल में अपना देश स्वतंत्र होने के बाद पुनः पराधीन हुआ था। पहले मुसलमानों ने और फिर अंग्रेजों ने हमें अपने अधीन किया। स्वतंत्रता की आवश्यकता जितनी उच्च वर्ग को है उतनी ही निम्न वर्ग को भी है। अंग्रेजों की दासता से हम मुक्त हुए हैं। अब यदि पुनः पराधीन हुए तो यह हमारा अत्यंत दुर्भाग्य होगा। इसीलिए अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा करना हमें अपना सर्वोच्च कर्तव्य मानना चाहिए।"

भारत के पददलित वर्ग को कम्युनिस्टों की सफलता से प्रभावित होने की संभावना को देखकर बाबासाहब उन्हें चेतावनी देते हुए कहते हैं : "साम्यवाद की सफलता से भ्रमित न हों। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भगवान् बुद्ध को प्राप्त ज्ञान का यदि एक दशांश प्रकाश भी हमें प्राप्त हुआ तो हम प्रेम, ज्ञान और सद्भाव के द्वारा वही परिणाम प्राप्त कर सकेंगे।"

बाबासाहब जनतंत्र के प्रबल समर्थक थे। वे कहा करते थे, "जिस शासन पद्धति से रक्तपात के बिना समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सके, वही यथार्थ में जनतंत्र है।" उनके कम्युनिज्म के विरोध का यह भी एक कारण था। विशुद्ध भौतिकवाद उन्हें नहीं सुहाता था।

भौतिक सुख में आकण्ठ डूबे हुए समाज के सम्बन्ध में वे कहा करते थे, "भौतिक सुख ही मानव का सब कुछ नहीं है। उसके प्राप्त होने पर भी मानव के दुःख का अन्त नहीं होगा। मनुष्य केवल रोटी के लिए ही नहीं जीता, उसे सुसंस्कृति की भी आवश्यकता रहा करती है।"

मार्क्सवादियों से वे कहते हैं : मनुष्य जीवन का लक्ष्य रोटी प्राप्त करना नहीं है। उसके पास मन भी है। मन को विचारों की खुराक चाहिए। धर्म मनुष्य के हृदय में आशा का संचार कराता है। उसे कार्य प्रवृत्त करता है। पददलितों के उत्साह पर हिन्दू धर्म ने तुषारापात किया है। इसी कारण मुझे बौद्ध धर्म अपनाने की आवश्यकता पड़ी, और मैंने बौद्ध धर्म अपनाया। बौद्ध धर्म कालातीत है। वह किसी भी देश में फल-फूल सकता है। जिस देश के लोग मानसिक संस्कारों के बजाय भौतिक समृद्धि को ही प्रधानता देते हैं, ऐसे देश से मैं सम्बन्ध नहीं रखूंगा। यदि हिन्दू धर्म ने दलित वर्ग को शस्त्रधारण करने की छूट दी होती तो यह देश कभी भी गुलाम नहीं होता।"

नागपुर के दीक्षा समारोह के समय बाबासाहब ने कहा था, "मानव मात्र के कल्याण के लिए धर्म की अत्यंत आवश्यकता रहा करती है। मैं जानता हूं कि कार्ल मार्क्स की प्रेरणा से एक पथ का निर्माण हुआ है। उसके कथनानुसार "धर्म" अफीम के समान है। मनुष्य के लिए उसकी कोई

आवश्यकता नहीं है। उसकी दृष्टि में उनका सम्पूर्ण तत्वज्ञान यह है कि मनुष्य को सुबह के नाश्ता में पावरोटी, मक्खन, दोनों समय के भोजन में मुर्गी की टांग, भरपेट भोजन और गहरी नींद मिल जाय तो मनुष्य ने सबकुछ पा लिया। मैं इसे नहीं मानता।"

सितम्बर, १९३७ में मैसूर में सम्पन्न दलित वर्ग के जिला सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण में बाबासाहब ने कहा था : "मेरे कम्युनिस्टों से मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। अपने स्वार्थ के लिए मजदूरों का शोषण करने वाले कम्युनिस्टों का मैं जानी दुश्मन हूं।" पुस्तकों के कीड़े इन कम्युनिस्टों को देश की धड़कन का पता नहीं है। वे कहते हैं : "भारत का श्रमजीवी वर्ग, गरीब होने पर भी, क्या यह कहा जा सकता है कि वह अमीर और गरीब के अतिरिक्त कोई भेद नहीं जानता? क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का निर्धन वर्ग जाति, पंथ, ऊंच-नीच के भेद को नहीं मानता? वर्गभेद के अतिरिक्त यदि वे अन्य भेद भी मानते हैं, और यह वस्तुस्थिति है तो फिर ऐसा श्रमजीवी वर्ग, सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध किए जाने वाले संघर्ष के लिए एकजुट कैसे होगा? और यदि श्रमजीवी एकजुट नहीं हो सके तो क्रान्ति कैसे संभव होगी।" (एन्निहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ० १८)

बाबासाहब के तत्वज्ञान का मूल स्रोत धर्म था। संवैधानिकता तथा जनतांत्रिकता उनके स्वभाव में थी। भगवान् बुद्ध, महात्मा कबीर तथा ज्योतिबा फुले — तीनों उनके गुरु स्थान पर थे। विद्या, विनय और शील उनके लिए आराध्य देव के समान थे। ऐसी मानसिक पृष्ठभूमि का महापुरुष हमें तथाकथित अस्पृश्य वर्ग से प्राप्त हुआ, इसे देश का सौभाग्य ही कहना होगा।

बाबासाहब के विषय में ऐसी अनेक गलत धारणाएं प्रचलित थीं जिनका कोई आधार नहीं था। यहां पर कुछ नमूने प्रस्तुत हैं :

महाराष्ट्र में श्री गोपाल गणेश आगरकर आदि लोगों ने समाज सुधार को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। राजनीति से अधिक वे समाज सुधार को महत्व देते थे। इसका मतलब यह नहीं कि वे स्वराज्य प्राप्ति के लिए बेचैन नहीं थे। लेकिन ऐसा होने पर भी समाज सुधारकों के सम्बन्ध में उस जमाने में अनेक भ्रान्त धारणाएं फैलाई गई थीं। बाबासाहब के सम्बन्ध में भी यही हुआ।

यह एक भ्रान्त धारणा है कि बाबासाहब स्वराज्य के विरोधी थे। किन्तु उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था : "स्वराज्य में संविधान के माध्यम से शासन पर अधिकार करने के अवसर आपको प्राप्त होंगे। शासन पर अधिकार किए बिना आप अपने लोगों का उत्थान कर सकेंगे। अपने लोगों के अधिाधिक कल्याण का विचार करो और मुझे विश्वास नहीं है कि आप लोग स्वराज्य प्राप्ति को अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार करेंगे।"

गोलमेज सम्मेलन में भी उन्होंने अपनी इसी भूमिका को स्पष्ट किया था कि "हमें ऐसा शासन अपेक्षित है, जिसमें शासक लोग देश के हित को ही सर्वोपरि मानकर अपनी समग्र निष्ठा उसे समर्पित करें। हमें ऐसी सरकार चाहिए कि जिसमें सत्तासीन लोगों को इस बात का विवेक हो कि नियम के पालन की सीमा-रेखा क्या है और प्रतिकार का प्रारम्भ कहां से होता है, और जो

सरकार न्याय और विवेक के अनुसार आर्थिक तथा सामाजिक कानूनों में संशोधन करने में नहीं हिचकिचाएगी।"

स्वराज्य प्राप्त करना उनका भी ध्येय था। लेकिन उस स्वराज्य के संविधान में दलितों का क्या स्थान होगा, इस प्रश्न को वे सर्वाधिक महत्व देते थे।

भगवा ध्वज के विषय में उनकी भूमिका श्री धनंजय कीर के शब्दों में ही देनी उचित होगी। श्री कीर कहते हैं : "डा॰ बाबासाहब अम्बेडकर संविधान समिति की ध्वज समिति के भी सदस्य थे। संविधान समिति के द्वारा संविधान का प्रारूप बनाने के लिए एक लेखन समिति का गठन करके डॉ॰ अम्बेडकर को उसका अध्यक्ष बनाए जाने के पहले की यह बात है। वे ३ जुलाई, १९४७ को दिल्ली से बम्बई आए थे। उस समय राष्ट्रध्वज के स्वरूप पर सर्वत्र जोरों से चर्चा चल रही थी। कुछ महाराष्ट्रियन तथा बम्बई प्रांतीय हिन्दू सभा के कार्यकर्ताओं ने उनसे मिलकर उन्हें राष्ट्रध्वज का रंग भगवा रखने का सुझाव दिया। डॉक्टर साहब ने कार्यकर्ताओं से कहा, "यदि प्रभावशाली लोग इसके लिए प्रभावी जनमत का निर्माण करेंगे तो झंडा समिति में ध्वज का रंग भगवा रखने के प्रश्न को मैं उठाऊंगा।" डॉ॰ साहब ने यह आश्वासन श्री अनंतराव गद्रे, प्रबोधनकार ठाकरे तथा मराठा मंदिर के श्री गावडे को दिया था। १० जुलाई को जब डॉ॰ अम्बेडकर बम्बई से दिल्ली जाने के लिए निकले तो सान्ताक्रूज हवाई अड्डे पर बम्बई प्रान्तीय हिन्दू सभा तथा मराठा समाज के कुछ नेताओं ने डॉ॰ अम्बेडकर को एक भगवा ध्वज भेंट किया था। उस समय उन्होंने कहा था, "भगवा ध्वज के लिए यदि कोई आन्दोलन हुआ तो उसे मेरा समर्थन रहेगा।" हिन्दू सभा के नेता श्री बाबासाहब बोले तथा श्री अनंतराव गद्रे से डॉ॰ अम्बेडकर ने कहा, " एक महार के पुत्र के द्वारा आप संविधान समिति पर ध्वज लगाने की अपेक्षा कर रहे हैं, यह ठीक है न?" बाद की घटनाएं सर्वविदित हैं। डॉक्टर साहब की अपेक्षानुसार भगवे ध्वज के लिए कोई आन्दोलन नहीं हो सका।

बाबासाहब ने अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक काल में समरसता की भावना जगाने का विशेष प्रयास किया था। वे इस बात को जानते थे कि केवल सवर्ण समाज का विरोध फलदायी नहीं होगा। बडोदरा के महाराजा श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड़ तथा राजे शाहू छत्रपति के द्वारा अस्पृश्योद्धार के लिए किए जा रहे प्रयासों की उन्हें जानकारी थी। आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, सत्यशोधक समाज, थिओसॉफिकल सोसाइटी आदि संस्थाओं के द्वारा अस्पृश्योद्धार के लिए किए जा रहे कार्य से भी वे परिचित थे। सवर्ण हिन्दुओं के सार्वजनिक नेताओं के द्वारा अस्पृश्यता निवारण के लिए की गई घोषणाओं का भी उन्हें ज्ञान था। इसी कारण २० जुलाई, १९२४ को बम्बई में स्थापित बहिष्कृत हितकारिणी सभा के अध्यक्ष-उपाध्यक्ष के पद पर उन्होंने श्री चिमनलाल सीतलवाड़, रंगलेकर पराजंपे, बालासाहब, खेर जैसे उच्चवर्णीय व्यक्तियों को रखा था। इस संस्था में अन्य उच्चवर्णीय लोगों को भी लिया गया था। अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए बाबासाहब ने कहा था : "जिस वर्ग के उत्थान के लिए संस्थाएं निर्माण की जाती हैं, उस वर्ग के अथवा उसी प्रकार की परिस्थिति से पीड़ित वर्ग के कार्यकर्ताओं को

संस्थाओं में लिए बिना उन संस्थाओं के उद्देश्य की पूर्ति संभव नहीं हो सकती, यह मान्य करने पर भी जिन्होंने इस संस्था की स्थापना की, वे यह भलीभांति जानतें हैं कि उच्च वर्ण के सम्पन्न तथा सहानुभूति रखने वाले लोगों की सहायता के बिना अस्पृश्य वर्ग के उत्थान का यह प्रचण्ड कार्य पूर्ण नहीं हो सकता, और ऐसा न करना अपने ही बंधुओं के उत्थान के इस महान कार्य को हानि पहुंचाने के समान होगा।" प्रारम्भ में बाबासाहब की यही भूमिका थी। लेकिन अपने आपको धर्म के ठेकेदार समझने वाले कुछ लोगों की हठधर्मिता के कारण उन्हें अपनी भूमिका में परिवर्तन करना पड़ा।

बौद्ध धर्म अपनाने के बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व धर्मान्तर की चर्चा के समय स्वातंत्र्य वीर सावरकर, डॉ॰ मुंजे व कांची शंकराचार्य आदि हिन्दुत्ववादी नेताओं के आग्रह पर बाबासाहब ने सिख धर्म अपनाने का निर्णय किया था। उस समय भी उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि "इस्लाम अथवा ईसाई मत को स्वीकार करने पर धर्मान्तरित लोग राष्ट्रविरोधी हो जाएंगे।" हिन्दू सभा के नेताओं से उनके सम्बन्ध थे। लेकिन उनका मत था कि सनातनी वर्ग पर हिन्दू सभा की पकड़ नहीं है और जिनका उस पर प्रभाव है वे लोग हिन्दू सभा के नेताओं जैसे विचार नहीं रखते। इस बात का उन्हें दुःख था कि इसी कारण समाज में मान्यता प्राप्त लोगों का हृदय परिवर्तन करने में अपने को सफलता नहीं मिलती।

यथास्थितिवादियों की हठवादिता के कारण जीवन के संध्याकाल में बाबासाहब को यद्यपि प्रतिक्रियात्मक भूमिका निभानी पड़ी, यह सत्य होने पर भी उनकी भूमिका मूलतः समन्वयात्मक थी। इसे स्वीकार करना होगा। इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। सन् १९३० में उनके द्वारा प्रतिपादित भूमिका देखिए। भारतीय अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति एम॰ एच॰ बेग तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस ने अभी ऐसा सुझाव दिया है कि "अल्पसंख्यक आयोग के स्थान पर राष्ट्रीय एकात्मकता एवं मानव अधिकार आयोग की स्थापना की जाय।" उनके इस सुझाव का सर्वत्र स्वागत किया गया। लेकिन न्यायमूर्ति बेग के इस सुझाव के ५४ वर्ष पूर्व उस समय की अत्यंत विषम परिस्थिति में भी बाबासाहब ने भी इसी प्रकार के विचार रखे थे। उनकी इस बात को लोगों ने भुला दिया है कि "यह समाज अनेक जाति और पंथों में विभक्त है। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की संविधान में व्यवस्था किए बिना यह समाज एकरस और स्वयंशासित समाज के रूप में खड़ा नहीं हो सकेगा। इस सम्बन्ध में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। लेकिन अल्पसंख्यकों को भी इस बात को ध्यान में रखना होगा कि जातियों और पंथों के कारण विभक्त होने पर भी हमारा ध्येय अखण्ड और एकात्म भारत का निर्माण करना ही है। इस लक्ष्य में बाधक बनने वाली किसी भी प्रकार की मांग अल्पसंख्यकों की ओर से नहीं आनी चाहिए।"

इस भूमिका में बाबासाहब ने जिस संतुलन का परिचय दिया है, वह सराहनीय है। स्पष्ट है कि यदि यथास्थितिवादियों ने बाबासाहब को निराश न किया होता तो उनकी योग्यता तथा कर्तव्य का और अधिक रचनात्मक लाभ देश को मिलता।

भारतीय परिस्थिति में सामाजिक समता की समस्या अत्यंत उलझनपूर्ण बन गई है और उसे बहुआयामी स्वरूप प्राप्त हो गया है। इसका सम्यक ज्ञान न रखने वाले सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने में लगे हुए राजनीतिक नेताओं के उत्तेजना फैलाने वाले आन्दोलनों से यह समस्या अधिकाधिक उलझती जा रही है। फिर भी परिवर्तित परिस्थिति की पृष्ठभूमि में इस समस्या के सम्बन्ध में विचारवान लोगों के द्वारा निकाले जाने वाले निष्कर्ष दोनों पूजनीय डाक्टरों (डाक्टर अम्बेडकर और डाक्टर हेडगेवार) के सुचिंतित निष्कर्ष को पुष्ट करते हैं। उदाहरण के रूप में अभी-अभी प्रकाशित "कम्पीटिंग इक्वलिटीज" नामक ग्रंथ में मार्क गलैण्टर ने भारत में हो रहे सामाजिक अन्याय, उसके विरुद्ध हुए विद्रोह, संविधान में निर्दिष्ट उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अब तक किए गए संवैधानिक आन्दोलनों का इतिहास और उससे उत्पन्न विवादों में उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय दिए हैं।

ग्रंथ के प्रारम्भ में ही श्री गलैण्टर ने लिखा है : "अतीतकाल से समाज के जो वर्ग पीड़ित और शोषित रहे हैं, उन वर्गों को विशेष राहत देने की भारतीय पद्धति की व्याप्ति तथा उसका विस्तार अभूतपूर्व है। भारत ने समाज में प्रचलित विषमता की बारीकियों का सुस्पष्ट और मूल्यात्मक अध्ययन करके समानता को मूलभूत रूप से स्वीकार किया है। समाज के विभिन्न वर्गों मे बद्धमूल विषमता की भावना को समाप्त करने के लिए भारत के संविधान में प्रावधान किया गया है। परिणामस्वरूप, इस प्रकार की अनेक योजनाएं बनाई गईं, जिनको मैं क्षतिपूर्ति के रूप में किया जाने वाला भेदभाव कहता हूं। समाज के एकदम निम्नतम स्तर के वर्ग की उपेक्षा करने की राष्ट्र की प्रवृत्ति को देखकर यही कहा जा सकता है कि विगत तीस वर्षों में क्षतिपूर्ति के नाम पर किए जाने वाले भेदभाव की यह नीति बड़े आग्रह के साथ निरंतर क्रियान्वित की जा रही है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कार्यान्वियन हमेशा कठोरता तथा प्रभावी ढंग से किया गया है।"

किसी विदेशी विद्वान के द्वारा भारत की इन उलझनभरी आंतरिक समस्याओं का इतना परिश्रमपर्वूक अध्ययन किया जाना निश्चित रूप से सराहनीय है। इसके लिए भारतवासी उसके प्रति कृतज्ञ हैं। लेकिन इस देश के समाज की धड़कन का ज्ञान न होने तथा अमेरिका के नीग्रो वंश के उत्थान के लिए किए गए अमेरिकन प्रयासों के इतिहास की पृष्ठभूमि मन में होने के कारण इन समस्याओं के मूल में पहुंचना उनके लिए संभव नहीं हो सका। फिर भी गहन अध्ययन के पश्चात निम्नलिखित निष्कर्ष तक वे पहुंच सके कि "सर्वसाधारण समता और क्षतिपूर्ति के न्याय के प्रश्न से जो परस्पर विरोधी मांगें उठ रही हैं, उनकी जटिलताओं को ध्यान में रखकर निर्माण होने वाले संभावित अनिष्ट परिणामों को न्यायालय ही अपने संतुलित निर्णयों के द्वारा टाल सकते हैं। लेकिन इस प्रकार की प्रक्रिया को कार्यान्वित करने का जो मूल्य चुकाना पड़ेगा अथवा उसके परिणामस्वरूप जो अपेक्षा भंग होगी उसका सामना करने की पर्याप्त क्षमता का परिचय संभवतया न्यायालय नहीं दे सकेंगे।"

शासकीय सेवाएं, शिक्षा तथा राजपत्रित अधिकारियों की आरक्षण सम्बन्धी नीतियों के कारण उठे देशव्यापी तूफान के संदर्भ में उठ रही जातीय समस्याओं अप्रभावकारिता की गंभीरता

तथा व्याप्ति की कल्पना ध्यान में आती है। उपर्युक्त ग्रंथ से यह स्पष्ट होता है कि संविधान, कानून और न्यायालयों के द्वारा सामाजिक न्याय तथा तदन्तर्गत सामाजिक समता सुलझनी संभव नहीं है।

"इक्वलिटी एण्ड इनइक्वलिटी थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस" शीर्षक से एक नया ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन श्री. आन्द्रे बतील (Andre Betelle) ने किया है। ग्रंथ में इस विषय के विद्वानों के लेखों का संग्रह है। इसमें विषय के शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। उस ग्रंथ में संकलित लेखों से यह स्पष्ट होता है कि केवल संविधान में संशोधन करने अथवा कानून बनाने से "सामाजिक समता" निर्माण नहीं हो सकती। इस ग्रंथ का निष्कर्ष है कि सार्वजनिक शिक्षा की कमियों को कानून से दूर नहीं किया जा सकता। सम्पादक महोदय अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं : "भारतीय लोग सामाजिक समता के आदर्श को प्रभावी ढंग से व्यवहार में ला सकते हैं या नहीं, यह इस पर निर्भर करेगा कि उनके द्वारा निर्मित की जाने वाली संस्थाओं के पालन में वे कितनी दृढ़ता से जुटते हैं।"

जो लोग इस समस्या की ओर निष्पक्ष तथा अध्ययन की दृष्टि से देखते हैं, ऐसी लगन वाले विचारकों में से एक विद्वान डा. शिवरामैय्या की यह प्रतिक्रिया है कि "संविधान के मूलभूत अधिकारों में समानता के आधारभूत कानून के समाविष्ट किए गए प्रावधान और शासन के निदेशक सिद्धान्त में जो परस्पर विरोध और विसंगति है उसके कारण अवरोधों में वृद्धि हुई है। इनमें से अधिकांश विसंगतियों का निर्माण साधनों के अभाव में से हुआ है। इस अभाव के कारण एक ओर समाज के दुर्बल घटकों के प्रति कर्तव्य की पूर्ति तथा दूसरी ओर उनमें गुणवत्ता का निर्माण करना शासन के लिए संभव नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में निदेशक सिद्धान्त अभावग्रस्त लोगों का उपहास ही प्रतीत होते हैं। बेरोजगार लोग काम का अधिकार किस प्रकार प्राप्त करें अथवा साधनहीन लोगों को न्याय प्राप्ति के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता किस प्रकार प्राप्त हो, इसका कोई समाधान निदेशक सिद्धान्तों में उपलब्ध नहीं है।"

संविधान के अनु० १६ में उपबंधित समता की गुणवत्ता पर आधारित तथा विशिष्ट प्रमाण को निश्चित करने वाली कल्पना का जो संतुलन रखा गया है उसमें से कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं। समान अवसर की गुणवत्ता पर आधारित अधिकार यदि व्यक्ति को न्याय प्रदान करने वाला हो तो सुरक्षित स्थान रखने वाला भेदभाव विशिष्ट वर्ग का पक्षपात करने वाला प्रतीत होता है। प्रथम प्राप्त अधिकार यदि न्यायालय के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है तो दूसरे प्रकार का अधिकार विधान सभाओं के नीति निर्धारण तथा शासन के द्वारा उनके क्रियान्वयन पर आधारित है। शासन के दोनों विभागों — न्यायपालिका और कार्यपालिका — द्वारा मूलभूत अधिकारों के कुछ विशिष्ट पहलुओं पर विशेष जोर देने के कारण कभी-कभी संघर्ष के प्रसंग भी उत्पन्न होते हैं।"

इस ग्रंथ की समालोचना में श्री श्यामलाल ने जो अभिप्राय व्यक्ति किया है वह एक प्रकार से ग्रंथ में प्रतिपादित विषय का समापन है। श्री श्यामलाल लिखते हैं : "इस ग्रंथ के लेखक सुलभ

तथा संभ्रमित निष्कर्षों के प्रति सजग हैं। उनकी सारी उठापटक का उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करना है कि उलझी हुई परिस्थिति हमारी सामान्य कल्पना से भी अधिक पेचीदगियों से भरी हुई है। गरीबों के मसीहा बनकर एक विशिष्ट प्रकार के वक्तव्य देने वाले लोगों के बताए हुए उपायों से यह समस्या हल होने वाली नहीं है। ग्रंथ के लेखकों ने बार-बार इसी को ध्यान में लाने का प्रयास किया है। इस समस्या का समाधान न तो उदार गांधीवादी और न ही मार्क्सवादी सांचेबंद विचारों से होने वाला है। यह समस्या अपेक्षा से अधिक जटिल है।"

इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि यह समस्या राजनीतिक आन्दोलन अर्थात् सतही उपायों से हल होने वाली नहीं है। इस प्रकार के उपाय तत्काल फलदायी भले ही प्रतीत होते हों, लेकिन सम्पूर्ण सामाजिक समता के निर्माण में वे अपर्याप्त ही हैं और भविष्य में भी अपर्याप्त सिद्ध होंगे। इस समस्या के स्थायी समाधान के लिए मौलिक और गहन चिंतन के प्रकाश में दीर्घकालीन व्यावहारिक उपाय योजना की आवश्यकता है। इसके अभाव में चुनाव जीतने के लिए मत भले ही मिल जाएंगे, लेकिन समस्या तथावत् बनी रहेगी।

उपरिनिर्दिष्ट दोनों भारतीय महापुरुषों (डॉक्टर अम्बेडकर और डॉक्टर हेडगेवार) की वृत्ति संत तुकाराम जैसी थी। "सत्य-असत्य का विवेक द्वारा निर्णय करके बहुमत को अस्वीकार कर दिया"।

इस कारण ये दोनों डाक्टर— डॉ. हेडगेवार तथा डॉ. अम्बेडकर — सुगम प्रतीत होने वाले उपायों के मोह से प्रभावित नहीं हुए। मूलगामी विचार द्वारा प्राप्त निष्कर्ष के आधार पर इन्होंने दीर्घकालीन उपाय-योजना से समस्या के स्थायी समाधान का मार्ग अपनाया। बाबासाहब का मानस किस प्रकार काम कर रहा था, इसकी कल्पना ऊपर दिए गए उदाहरणों से की जा सकती है। अत्यंत उत्तेजक वातावरण तथा विस्फोटक परिस्थिति में भी अपना मानसिक संतुलन कायम रखते हुए शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक मार्ग से ही उन्होंने अपना आन्दोलन जारी रखा। अनेक बार उन पर हमले हुए। उनके अनुयायी भी जवाबी हमलों के लिए उतावले हो रहे थे। बाबासाहब ने यदि अपने अनुयायियों को संयम में न रखा होता तो भीषण दंगे भी हो सकते थे। ऐसी विषम परिस्थिति में भी उनके द्वारा सामाजिक समता का उद्घोष किया जाना उनकी महानता का परिचायक है। उनके सम्मुख समताधिष्ठित भारत का एक भव्य चित्र था। उनके मन में विशुद्ध देशभक्ति का भाव था। उन्होंने कहा था, "मेरे भारत में जयचन्द तथा राजा दाहिर के मंत्रियों जैसे लोग पैदा नहीं होंगे।" उन्होंने सवर्ण लोगों को भी समझाने का प्रयास किया। लेकिन जब सफलता नहीं मिली तो उन्हें विवश होकर अन्य मार्ग अपनाने पड़े। फिर भी वे मार्ग धर्माधिष्ठित तथा संवैधानिक ही थे। उनके इस संयम, मानसिक संतुलन तथा विवेक का विचार करने पर उनके मनश्चक्षु के सम्मुख भावी भारत का जो चित्र था, उसकी कल्पना हम कर सकते हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में से मार्ग निकालने के लिए तात्कालिक उपचार के रूप में राजनीतिक हल का प्रयोग करना आवश्यक प्रतीत होने पर भी इस राष्ट्रीय रोग का बाबासाहब ने जो निदान किया था उसे जान लेना उचित होगा। उनका यह स्पष्ट मत था कि "हमें ऐसा प्रयत्न

करना है कि अपने देश में वर्ग संघर्ष, वर्गयुद्ध जैसी स्थिति का निर्माण न हो। सम्पूर्ण समाज में एकात्मता निर्माण होने पर ही सभी समस्याओं का हल हो सकेगा।"

ध्यान देने की बात यह है कि एक विशिष्ट भूमिका को अपनाने के कारण उन्होंने सत्य के एक ही पहलू पर विशेष बल दिया है। (सत्य एक होने पर भी उसके कई पहलू होते हैं और विभिन्न लोगों ने विभिन्न पहलुओं पर बल दिया है)। उन्होंने इस बात पर सबसे अधिक बल दिया कि वर्ग और जाति के आधार पर देश का विघटन न हो। लेकिन उच्चवर्गीय लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे, इसी कारण विवश होकर बाबासाहब को सरकार तथा उच्चवर्ण के लोगों के विरुद्ध हरिजन बंधुओं को संवैधानिक संघर्ष के लिए तैयार करना पड़ा।

सत्य के दूसरे एक पहलू पर बल देकर ऐसे ही एक महापुरुष ने, जिन्हें लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के निर्माता डा. हेडगेवार के रूप में जानते हैं, इस समस्या को हल करने के लिए अन्य मार्ग का अवलम्बन किया। डॉ. हेडगेवारजी की भूमिका यह थी कि हमें वर्गभेद, जातिभेद और उससे उत्पन्न होने वाले संघर्ष नहीं चाहिएं, यह तो ठीक है, लेकिन उन्हें समाप्त करने का मार्ग क्या है? यह कहना तो सरल है कि यह घातक है। इसे छोड़ा जाए। लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर यह दिखाई देगा कि निषेधात्मक भूमिका से अनेक बार प्रतिक्रिया का निर्माण होता है। "भेद भूलो भेद छोड़ो" कहने का एक प्रकार हो सकता है और दूसरा प्रकार है "हममें सतही भेद दिखाई देने पर भी हम एक ही अधिष्ठान पर खड़े हैं, इसलिए कि हम सब एक हैं।" दृष्टिकोण में अन्तर आने से शब्द-रचना तथा मनोभूमिका में भी अन्तर हो जाता है। बात वही होने पर भी किसी बात पर विशेष बल देने तथा उसको प्रस्तुत करने की पद्धति में बदल करते ही मनोवैज्ञानिक परिणाम भिन्न हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक रोचक दृष्टान्त बताया जाता है। एक जादूगर ने गांव में जाकर यह घोषणा की कि "मेरे पास जादू की एक ऐसी लकड़ी है जिसे मंत्रोच्चार के साथ थाली में भरे जल में घुमाने से उस थाली का सारा जल सोने में परिवर्तित हो जाता है।" इस प्रयोग का शुल्क अत्यल्प रखा गया है। यह सुनकर उसके पास लोगों की भीड़ जमा होनी स्वाभाविक थी। इतना सस्ता सौदा कौन नहीं चाहेगा? लेकिन उसके पास आने वालों से वह एक कर्मकाण्ड कराता, "स्नान करो, यहां बैठो, ऐसे बैठो, नेत्र मूंदों, जादुई लकड़ी हाथ में लो, मन को स्थिर करके मंत्र जपो।" और अन्त में वह एक चेतावनी देता, "यह सब करने से अब जल सोने में परिवर्तित होने वाला है, केवल एक बात का ध्यान रखो कि आपके ध्यान में कहीं बंदर का स्मरण न आ जाए। बंदर का स्मरण आते ही मंत्र का प्रभाव समाप्त हो जाएगा और अभीष्ट परिणाम नहीं निकलेगा।" मंत्रोच्चार के समय "बंदर को ध्यान में मत लाना।" यह बताने के कारण जो भी व्यक्ति शुल्क देकर जादुई लकड़ी के साथ आसन पर बैठकर मंत्रोच्चार प्रारम्भ करता उसे हठात् बंदर का ध्यान आ जाता। पानी सोना न बनता तो वह व्यक्ति यह सोचता कि मंत्र तो शक्तिशाली है, लेकिन क्या करें, बंदर के ध्यान से वह प्रभावहीन हो गया। मेरे ही भाग्य में ही खोट है।"

तात्पर्य यह है कि उपदेश अच्छा होने पर भी यदि वह निषेधात्मक रूप में किया गया तो जिस बात का निषेध किया जाता है, वही बात मन में बैठ जाती है। इसलिए डॉक्टर हेडगेवारजी ने

वर्ग-भेद, जाति-भेद आदि का निषेध करने के बजाय "हम सब एक हैं" की विधायक भूमिका को अपनाकर एकान्तिक प्रयोग प्रारम्भ किंया। उन्होंने जातियों के अस्तित्व को ही मान्यता नहीं दी। कहा — "हम सभी हिन्दू हैं, कहां है अस्पृश्यता? हमारे लिए सभी हिन्दू के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं।" उनकी इस भूमिका से समाज के हिताहित का निर्णय तो भविष्य में होगा, लेकिन आज तो इतना ही कहा जा सकता है कि यह अभिनव प्रयोग डॉक्टर हेडगेवार जी के द्वारा प्रारम्भ हुआ। डॉक्टर हेडगेवार के इस प्रयोग से भगवान बुद्ध का उपदेश स्मरण हो आता है कि "भिक्षु संघ का सम्बोधन करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा, "हे भिक्षुओ! तुम विभिन्न जातियों तथा विभिन्न देशों से यहां एकत्र आए हो। अपने प्रदेश में बहते समय सभी नदियों का पृथक अस्तित्व रहा करता है, लेकिन उनके समुद्र में मिल जाने पर अपना पृथकत्व खोकर वे महासागर कहलाने लगती हैं। बौद्ध संघ भी महासागर के समान है। इस संघ में सभी समान होते हैं।"

डॉक्टर हेडगेवार जी का संघ भी सागर के समान है। दोनों डाक्टरों का लक्ष्य सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं को हल करना था। लेकिन दोनों भिन्न परिस्थिति में होने के कारण लक्ष्य एक ही होते हुए भी वहां तक पहुंचने के मार्ग भिन्न रहे। दोनों ने भिन्न पहलुओं पर बल दिया। सन् १९३४ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का शीत शिविर वर्धा में पूज्य महात्मा गांधी के आश्रम के पास ही लगा था। पूज्य बापू ने शिविर देखने की इच्छा प्रकट की। वर्धा के संघचालक श्रीमान् अप्पाजी जोशी ने शिविर में उनका स्वागत किया। पूज्य महात्मा जी ने बड़ी बारीकी से शिविर की व्यवस्था का निरीक्षण करने के पश्चात पूछा, "इस शिविर में हरिजन कितने हैं?" अप्पाजी ने कहा, "यह बताना कठिन है, क्योंकि हम सभी को हिन्दू के रूप में ही देखते हैं और इतना ही हमारे लिए पर्याप्त होता है।" पूज्य महात्मा जी ने कहा, "क्या मैं आप के स्वयंसेवरों से पूछताछ कर सकता हूं?" अप्पाजी ने कहा, "जैसी आपकी इच्छा।" महात्मा जी के द्वारा अनेक स्वयंसेवकों से उनकी जाति पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि शिविर में अनेक हरिजन बंधु भाग ले रहे हैं, और परस्पर की जाति जानना वे आवश्यक नहीं समझते। भोजन आदि सभी कार्यक्रमों को वे साथ-साथ करते हैं। दूसरे दिन नागपुर से आने पर डा. हेडगेवारजी महात्मा जी से मिलने गए। पूज्य महात्मा जी ने डा. हेडगेवारजी से यह जानना चाहा कि संघ में अस्पृश्यता निवारण का कार्य किस प्रकार किया जाता है?" डॉक्टरजी ने बताया, "हम अपस्पृश्यता दूर करने की बात नहीं करते, वरन् हम स्वयंसेवकों को इस प्रकार विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं कि "हम सभी हिन्दू हैं। एक परिवार के सदस्य हैं।" जिसके कारण स्वयंसेवकों के मन से स्पृश्यास्पृश्य की भावना स्वतः दूर हो जाती है।" सन् १९१६ में अनुशीलन समिति के एक प्रमुख नेता श्री त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती को डॉ. हेडगेवार ने कहा था, "जब तक हिन्दू समाज के व्यक्ति-व्यक्ति की सोच में परिवर्तन नहीं होता, तब तक केवल अंग्रेजों के चले जाने से विशेष लाभ होने वाला नहीं है। समाज के व्यक्ति-व्यक्ति की मानसिकता में परिवर्तन लाने का कार्य मैं प्रारम्भ करने वाला हूं।"

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मूल प्रेरणा है कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज एक बृहत परिवार है। कुछ वर्ष पूर्व श्रीगुरुजी के भाषणों को लेकर योजनापूर्वक गलत धारणा फैलाने का प्रयास किया गया

था। परन्तु विपरीत प्रकार की वह आंधी शान्त होने के बाद जनसाधारण को श्रीगुरुजी की भूमिका समझना संभव हो सका। उसके पश्चात राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तृतीय सरसंघचालक श्री बाबासाहब देवरस के द्वारा पुणे की वसंत व्याख्यानमाला में इसी विषय पर दिए गए भाषण से तो बची-खुची भ्रान्तियां भी पूरी तरह से धुल गईं। श्रीगुरुजी कहा करते थे कि "सवर्णों के हृदय की संकुचितता के कारण यह समस्या निर्माण हुई है। अपने आपको उच्च वर्ग का समझने वाले लोगों के मन में जड़ जमाकर बैठी अस्पृश्यता को उखाड़ना ही मुख्य काम है। नवजाग्रत अस्पृश्यों का उत्तेजित होना स्वाभाविक है। सवर्ण लोगों के मन की अस्पृश्यता समाप्त करना ही इस समस्या का एकमात्र हल है। नवजाग्रत अस्पृश्य वर्ग में जो विद्रोह का भाव पनप रहा है उससे उनकी प्रगति का पथ प्रशस्त होगा। फिर भी समस्या का स्थायी हल भावात्मक पारिवारिक भावना से ही संभव होगा।" श्रीगुरुजी के कथानानुसार "आज चातुर्वर्ण्य में से न तो किसी वर्ण का अस्तित्व है और न ही किसी जाति का। आज तो हम सभी का एक ही वर्ण और एक ही जाति है और वह है "हिन्दू।"

यह भी सच है कि अपने स्वाभाव के अनुकूल न होने के कारण डाक्टरजी अथवा श्रीगुरुजी ने अन्य समाज सुधारकों जैसा समाज को सुधारने या उपदेश करने वाले नेता की भूमिका नहीं अपनायी। दोनों का ही स्पष्ट मत था कि यह कार्य धर्माचार्यों का है। श्रीगुरुजी ने परस्पर कभी एकत्र न आने वाले धर्माचार्यों को विश्व हिन्दू परिषद् के माध्यम से सन् १९६६ में एकत्र लाकर यह कठिन कार्य सम्पन्न किया। बाबासाहब अम्बेडकर भी कहा करते थे कि किसी धार्मिक अथवा सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में यदि श्री गोलवलकर एक निर्णय देते हैं और उसी समस्या के सम्बन्ध में शंकराचार्य भिन्न निर्णय देते हैं तो ऐसी स्थिति में सनातनी सवर्ण हिन्दू किसके निर्णय को शिरोधार्य मानेगा? अर्थात् शंकराचार्य का ही निर्णय माना जाएगा। शंकराचार्य को मानता कौन है? कौन है यह शंकराचार्य? इस प्रकार कहने वाले हमारे तथाकथित प्रगतिवादी लोगों को श्रीगुरुजी शांति से समझाते थे : "भले लोगो! यह मुख्य प्रश्न नहीं है कि शंकराचार्य को हम और आप मानते हैं या नहीं, महत्व का प्रश्न यह है कि जिन सर्वण लोगों को आप और हम छुआछूत की भावना त्यागने को कह रहे हैं, वे किसे मानते हैं? वे मुझे भी नहीं मानते और आपको भी नहीं मानते। वे तो धर्माचार्यों का ही आदेश मानते हैं। मेरी और आपकी बात वे मानने को आज तैयार नहीं हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे लोगों के हृदय परिवर्तन के लिए उन्हें धर्माचार्यों का आदेश प्राप्त कराना ही एक मात्र उपाय हो सकता है।" कोई भी निष्पक्ष, विवेकशील व्यक्ति इसे स्वीकार करेगा। इस दृष्टि से विश्व हिन्दू परिषद द्वारा किया गया कार्य समाज सुधारकों के द्वारा किए जाने वाले प्रचारात्मक कार्य जैसा न होते हुए भी अधिक मूलग्राही है। डॉक्टर हेडगेवार द्वारा अपनाई गई भूमिका के सफल परिणाम सामने आ रहे हैं। डॉक्टर अम्बेडकर के मन में भी यही भावना थी, यह मैंने उनके कुछ उदाहरणों के माध्यम से प्रस्तुत की है।

अब तक तो जातिगत भेद ही थे, अब उसमें राजनीतिक दलों के भेद की वृद्धि हो चुकी है। यह भी एक चिंता की बात है। बाबासाहब ने समापन के अपने अन्तिम भाषण में अपने हृदय की तड़पना को व्यक्त करते हुए कहा था कि "हमें अपनी राष्ट्रीय एकता को हर कीमत पर अक्षुण्ण रखना

होगा।" इस बात का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों महापुरुषों की भावना तथा लक्ष्य एक ही था। अन्तर केवल समस्या को हल करने के उपाय में था। बाबासाहब भी यह जानते थे कि सामाजिक समरसता के बिना समता का निर्माण असंभव है। २५ नवम्बर, १९४७ को उन्होंने दिल्ली में दिए गए अपने भाषण में इसे स्पष्ट किया था। उन्होंने कहा था, "हम भाईचारे को अपने व्यवहार में नहीं लाते, यह हमारी दूसरी कमजोरी है। हम सभी भारतीय परस्पर भाई हैं। सभी भारतीयों के मन में परस्पर जो आत्मीयता का भाव होता है, उसे ही "बन्धुभाव" कहा जाता है। सामाजिक जीवन में एकता का अमृत-सिंचन करने वाला यह "बन्धुभाव" ही है। इस भावना को नित्य के व्यवहार में सफलतापूर्वक निभाना विकट कार्य है। भारत में अनेक जातियां हैं इसी के कारण समाज में अलगाव पैदा होता है। यह देश की एकता के लिए घातक है। ये जातियां इसलिए भी घातक हैं कि वे परस्पर घृणा और द्वेष भावना पैदा करती हैं। यदि हमें राष्ट्र के रूप में खड़ा होना है तो इन सभी बाधाओं को दूर करना ही होगा। राष्ट्र भावना के जागरण से ही बंधुत्व की भावना निर्माण हुआ करती है और बिना बन्धुभाव के समता और स्वतंत्रता की बातें कोरी बकवास बनकर रह जाती हैं।"

हिन्दू समाज की एकात्मकता के अभेद्य दुर्ग में सामाजिक विकृतियों के कारण जो दरारें पड़ी हैं, उसकी कल्पना बाबासाहब को अच्छी प्रकार से थी। इसी कारण उनका हृदय अत्यन्त व्यथित रहा करता था। उनकी आन्तरिक इच्छा थी कि सामाजिक समरसता शीघ्रातिशीघ्र निर्माण हो। सामाजिक समरसता की परिभाषा और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा था : "सामाजिक समरसता के लिए किसी सामूहिक कार्य में सभी का सहभाग आवश्यक हुआ करता है। तभी प्रत्येक व्यक्ति में अन्य लोगों को कार्यप्रवृत्त करने के लिए आवश्यक भावना का स्पन्दन होता है और उस कार्य के साथ वह एकाकार होने लगता है। उस कार्य की सफलता अथवा असफलता को वह अपनी सफलता अथवा असफलता मानने लगता है। यही व्यक्ति-व्यक्ति को परस्पर जोड़ने वाली सशक्त कड़ी हुआ करती है। इसी के सहारे समाज खड़ा हुआ करता है। समाज कार्य में सहभागी होने में जाति व्यवस्था बाधक बनी और इसी कारण हिन्दू लोग एकात्म जीवन तथा आत्मगौरव की भावना के साथ समाज के रूप में कभी खड़े ही नहीं हुए।"

हिन्दू समाज के लिए श्रद्धेय बाबासाहब के हृदय की यह तड़पन डॉक्टर हेडगेवारजी के हृदय की बेचैनी से भिन्न थी, यह कहना बौद्धिक अप्रामाणिकता होगी।

डॉ॰ हेडगेवारजी का समरसता तथा श्रद्धेय डॉ॰ बाबासाहब अम्बेडकर की समता, दोनों ही आवश्यक हैं। लेकिन समरसता के बिना समता का निर्माण कदापि संभव नहीं। मनोविज्ञान के अनुसार यदि मनुष्य में समाज के प्रति समरसता का भाव न रहा तो विषमता का निर्माण होना निश्चित है। सम्पूर्ण समाज के प्रति समरसता का भाव न होने पर बुद्धिमान लोगों द्वारा भोलेभाले लोगों का, बलवानों द्वारा निर्बलों का, धनी लोगों द्वारा निर्धनों का शोषण क्यों नहीं होना चाहिए, इसका कोई न्यायसंगत उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसलिए अन्य लोगों के शोषण की क्षमता होने पर भी किसी का भी शोषण न करते हुए व्यक्ति अपने कर्तृत्व का उपयोग अन्य लोगों के कल्याण के

लिए तभी करेगा जब उसमें समाज के प्रति समरसता का भाव होगा। इसलिए समता के लिए पहली शर्त होगी समरसता और पारिवारिक भावना। सम्पूर्ण समाज मेरा परिवार है, इस भावना में से निर्माण होती है "समरसता"। समरसता में से स्वाभाविक रूप से निर्मित होती है "समता"। विषमता दूर होकर "समता" का निर्माण आवश्यक होने पर भी "समता" गन्तव्य अर्थात् अन्तिम पड़ाव नहीं हो सकती। उसे एक बीच का पड़ाव ही कहा जा सकता है। अन्तिम प्राप्तव्य तो "समरसता" ही होगी। उसके अभाव में "समता" की अवस्था प्राप्त होने पर भी वह स्थायी नहीं हो सकेगी। बाबासाहब के एक भाषण से भी यही भाव प्रकट हुआ था। उन्होंने कहा था, "मेरे तत्वज्ञान का अधिष्ठान है "धर्म"। उसे राजनीति से जोड़ना भूल होगी। मैंने गुरुस्थान पर भगवान बुद्ध को स्वीकार किया है। उनके उपदेशों से मैंने अपने तत्वज्ञान का स्वरूप निर्धारित किया है। मेरे तत्वज्ञान में स्वातंत्र्य और समता को प्रमुखता दी गई है। लेकिन असीमित स्वतंत्रता से समता का नाश होता है और विशुद्ध समता में स्वतंत्रता का विकास नहीं होता। मेरे तत्वज्ञान में स्वतंत्रता तथा समता का दुरुपयोग न हो, इसके लिए कुछ निर्बन्ध रखे गए हैं। लेकिन ये निर्बन्ध स्वतंत्रता तथा समता के सम्बन्ध में होने वाले उल्लंघन से रक्षा कर सकेंगे, इस पर मेरा विश्वास नहीं। स्वतंत्रता तथा समता का संरक्षण केवल बन्धुभाव से ही संभव है। इसी बंधुभाव को मानवता कहते हैं और मानवता ही धर्म का दूसरा नाम है। इसी बंधुभावना को सामाजिक समरसता भी कहते हैं। यही मानवता है, यही है धर्म। भगवान् बुद्ध की मैत्री और करुणा में से समरसता ही फलती-फूलती है। इसी के माध्यम से समता का जन्म होता है। समता को अन्तिम गंतव्य बताने वाले प्रोग्रेसिव, लिबरल, रैडिकल, रेवाल्यूशनरी आदि लोगों को मैं चुनौती देता हूं कि वे मुझे दुनिया के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण दिखा दें कि जहां समता पर ही बल देकर समता स्थापित हुई हो। प्रत्येक क्रान्ति हमें यही बताती है कि जो आप्रेस्ड अर्थात् शोषित थे उन्होंने ही शोषण करने वालों के विरुद्ध विद्रोह किया है। लेकिन प्रसिद्ध विचारक श्री फ्रायर का कथन है कि जब-जब शोषित लोग शोषण करने वालों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तो उस विद्रोह अर्थात् क्रान्ति का नेतृत्व दो प्रकार के लोगों के हाथ में होता है; एक तो वे लोग, जो शोषक वर्ग को हटाना चाहते हैं लेकिन उनके जीवन-मूल्यों से उनका कोई विरोध नहीं होता, उन्हें वे यथावत रखना चाहते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि वर्तमान शोषकों को हटाकर उनका स्थान वे स्वयं लेना चाहते हैं। श्री फ्रायर का कथन है कि ऐसी स्थिति में क्रान्ति तो सफल होती है, शोषक वर्ग समाप्त हो जाता है, शोषित वर्ग के नेताओं के हाथ में सत्ता भी आ जाती है, लेकिन उन नवीन सत्ताधारियों के जीवन-मूल्य उनके पूर्ववर्ती शोषक वर्ग के ही होने के कारण वे उसी शोषण को दुगुनी गति से प्रारम्भ कर देते हैं। इस कारण जनता की स्थिति, "आकाश से गिरे और खजूर पर अटके" वाली कहावत जैसी हो जाती है। शोषण करने वाले बदल जाते हैं, लेकिन उनका स्थान लेने वाले "जैसे सांपनाथ वैसे नागनाथ" की कहावत को चरितार्थ करने वाले होते हैं। शोषण का चक्र पुनः प्रारम्भ हो जाता है।

नेताओं का दूसरा भी एक वर्ग होता है जिनका जीवन-मूल्य शोषण करने वाले वर्ग से भिन्न होता है। वे शोषकों को हटाकर उनके जीवन-मूल्यों को भी बदलना चाहते हैं। इसलिए क्रान्ति के सफल

होने के बाद सत्ता प्राप्त होते ही वे समाज रचना में आमूलाग्र परिवर्तन करना प्रारम्भ कर देते हैं। लेकिन श्री फ्रायर ने यह भी कहा है कि "अब तक जो क्रांतियां हुई हैं उनसे प्राप्त अनुभव के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शोषण करने वाले वर्ग से भिन्न जीवन-मूल्यों में विश्वास करने वाले क्रान्तिकारकों में ऐसे नेता अपवाद स्वरूप ही हुआ करते हैं। 'शोषक वर्ग के ही जीवन-मूल्यों में विश्वास करने वाले नेताओं के कारण क्रान्तिकारियों के नेता ले लेते हैं, लेकिन उनके भी जीवन-मूल्य पूर्ववर्ती शोषकों के होने के कारण पुनः शोषण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और क्रान्ति की पुनः आवश्यकता निर्माण हो जाती है। यह बात माओ-त्से-तुंग ने भी कही है। माओ ने कहा है: "सन् १९४९ में हमने अपने यहां क्रान्ति की। किन्तु क्रांतिकारियों को शासन सूत्र सौंपने पर हमें यह अनुभव हुआ कि कल के क्रान्तिकारी आज प्रति-क्रान्तिवादी हो गए हैं। उन्हें हटाने के लिए पुनः सांस्कृतिक क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इसका औचित्य उन्होंने सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात करते समय बताया था। लेकिन उन्होंने ईमानदारी के साथ स्वीकार किया कि "इस प्रकार पुनः क्रान्ति करके पुराने क्रान्तिकारी नेतृत्व को बदलने से ही इसकी इतिश्री नहीं होने वाली है। क्योंकि सत्ता में आने वाले क्रान्तिकारी बार-बार प्रतिक्रान्तिवादी होते रहेंगे और उन्हें बदलने के लिए पुनः पुनः क्रान्ति भी करते रहना पड़ेगा। अर्थात् प्रत्येक दस-पन्द्रह वर्ष के बाद क्रान्ति की आवश्यकता निर्माण होती रहेगी। माओ-त्से-तुंग के द्वारा प्रतिपादित सतत क्रान्ति का सिद्धान्त सभी को पता है।

इस प्रकार जब-जब शोषण के विरुद्ध शोषित वर्ग का विद्रोह, प्रतिक्रिया अथवा प्रतिकार होता है तो उसमें प्रतिशोध की भावना तीव्र होने के कारण अनियंत्रित भीड़ के द्वारा विध्वंस अपरिहार्य हो जाता है। उसमें से समाज को एक सूत्र में बांधने वाली किसी व्यवस्था का निर्माण संभव ही नहीं है। शोषित वर्ग के कल्याण की भी कोई संभावना नहीं रहती। क्रान्ति का नेतृत्व करने वाले नेता ही शोषक बन जाते हैं। नामोल्लेख के बिना भी समझा जा सकता है कि किसी समय जिन लोगों ने सम्पन्न वर्ग तथा वर्ण के लोगों के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया था, वे ही अब प्रतिष्ठित बन चुके हैं, और उन्हीं का साथ देने वाले लोग अब उनके ही विरुद्ध विद्रोह का झण्डा लेकर खड़े हैं। इसीलिए शोषण करने वाली व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह एक स्वाभाविक प्रक्रिया होने पर भी उसमें से उस समस्या का स्थायी हल संभव नहीं। समस्या का स्थायी हल प्राप्त करने के लिए दोनों प्रकार की अप्रियता को सहने की मानसिक सिद्धता रखनी होगी। शोषित वर्ग का नेतृत्व करने वाले को निहित स्वार्थ वाले, अर्थात् नवीन क्रान्ति के सफल होने पर जिनके स्वार्थ पर आंच आने वाली है, तथा होने वाले शोषण से उत्तेजति होकर उग्रवादी बनने के लिए प्रस्तुत शोषित वर्ग का रोष सहते हुए संवैधानिक एवं संतुलित पद्धति से काम करना होगा। यह करते समय शोषक हो या शोषित, हम सभी एक ही समाज के अंग-प्रत्यंग हैं और जिस प्रकार परिवार के सभी सदस्यों को मिलाकर एक इकाई बनती है, और उसमें मां का स्तनपान करने वाले शिशु से लेकर शिथिलगात्र होकर खटिया पर पड़ा रहने वाला वृद्ध और लंगड़े-लूले, अंधे अथवा मानव रोगी, सबका समावेश होता है। उन सबकी अधिक देखभाल की जाती है। उसी प्रकार सम्पूर्ण

समाज को एक परिवार मानने के बाद उसके सामाजिक, आर्थिक तथा बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े सदस्यों की विशेष देखभाल स्वाभाविक रूप से की जानी चाहिए। इसके लिए सामाजिक समरसता ही रामबाण उपाय है। सामाजिक समरसता का निर्माण न होने पर उसकी जो प्रतिक्रिया होगी,, वह अखण्ड क्रान्ति की ओर ही ले जाएगी। लेकिन यह कभी भी उचित नहीं होगा। इस संदर्भ में महात्मा फुले ने अपने अनुभव के आधार पर जो विचार प्रदर्शित किए हैं, वे निश्चित ही मननीय हैं। उन्होंने कहा था, "इस बलस्थान के भिल्ल, कोली आदि समस्त शूद्रातिशूद्र विद्वान हों, विचार करने योग्य हों, क्योंकि सबके साथ "एकमय" हुए बिना "नेशन" अर्थात् "राष्ट्र" की कल्पना मूर्तरूप नहीं ले सकेगी।"

"विद्रोही शोषितों के जीवन-मूल्य शोषक राज्यकर्ताओं के जीवन-मूल्यों के ही समान होने पर शोषितों की विजय होने के पश्चात उनके नेता स्वयं शोषितों का शोषण दुगुने वेग से प्रारम्भ कर देते हैं।" फ्रायर के इस विचार को पुष्ट करने वाली अनेक घटनाएं इतिहास में अंकित हैं। उनमें से नीग्रो जाति से सम्बन्धित एक घटना का उल्लेख में यहां करता हूं।

ब्रिटिश गुएना में नीग्रो लोगों की संख्या तैंतीस प्रतिशत तथा भारतीयों की ५२ प्रतिशत है। अंग्रेजों के साम्राज्य में नीग्रो जाति पर बहुत अत्याचार हुआ करते थे। इसी कारण नीग्रो लोगों में अंग्रेजों के प्रति घृणा और द्वेष था और अन्य लोगों में नीग्रो लोगों के प्रति सहानुभूति थी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अंग्रेजों ने जिस प्रकार अन्य देशों में वहां के लोगों को सत्ता सौंपी वैसी ही ब्रिटिश गुएना में भी सत्ता का हस्तान्तरण हुआ। मतदान का अधिकार प्राप्त होते ही ऐसी आशा बंधी कि अब भारतीयों को स्वराज्य में अच्छे दिन देखने को मिलेंगे। लेकिन उसी समय अन्तर्राष्ट्रीय धूर्त शक्तियों (अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा हालैण्ड) ने केरेबियन आयोग स्थापित करके नव स्वतंत्र गुएना में वंशवाद के आधार पर नीग्रो लोगों को भारतीयों के विरुद्ध भड़काया। नीग्रो लोगों की संख्या कम होने से स्वाभाविक रूप से भारतीयों का शासन होना था, लेकिन धूर्त राष्ट्रों की चौकड़ी ने चुनाव की एक नवीन पद्धति थोपकर अल्पसंख्यक नीग्रो लोगों के लिए सत्ता हथियाने का मार्ग प्रशस्त किया। इस चुनाव प्रणाली को अनुपस्थितों द्वारा किया गया प्रतिनिधि मतदान कहा जाता है।

इस चुनाव प्रणाली के अन्तर्गत विदेशों में रहने वाले गुएना के लोगों को मतदान का अधिकार दिया गया। बहुसंख्यक भारतीयों चालाकी करके अल्पसंख्यक बना दिया गया। डॉ॰ छेदी जगन से शत्रुभाव रखने वाले अमेरिका की इस में प्रमुख भूमिका थी।

धूर्त विदेशी शक्तियों की सहायता से सत्ता हथियाने के बाद नीग्रो लोगों ने अपना रुख बदला। अंग्रेजों के प्रति घृणा और शत्रुता का जो भाव था वह अब भारतीयों के प्रति तीव्र हो गया। अंग्रेज तथा नोग्रो एक हो गए। २५ मई, १९६४ को कराए गए "बिस्मार" की पुनरावृत्ति स्थान-स्थान पर होने लगी।

नेशलन सर्विस स्कीम जैसी योजना शुरू करके उसके माध्यम से भारतीय महिलाओं पर बलात्कार किए जाने लगे। भारतीय महिलाओं को नीग्रो लोगों द्वारा वासनापूर्ति का निशाना

बनाया जाने लगा। शासकीय सेवाओं तथा सार्वजनिक क्षेत्र में अल्पसंख्यक नीग्रो बहुसंख्यक भारतीयों का खुलकर उत्पीड़न करने लगे।

अतएव शोषित समाज का विद्रोही होना ही पर्याप्त नहीं, उनके जीवन-मूल्य भी शोषकों के जीवन-मूल्यों से भिन्न होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर विजय प्राप्ति के बाद शोषित समाज ही स्वयं शोषक बनकर दुगुने वेग से शोषण करना प्रारम्भ कर देता है। गुएना, त्रिनिदाद तथा सूरीनाम के नीग्रो इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

यहां पर यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है कि महात्मा फुले द्वारा प्रतिपादित "एकमय" को ही हम "समरसता" कहते हैं।

हिन्दू समाज में स्पृश्यास्पृश्य का जो विभाजन है, उसकी तुलना अमेरिका के काले-गोरे अथवा प्राचीन ग्रीस के गुलाम और नागरिक के विभाजन के साथ नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक काल का यह घटनाक्रम दुर्भाग्यपूर्ण होने पर भी "हम सभी एक राष्ट्र के घटक हैं" इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता। लेकिन महात्मा फुले के द्वारा प्रतिपादित कटु सत्य निश्चित रूप से सबको विचार करने के लिए विवश करेगा। वे कहते हैं, "भारतीय समाज में वर्ग-भेद रहते सामूहिक मन का निर्माण संभव नहीं और सामूहिक मन के अभाव के रहते क्या राष्ट्र की कल्पना संभव है?" इसमें से राष्ट्रवादी तथा राष्ट्र निर्माण के कार्य में संलग्न कार्यकर्ताओं को सामाजिक दायित्व का बोध होता है। समाज से अलगाव के भाव का निर्मूलन कर परस्पर एकत्र रहने का संकल्प सबके मन में दृढ़ करने का ही नाम "सामाजिक समरसता" है। इसी के माध्यम से अब तक चली आ रही सामाजिक विषमता दूर करके विशुद्ध राष्ट्रीयत्व का भाव समाज के व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में जाग्रत किया जा सकेगा।

समता स्थापित करने तथा उसे स्थिर रखने के लिए भी सामाजिक समरसता का ही सहारा लेना होगा। समरसता ही समता की गारंटी है। समाज में आज बड़ी-बड़ी घोषणा करने वालों के प्रति अविश्वास है। व्यक्ति-व्यक्ति से सम्पर्क और बिना शोरगुल के कार्य करने की संघ की एकान्तिक पद्धति से समाज जाग्रत होगा, भले ही इसमें समय कुछ अधिक लगे। लोगों की स्वार्थ भावना जगाकर अथवा समाज के विभिन्न वर्गों में परस्पर संघर्ष कराकर एकता का निर्माण नहीं किया जा सकता। रोग को जड़मूल से नष्ट करने की आयुर्वेदिक चिकित्सा जैसी ही इस समस्या का स्थायी हल ढूंढने की आवश्यकता है। इसलिए बड़ी-बड़ी घोषणाएं तथा दावे न करते हुए धीरे-धीरे परन्तु ठोस कदम बढ़ाते हुए समाज में सामाजिक चेतना जगाकर स्वाभाविक परिवर्तन लाने का कार्य करना होगा।

क्या होगा? कैसे होगा? इसकी चिंता करने की आवश्यकता नहीं। एक बार ठीक मार्ग पर चल पड़ने के बाद गति बढ़ाने का ही प्रयत्न किया जाना चाहिए।प्रयत्न अवश्य ही फलदायी होते हैं।उसमें लगने वाला समय हमारी गति पर निर्भर करेगा। हमें ऐसा दिखाई देता है कि जिनके विषय में यह धारणा थी कि उनका अपनी धार्मिक संस्थाओं में निहित स्वार्थ है और वे समाज

सुधारक नहीं बन सकते, ऐसे लोगों ने भी परिस्थिति की गंभीरता को ध्यान में रखकर जो निर्णय किए (पू॰ डाक्टरजी का प्रयास हो या महामान्य बाबासाहब का प्रयास) उन सभी का संकलित परिणाम निश्चित रूप से होता है। इस संदर्भ में विश्व हिन्दू परिषद की धर्म संसद का अधिवेशन मेरे कथन की पुष्टि करने के लिए पर्याप्त है। धर्म संसद में सर्वसम्मति से पारित आचारसंहिता के पांचवें सूत्र में कहा गया है "समाज में श्रम की प्रतिष्ठा का भाव जाग्रत करते हुए उपेक्षित एवं पिछड़े हुए बंधुओं को समता एवं एकात्मकता की अनुभूति कराना।" इस सूत्र में "समता एवं समरसता" दोनों बातों का अन्तर्भाव हुआ है" उसी आचारसंहिता के दूसरे सूत्र में कहा गया है कि "समाज के दुर्बल वर्ग के साथ अस्पर्श अथवा घृणा का व्यवहार जहां कहीं भी किया जा रहा हो उसका परिमार्जन करके समाज के विभिन्न वर्गों में परस्पर सौहार्द के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पदयात्राओं का आयोजन करने की धर्माचार्यों से प्रार्थना है।" विभिन्न लोगों के द्वारा किए जाने वाले प्रयासों के संकलित परिणाम का यह एक उत्कृष्ट नमूना है। अधीर और उतावले लोग भले ही निराशा का अनुभव करते हों, लेकिन यह तो मानना ही होगा कि सभी बातों का संकलित परिणाम होता ही है। इस बात को ध्यान में रखकर किसी प्रकार की उतावली न करते हुए पू॰ श्रीगुरुजी के शब्दों में "धीमे-धीमे जल्दी करो" की पद्धति से काम करना होगा। "सामाजिक समता" की स्थापना रूपी गोवर्धन पर्वत को उठाने जैसे कार्य में बाल-गोपालों के समान सभी को अपनी-अपनी लाठी लगानी होगी।

डाक्टर अम्बेडकर के जन्म दिवस पर अपने बधाई संदेश में वीर सावरकर ने कहा था, "श्री अम्बेडकर के व्यक्तित्व में उनकी विद्वत्ता, संगठन, कुशलता तथा नेतृत्व करने की क्षमता का संयोग होने के कारण ही आज वे राष्ट्र के आधार-स्तम्भ माने जाते हैं। अस्पृश्यता का उन्मूलन और अस्पृश्य वर्ग में साहस, आत्मविश्वास एवं चैतन्य निर्माण करने में उन्हें जो यश प्राप्त हुआ है, उसके कारण उनके द्वारा देश की महान सेवा हुई है। उनका कार्य राष्ट्र की गौरव वृद्धि करने वाला मानवतावदी और चिरंतन स्वरूप का है। श्री अम्बेडकर जैसे महापुरुष का तथाकथित अस्पृश्य कुल में जन्म अस्पृश्य वर्ग के हृदय का हीनभाव समाप्त करने वाला तथा उच्चवर्णीय लोगों के अहंकार को चुनौती देने वाला सिद्ध होगा। श्री अम्बेडकर के महान् व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा सम्पन्न कार्य के प्रति हृदय में सम्मान का भाव रखकर मैं उनके दीर्घ आयुष्य, आरोग्य तथा भविष्य में उनके द्वारा महान कार्य के सम्पादन होने की कामना करता हूं।"

सन् १९६२ में डॉ॰ अम्बेडकर के अनुयायियों द्वारा उनके ७३ वें जन्मदिन पर प्रकाशित विशेषांक के लिए गुरुजी ने एक छोटा परन्तु अत्यन्त ही अर्थपूर्ण संदेश दिया था। श्रीगुरुजी लिखते हैं : "वन्दनीय डा॰ अम्बेडकर की पवित्र स्मृति का अभिवादन करना मैं अपना स्वाभाविक कर्तव्य समझता हूं। भारत के दिव्य संदेश की घोषणा से सारे विश्व को आन्दोलित करने वाले स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि दीन,दुःखी, दरिद्र तथा अज्ञान में पड़े भारतवासी ही मेरे देवता हैं। उनकी सेवा करना, उनके सुप्त चैतन्य को जगाना, उनके भौतिक जीवन को सुखमय तथा उन्नत करना ही यथार्थ में ईश्वर सेवा है। उन्होंने सवर्ण समाज की "छुओ मत" प्रवृत्ति से निर्मित

रूढ़ियों पर कठोर प्रहार किए। समाज की पुनर्रचना करने का आह्वान किया। राजकोय तथा सामाजिक उपेक्षा से क्षुब्ध डॉ॰ बाबासाहब अम्बेडकर ने स्वामी विवेकानन्द के इसी आह्वान को स्वीकार करके समाज की पुनर्रचना करने का कार्य प्रारम्भ किया। अज्ञान, कष्ट तथा अपमानित जीवन बिताने वाले समाज के एक बहुत महत्व के वर्ग के लिए डॉ॰ अम्बेडकर ने सम्मान का जीवन जीना संभव बनाया, यह उनका असामान्य कार्य है। अपने राष्ट्र पर उन्होंने जो महान् उपकार किया उससे उऋण होना संभव नहीं।

स्वानी विवेकानन्द ने कहा था कि जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य की बुद्धिमत्ता तथा भगवान बुद्ध की करुणा से परिपूर्ण विशाल हृदय के संगम से ही भारत का उद्धार होगा। डॉ॰ अम्बेडकर ने बौद्धमत का स्वीकार तथा प्रवर्त्तन पर स्वामी विवेकानन्द की अपेक्षा का एक महत्वपूर्ण भाग पूरा कर लिया है। उनकी कुशाग्र तथा विलक्षण बुद्धि को बौद्धमत की कमियों का ज्ञान था। उसका उन्होंने उल्लेख भी किया है। फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि सामाजिक व्यवहार की समानता, शुचिता, परस्पर की आत्मीयता और इन समस्त गुणों से प्राप्त होने वाली मानव मात्र की उन्नति की विशुद्ध प्रेरणा और बौद्धमत के प्रति श्रद्धा में उत्पन्न होने वाले राष्ट्र तथा मानव मात्र की उन्नति के लिए अनिवार्य जानकर ही उन्होंने बौद्धमत को अपनाया होगा। भगवान बुद्ध ने भी धर्म का स्वरूप विशुद्ध बनाए रखने तथा समाज व्यवस्था को सुधारने के लिए तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार किए थे। उनका उद्देश्य समाज से अलग होने का नहीं था। आज भी डॉ॰ बाबासाहब अम्बेडकर ने समाज कल्याणार्थ तथा धर्महितार्थ अपने चिरंजीव समाज को निर्दोष एवं निर्मल रखने के लिए ही कार्य किया है। समाज से अलग होकर पृथक पंथ का निर्माण उनका उद्देश्य नहीं था, ऐसी मेरी श्रद्धा है और इसीलिए इस युग में भगवान बुद्ध के सुयोग्य उत्तराधिकारी के रूप में उनकी पावन स्मृति को मैं हृदय से अभिवादन करता हूं।"

भारत के दलित समाज और अमेरिका के नीग्रो समाज की समस्याओं में कोई समानता नहीं है। भारत का तथाकथित दलित वर्ग हमारे ही रक्त और वंश का है। अमेरिका का उदाहरण भारत पर लागू नहीं होता। फिर भी नीग्रो समाज के संघर्ष से वहां की राजनीति तथा सामाजिक समस्याओं से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। इस दृष्टि से पिछले दशक में प्रकाशित स्टॉलग टकर की पुस्तक "फार ब्लैक्स ओनली" अध्ययन करने योग्य है।

पुस्तक की प्रस्तावना में प्रकाशक ने लिखा है : "अमेरिका में काले और गोरे उग्रवादी लोगों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया चल ही रही है। वे सरकार उलटने तथा सड़े-गले रंगभेद मानने वाले समाज को नष्ट करने पर उतारू है। ऐसे लोगों की आवाज को किसी भी प्रकार दबाकर शांति तथा व्यवस्था बनाए रखने का पक्षधर एक दूसरे प्रकार का वर्ग भी है। यह वर्ग और अधिक कड़े कानून बनाने, अधिक कठोर दंड देने, पुलिस और नेशलनल गार्ड फोर्स का खुलकर प्रयोग करने की मांग करता रहता है। सरकार उलटने की बात करने वाले यदि हिंसक हैं तो उनका दमन करने की मांग करने वाले भी तो हिंसक ही कहे जाएंगे। हम लोगों को केवल इन दोनों वर्गों की ही आवाज सुनाई देती है, इस कारण हमें ऐसा लगात है कि इन दो प्रकार के लोगों में से ही किसी एक को हमें चुनना होगा।"

सन् १९६२ के "मार्च ऑन वाशिंगटन" के लिंकन मेमोरियल की भाषणमाला में जॉन लुई ने कहा था : "नागरिक अधिकारों का विधेयक अपूर्ण तो है ही, बहुत देर से भी लाया गया है। इस विधेयक में पुलिस के अत्याचारों से लोगों को सुरक्षा प्रदान करने का कोई प्रावधान नहीं है। सैकड़ों वर्ष हमने प्रतीक्षा में बिताए हैं। अब न्यायालयीन कार्यवाही के लिए हम नहीं रुक सकते। हम अब राष्ट्राध्यक्ष, न्यायालय, कांग्रेस आदि से कोई अपेक्षा नहीं करते। अब हम समस्त सूत्र अपने हाथ में लेकर राष्ट्रीय परिधि के बाहर अपने सत्ता केन्द्र निर्माण करेंगे.....क्रान्ति अब दहलीज पर खड़ी है.....काले लोग आगे कूच कर रहे हैं। हम अपनी दग्ध भू-रणनीति को कार्यान्वित करेंगे। अहिंसात्मक उपायों से हम अपने विरोधियों को झुकने के लिए विवश करने के लिए ऐसा जबर्दस्त तूफान खड़ा कर देंगे कि अब तक किए गए सारे आंदोलन उसकी तुलना में फीके पड़ जाएंगे।"

सन् १९६४ में नीग्रो आन्दोलन के दूसरे एक नेता बेअर्ड रस्टिन ने कहा था : "नीग्रो समाज अब मार्टिन लूथर छाप की अहिंसा को नहीं अपनायेगा। नीग्रो समाज के नेतृत्व की इच्छा रखने वाला कोई भी नेता गोरे लोगों के साथ प्रेम से रहने की बात नहीं करेगा। मैं स्वयं भी ऐसा नहीं कहूंगा। इस प्रकार की मानसिक बेईमानी को अब मैं प्रोत्साहन नहीं दे सकता। नीग्रो समाज का गोरे लोगों पर प्रेम नहीं है, और इस प्रकार के प्रेम की नीग्रो लोगों की आवश्यकता भी नहीं है। जो लोग ऐसा दुर्व्यवहार करते हों उनके साथ कौन प्रेम करेगा?"

जिस अमेरिका में अब्राहम लिंकन, बुकर टी वाशिंग्टन तथा मार्टिन लूथर किंग जैसे महापुरुष हुए, वहां भी दोनों ओर के उग्रवादी नेतृत्व के कारण कुछ समय तक वंशवाद ने इतना सिर उठाया कि दोनों पक्षों में सामंजस्य की प्रक्रिया कुछ समय तक बंद रही। परिस्थिति की विस्फोटकता तथा दोनों पक्षों की मनःस्थिति में दो ध्रुवों का अन्तर निर्माण होने पर भी नीग्रो समाज के कुछ नेताओं ने अपना मानसिक संतुलन कायम रखते हुए विवेक से काम लिया, यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐसे ही नेताओं में से एक श्री स्टर्लिंग टकर ने अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए कहा था :

"मेरी दृष्टि से वास्तविकता तथा समझदारी के माध्यम से परिवर्तन लाना सुलभ एवं सुगम है।" उन्होंने नागरिक अधिकारो की प्राप्ति के लिए किए गए आन्दोलन और उनमें मिली असफलता का विवचेन प्रारम्भ में ही किया है। "नीग्रो समाज की शक्ति" शब्द-प्रयोग की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है, "इस संकल्पना से प्रारम्भ में स्वस्थ क्रियाशक्ति को प्रेरणा मिली, लेकिन समाज नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के आन्दोलन को सुस्पष्ट लक्ष्य, सुसंवादी स्वरूप तथा बल प्रदान करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। राष्ट्रीय मनोभूमिका का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने दिखा दिया कि भय और आपराधिक मनोवृत्ति के कारण नीग्रो समाज के क्षोभ का गोरे अमेरिकन लोग आकलन नहीं कर सके। नीग्रो लोगों की विध्वंसक गतिविधियों को विपरीत दृष्टिकोण से देखकर गोरे अमेरिकन लोगों ने "कानून और व्यवस्था" को अत्यधिक महत्व देकर न्याय की हत्या कर दी।

और फिर समस्या को हल करने के लिए अपनाई जाने वाली व्यावहारिक नीति का उन्होंने विश्लेषण किया है। उग्रवादी अश्वेतों को अमेरिकन परिस्थिति का सम्यक् आकलन नहीं हो सका, इस बात को स्पष्ट करके उन्होंने अलगाववाद का एक संकल्पना के रूप में विचार किया है। एक विचारधारा और उसको साकार करने के मार्ग के खतरे तथा एक शतरंज की चाल के रूप में उसकी विधायक उपयोगिता का भी दिग्दर्शन किया है। मोर्चों के प्रश्न का विस्तार से विवेचन करके अश्वेतों के संगठन से निष्कासित गौरवर्णीय लोगों को संगठन में पुनः सम्मान के साथ लेने के मार्ग भी सुझाए हैं।

अर्बन लीग फील्ड सर्विसेज के प्रमुख के रूप में प्राप्त अनुभवों के आधार पर उन्होंने प्रतिपादित किया है कि "व्यापक सामाजिक भूमिका से शिक्षा, रोजगार, अपराध, पुलिस विभाग तथा शासन आदि समस्याओं से निपटने के लिए समाज के विभिन्न वर्गों को संगठित करके प्रवृत्त किया जा सकता है।" सम्पूर्ण विवेचन में इसी बात पर बल दिया गया है कि उग्रवादियों के आक्रामक रुख के विरुद्ध काले वर्ण के अमेरिकनों के प्रक्षोभ को परिवर्तनों के कार्य में प्रयुक्त किया जा सकता है और विशेष बात यह है कि यह कार्य आज के अमेरिकन समाज की उपलब्ध व्यवस्था में ही किया जा सकता है।

जिस अर्बन लीग का नेतृत्व श्री टकर कर रहे हैं उसका कार्य यद्यपि सन् १९१० से प्रारम्भ हुआ, किन्तु उसे "जनाधिकार आन्दोलन" का स्वरूप सन् १९६० के पश्चात ही प्राप्त हुआ। इस आन्दोलन ने यद्यपि विभिन्न रणनीति का प्रयोग किया, फिर भी सबका एक ही उद्देश्य था, और वह था समरसता।

श्री टकर कहते हैं : "यह प्रमुख प्रश्न था कि समरसता किसी प्रकार अविलम्ब प्राप्त हो सकती है। अश्वेतों के कुछ छोटे-छोटे गुटों के अतिरिक्त अलगाव की भाषा कहीं सुनाई नहीं देती थी। मुसलमानों का भी यह विचार नहीं था। इस वैधानिक आन्दोलन की मान्यता थी कि अलगाव से विषमता पैदा होती है और दृढ़मूल होती है। "स्वाट बनाम पेंटर" और " ब्राउन बनाम टोपेको" सन् १९५० और १९५४ के सफल ऐतिहासिक मुकदमों के लिए अथक परिश्रम करने की प्रेरक शक्ति यह श्रद्धा थी कि "समरसता के माध्यम से ही समता" का निर्माण हो सकता है।

इस बीच दोनों पक्षों के उग्रवादियों का हौसला बढ़ाने वाली कुछ घटनाएं हो जाने के कारण अर्बन लीग के काम में बाधाएं आईं। फिर भी श्री स्टैंलग टकर का अभी भी पूर्ण विश्वास है कि "समरसता" के निर्माण से ही समता स्थापित हो सकती है। इसी विश्वास के आधार पर उन्होंने अपने नीग्रो बंधुओं को भावी रणनीति के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में मार्गदर्शन किया है। इसके पूर्व नीग्रो लोगों ने भावना के वशीभूत होकर जिस उग्रवादी मार्ग का अवलम्बन किया गया था उसके दुष्परिणाम सामने आने लगे थे। नीग्रो लोगों द्वारा श्री टक्कर की प्रतिपादित भूमिका को अपनाने का यह भी कारण था। श्री टकर की रणनीति का संक्षिप्त रूप है : केवल वंशवाद के आधार पर संगठन खड़ा करके आन्दोलन चलाना आत्मघाती होगा। नीग्रो समाज के संगठन की आवश्यकता होते हुए उसका आधार संकुचित नीग्रोवाद रखना ठीक नहीं है। नीग्रो समाज के उत्थान

की इच्छा रखने वाले अनेक गोरे अमेरिकन भी हैं। संकीर्ण भूमिका को अपनाने से नीग्रो समाज उन लोगों की सहानुभूति तथा समर्थन खो बैठेगा। इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी समस्याएं हैं जो गोरे तथा अश्वेत अमेरिकन समाज के गरीब लोगों के लिए समान रूप से परेशानी का कारण बनी हुई है। ऐसी समस्याओं के आधार पर गोरे और काले समाज के गरीब लोगों को एक मंच पर लाना संभव है और उपयुक्त भी। जिस नीग्रो समाज की संख्या गत सत्तर वर्षों में घटते-घटते अब जनसंख्या का ग्यारह प्रतिशत रह गई उसने यदि बृहत संयुक्त मोर्चे का विचार न किया तो वह अपनी ही संकीर्णता के कारण अन्य लोगों की सहानुभूति खो देगा। इतनी अल्पसंख्या में होने के कारण इस विषम संघर्ष में एकाकी लड़कर विजय प्राप्त करना उसके लिए संभव नहीं होगा।"

श्री टकर कहते हैं : "हम काले गरीब और गोरे गरीब, काले मजदूर और गोरे मजदूर एक ऐसी व्यवस्था में पिस रहे हैं जहां उत्पादन का वितरण कल्पनातीत रूप में विषम है.....।

हम अश्वेत लोगों को यदि अमेरिका में सुख-शांति से रहना और दुःख-दारिद्रय से मुक्ति पानी है तो हमें शोषित-पीड़ित और गौर वर्ण लोगों को भी साथ लेना होगा। गौर-वर्ण होने के कारण हो सकता है उन्हें हमसे कुछ अधिक सुविधाएं मिल रही हों, तो भी इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि वे भी हमारे जैसे ही शोषण के शिकार हैं। उन्हें साथ लेकर धनवानों का पोषण और गरीबों का शोषण करने वाले कर-विषयक कानूनों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा लगाना चाहिए। न्यूनतम वार्षिक आय की प्राप्ति के लिए चल रहे संघर्ष में उन्हें एक मंच पर लाना चाहिए। एक इटालियन अमेरिकन कैथोलिक धर्मगुरु फादर जेनो बारोनी ने चेतावनी देते हुए कहा है कि "संकट गंभीर स्वरूप का है। सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए उतावाले, वोटों के भूखे राजनीतिज्ञ, समाज के विभिन्न वर्गों के दुःख और कष्ट को ही अपनी पूंजी मानते हैं और जिन्हें परस्पर स्वाभाविक मित्र होना चाहिए उन्हीं में फूट डालने का वे प्रयत्न करते हैं।

इस संदर्भ में यह भी ध्यान में रखना होगा कि अमेरिका में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की संख्या पांच करोड़ है। इसमें नीग्रो, टोंरिकी, मेक्सिकी आदि का अनुपात उनकी जनसंख्या के परिमाण में अधिक है। और यदि सम्पूर्ण देश की जनसंख्या का विचार किया जाए तो गरीब लोगों में नीग्रो लोगों से गोरे लोगों की संख्या अधिक है। हां, केवल नीग्रो जनसंख्या में गरीब नीग्रो का परिमाण बहुत अधिक और केवल गोरे लोगों का परिमाण कम है। गोरे लोगों में गरीबों का परिमाण बीस प्रतिशत है। इन सभी बातों का विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि श्वेत तथा अश्वेत समाज के गरीबों का कुछ चुने हुए प्रश्नों पर संयुक्त मोर्चा बनने की श्री स्टर्लिंग बेकर की भूमिका ठीक है। इसके लिए सर्वसंग्राहक नीति को रणनीति के रूप में प्रयुक्त करने वाले नवीन नेतृत्व की आवश्यकता होगी। अब तक का नेतृत्व वंशवाद में ही अपना निहित स्वार्थ देखता था। इस रणनीति में सस्ता नेतृत्व प्राप्त हो जाता था।"

श्री टकर ने भावी रणनीति के सम्बन्ध में जो बात नीग्रो समाज के लिए कही, वही बात भारत के दलित समाज के लिए भी लागू होती है कि "जहां भी मान्य किए गए महान सिद्धान्तों तथा अर्थहीन उपदेश के कारण व्यावहारिक परिवर्तन में बाधा आती है और नेताओं की प्रतिभा जनता

की प्राप्ति को कुण्ठित करने का कारण बनती है, वहीं सामूहिक लैन-देन का मार्ग प्रशस्त होता है। नई राह का नेता अपना पुरुषार्थ दांव पर लगाने को सिद्ध रहता है। किसी छोटे-से-छोटे कार्य के माध्यम से भी वह अपनी महानता प्रकट कर सकता है। वह जिस माध्यम को अपनाता है उसके अस्तित्व तथा उसकी मर्यादा बनाए रखने का वह विशेष ध्यान रखता है। इसके लिए लोगों का दुःख-दर्द शांति के साथ सुनने के लिए वह सदैव तैयार रहता है।

पहले जिन संगठनों का अश्वेत वर्ग में प्रभाव था उनमें चर्च, गिल्ड्स, विभिन्न सोसाइटीज तथा क्लबों का समावेश था। ये सभी संस्थाएं अभी भी सक्रिय हैं। साधारण क्लब भी लोक कल्याण के कार्यों द्वारा अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं। अश्वेत समाज भी अब समाज जीवन के विभिन्न पहलुओं का विचार करने लगा है। पहले इन सभी कार्यों की जिम्मेदारी वरिष्ठ नेताओं की मानी जाती थी। शनैः शनैः समाज ही अब इन कामों को करने लगा है। परिणामस्वरूप, समाज में नया नेतृत्व उभर रहा है। पुराने नेताओं की ठेकेदारी समाप्त हो रही है। समाज के निम्न वर्ग में से उभर रहे इन नेताओं को जनसमर्थन प्राप्त हो रहा है। इसके पूर्व सीमित क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं की उपेक्षा हुआ करती थी। उनका विशेष प्रभाव भी नहीं होता था। लेकिन अब इस प्रकार की संस्थाएं भी स्थानीय निकायों को प्रभावित करने लगी हैं। गांव के किसी एक कोने में प्रभाव रखने वाला सामान्य नेता भी यदि ग्राम रचना के विषय में कुछ सुझाव देता है तो उसकी भी बात को ध्यान से सुना जाता है। जनतांत्रिक प्रक्रिया का इसे प्रारम्भ कहा जा सकता है। अश्वेत वर्ग के वरिष्ठ नेताओं को जनता की समस्याओं को समझने, उन्हें हल करने के लिए प्रस्तुत होने तथा जनता के साथ अधिकाधिक समरस होने के लिए नवनिर्मित परिस्थिति बाध्य कर रही है।

केवल सभा-मंचों से गरजने वाले नेता अब इतिहास के खाते में जमा हो गए हैं। एडम क्लेशन पावेल की कार्यपद्धति इसी प्रकार की थी, इसीलिए वह हार गया। प्रारम्भ में उसने अपने क्षेत्र में सेवाकार्य किए थे, लेकिन फिर वह केवल नेतागिरी करने लगा। आज का अश्वेत समाज इतने से ही संतुष्ट नहीं है। ऐसे नेता बिना किसी प्रयास के ही अपनी प्रतिष्ठा खो रहे हैं।

आज हम ऐसा नेतृत्व उभरते हुए देख रहे हैं जो जनता का अपना है, समाज के निम्न स्तर के लोगों के सुख-दुःख की जिसे जानकारी है, लोगों के अभाव और आवश्यकताओं का जिसे न केवल ज्ञान है, अपितु जो उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील भी रहता है। जब तक उनकी यह मानसिकता रहेगी तब तक वे लोकमान्य बने रहेंगे। इन नवीन नेताओं को जनादेश प्राप्त है, और वे कार्य करने में पूर्ण स्वतंत्र हैं।"

१९. पिछड़े बंधु

आजकल पिछड़े पीड़ित बंधुओं की समस्याएं सुलझाने और उन पर होने वाले अन्याय समाप्त करने के लिए अनेक वक्तव्य दिए जा रहे हैं; लेख लिखे जा रहे हैं; प्रचार और प्रयत्न चल रहे हैं। किन्तु ऐसा दिखाई दे रहा है कि प्रचार जितना अधिक हो रहा है, समस्या की गंभीरता एवं भीषणता उतनी ही बढ़ रही है। दवा दी जा रही है और रोग बढ़ता जा रहा है। इसका क्या कारण हो सकता है? कहीं इस प्रश्न की ओर देखने के दृष्टिकोण में कोई त्रुटि तो नहीं है?

प्रश्न सुलझाने की सद्भावना होते हुए भी किसी प्रश्न पर यदि नकारात्मक भूमिका अपनाई गई तो मूल उद्देश्य के विपरीत परिणाम सामने आते हैं। जाति संस्था अन्यायपूर्ण बन गई है, इसलिए उसे मात्र नष्ट करने का प्रयत्न करने पर जाति-भावना को और बल मिलता है। जाति संस्था नष्ट करने का प्रयत्न करने वालों की ही एक जाति बन जाती है।

फिर भी, आज की स्थिति में भी कुछ आशादायी बातें होती प्रतीत हो रही हैं। एक, यह कि कुछ जीवन-मूल्य आज भी मान्य हैं, जैसे सच्चारित्र्य, सद्गुण, साधना, प्रामाणिकता आदि। स्वयं कालाबाजारी करने वाला भी चाहता है कि उसका मुनीम प्रामाणिक होना चाहिए। छोटी संकीर्ण भावनाओं की लहरों के नीचे आज भी सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान की भावना प्रवाहित होती दिखाई देती है। यह एक अच्छा लक्षण है। चाहे जितना जातिवाद आदि संकुचित भावना का दौर चला हो, निःस्वार्थ बुद्धि से सम्पूर्ण समाज के प्रति अपनत्व के भाव से निरपेक्ष सेवा करने वाले कार्यकर्ता का सम्मान आज भी होता है।

दूसरा आशादायी लक्षण है फूटपरस्ती की मनोभूमिका के होते हुए भी भिन्न-भिन्न विचार एवं दृष्टिकोण रखने वाले लोग समान संकट या समस्या को लेकर एकत्रित हो जाते हैं। १९६२ का चीन का आक्रमण, १९६५ एवं १९७१ का भारत-पाकिस्तान युद्ध आदि समान प्रश्नों के समय समस्त मतभेद भुलाकर सम्पूर्ण जनता कंधे से कंधा लगाकर खड़ी हो गई थी। यह जागृति तथा एकता यद्यपि तात्कालिक एवं अल्पजीवी रही, किन्तु इसमें यह तथ्य स्पष्ट होता है कि समान विषय को लेकर संगठित होने की संभावना अपने समाज में विद्यमान है और यह भी एक शुभ लक्षण है।

अतः यह सोचने की बात है कि ऐसा कौन-सा समान विषय और समान उद्देश्य है जो अपने समाज के सामने स्थायी रूप से प्रस्तुत किया जाए जिसके महत्व को समझते हुए संकीर्णता, भेदभाव और विद्वेष से ऊपर उठकर सभी लोगों में एकता तथा संगठन की प्रेरणा जाग्रत हो सके। अपने देश की राष्ट्रीयता के सूत्र को कमजोर करने के लिए विदेशियों ने तरह-तरह के संभ्रम पैदा किए : जैसे आर्य भारत में बाहर से आए; वेद मात्र ब्राह्मणों का साहित्य है, आदि। डा॰ बाबासाहब अम्बेडकर ने स्वयं अपने सप्रमाण तर्क द्वारा इन भ्रमों को दूर करते हुए कहा है कि "आर्य शब्द जातिवाचक नहीं, मात्र गुणदर्शक है।" वेदों की रचना में सभी वर्णों का योगदान है, यहां तक कि गायत्री जैसा श्रेष्ठ मंत्र ऋषि विश्वामित्र ने सिद्ध किया है, जो ब्राह्मण नहीं थे। उन्होंने आगे कहा है कि "वेदकाल में अस्पृश्यता नहीं थी। सभी वर्णों के लिए समान नियम थे। यदि कोई सामाजिक अपराध करता था तो उसका कुछ दिन के लिए बहिष्कार कर दिया जाता था। चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हो।" यह विवरण प्रमाणित करते हुए डा॰ अम्बेडकर ने लिखा है कि "सम्राट चन्द्रगुप्त के कालखण्ड में किसी समय अस्पृश्यता की रूढ़ि प्रारम्भ हुई, जिसका कारण विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं में निहित है। किन्तु उसके कारण एकराष्ट्रीयत्व की मौलिक भूमिका में आज भी कोई कमी आने देना उचित नहीं है।"

डॉ॰ अम्बेडकर की मान्यता थी कि हम सभी अपने इस राष्ट्र के अंग-उपांग हैं, इसके हित को हम ठीक प्रकार से पहचानें। राष्ट्रीयत्व के सम्बन्ध में उनकी भूमिका दृढ़ विशुद्ध थी। उनका यह आग्रह था कि "विगत कुछ शताब्दियों की कुरीति एवं रूढ़ियों के कारण पिछड़े हुए बंधुओं पर हुए अन्याय का निराकरण करने के लिए समाज को आगे आना होगा, इस हेतु आन्दोलन छेड़ने होंगे, किन्तु एकराष्ट्रीयता की कीमत पर नहीं।"

अस्पृश्यता कैसे प्रारम्भ हुई, कब हुई, किसने की, किन जातियों ने इसे बढ़ाया, इन बातों पर चर्चा और विश्लेषण होता रहता है। रोग के उचित निदान के लिए यह आवश्यक भी है। किन्तु इसके साथ ही इलाज के बारे में भी सोचा जाना चाहिए। आज की बदलती हुई सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थिति में मात्र नकारात्मक चर्चा असंगत है। अपने देश में औद्योगिक तंत्रशास्त्र का प्रारम्भ हो चुका है। इसका परिणाम अस्पृश्यता एवं गरीबी की समस्या पर क्या और कैसे होगा, इस पर गहराई से विचार होना चाहिए। शहरों में आज नए-नए और बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों में भिन्न-भिन्न जातियों के, सभी छोटे-बड़े स्थानों से सभी प्रकार के लोग एकत्रित आते हैं, एक जगह काम करते हैं, कैन्टीन में चाय पीते समय सभी के साथ घुलमिल जाते हैं। देहात में लौटने पर जाति-पांत मानने लगते हैं, किन्तु शहर की उधेड़बुन में भूले रहते हैं। तंत्रशास्त्र बदलने के साथ-साथ नई रचना आ रही है। सामूहिक भावना और एकता के नए अर्थ और आयाम सामने आ रहे हैं। समान हित सम्बन्ध उत्पन्न हो रहे हैं। इन परिवर्तनों की ओर ध्यान देकर, नई परिस्थितियों का अध्ययन न करते हुए 'मनुस्मृति की होली जलाएं या उसकी पूजी करें,' के वाद-विवाद में बुद्धिनिष्ठ लोग यदि उलझे रहें, तो उनकी यह चर्चा असंगत होगी। प्रथम औद्योगिक क्रांति के कारण प्रौद्योगिकी एवं उत्पादन व्यवस्था में परिवर्तन आया। उसमें जो नया

"तज्ञ वर्ग" निर्माण हुआ, उसके संदर्भ में मार्क्स का पूर्व विश्लेषण काल-बाह्य हो गया। अतएव "जातिभेद नष्ट करो" का नारा लगाते रहने के बदले, बदलती हुई समाज रचना में कौन से नए शुभ लक्षण उत्पन्न हो रहे हैं, उनका अध्ययन करके समाज में एकात्मता लाने हेतु कौन से समान उद्देश्यों की नए सिरे से प्रतिष्ठापना की जाए, इस पर विचार करना पीड़ित एवं पिछड़े हुए बंधुओं की समस्याएं सुलझाने के लिए आवश्यक होगा। नया जनसंगठन, नया एकात्म भाव, नई अपनत्व की जागृति किस आधार पर करना, इसका स्पष्ट विचार करने से ही मार्ग प्रशस्त होगा।

१९३५ के भारत शासन अधिनियम के उपबंध जातिवाद, प्रान्तवाद आदि को बढ़ावा देते हैं। राजनीति में चुनावों की वर्तमान प्रक्रिया भी इन भेदों को प्रोत्साहन देती है। एकात्म समाज-शक्ति के निर्माण में यह बड़ा भारी व्यवधान है। इस विषय पर दूरदृष्टि से सोचना होगा, रचनात्मक विचार करना होगा, चुनावी राजनीति से ऊपर उठकर समाजहित की स्थायी भूमिका अपने सामने रखनी होगी, प्रारम्भ में बताए गए कुछ लक्षण इस कार्य में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

इस दृष्टि से डा॰ अम्बेडकर जी का स्मरण फिर एक बार आता है। मेरा सौभाग्य है कि मुझे उन्हें केवल निकट से देखने का ही नहीं, प्रत्यक्ष वार्तालाप एवं विचार-विनिमय का भी अवसर मिला, जिसमें उनके विशुद्ध राष्ट्रीय एवं रचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय प्रचुर मात्रा में मिला था। बौद्धमत को स्वीकार करने के कुछ दिन पूर्व मैंने उनसे पूछा, "अतीत में अस्पृश्यता एवं अन्य कई प्रकार से अन्याय और अत्याचार हुए, किन्तु आज हम कुछ युवक उन दोषों को दूर करते हुए एक स्वस्थ समाज रचना खड़ी करने के लिए प्रयत्नशील हैं, इस बात की ओर क्या आपका ध्यान आकृष्ट हुआ है?"

उन्होंने कहा, "तुम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की बात कर रहे हो? उन्हें मालूम था कि मैं संघ प्रचारक हूं। उन्होंने कहा, "तुमको ऐसा लगता है कि मैंने इस पर कुछ भी नहीं सोचा होगा?

मैंने कहा, "मुझे ऐसा नहीं लगता।"

"फिर बताओ", वे बोले "१९२५ में तुम्हारा संघ प्रारम्भ हुआ। आज २७-२८ वर्ष बाद तुम्हारी संख्या, मान लो, सत्ताईस-अट्ठाईस लाख होगी। इस हिसाब से इस विशाल समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए कितना समय लगेगा? मैं जानता हूं कि रेखागणितीय प्रगति का हिसाब अलग होता है, पर फिर भी बहुत समय लगेगा। तब तक परिस्थिति रुकने वाली नहीं है। और मैं भी तब तक कहां रहूंगा? मेरे सामने एक मुख्य प्रश्न है कि मेरे जाने के पहले मेरे समाज को कुछ निश्चित दिशा देने की।"

"मेरे लोग आज तक दलित, पीड़ित, शोषित रहे हैं। अब उनमें कुछ जागृति आ रही है, जिसके कारण कुछ आक्रोश और जोश होना स्वाभाविक है। इस प्रकार के लोग बहुत जल्दी कम्युनिज्म का भक्ष्य बन सकते हैं। किन्तु मैं नहीं चाहता कि मेरा समाज (अनुसूचित जातियां) कम्युनिज्म का शिकार बने। अपने राष्ट्र की दृष्टि से मुझे उन्हें मार्ग दिखाना होगा। आप लोग

भी संघ के द्वारा राष्ट्रहित में प्रयास कर रहे हैं। फिर भी मैं समझता हूं कि यदि मैंने अपने लोगों को दिशा नहीं दी, और यदि वे कम्युनिज्म की ओर मुड़ गए, तो शायद तुम लोग उन्हें राष्ट्रीय धारा में फिर से नहीं ला पाओगे। क्योंकि सही-गलत का सवाल ही नहीं, तुम कह रहे हो, इसलिए तब मेरे लोग तुम्हारी बात शायद सुनेंगे नहीं।

अतएव जाने के पहले मुझे सारी व्यवस्था करनी है। याद रखो, दलित लोगों और कम्युनिज्म के बीच अम्बेडकर एक अवरोध बनकर खड़ा है और सवर्ण हिन्दुओं और कम्युनिज्म के बीच गोलवलकरजी भी अवरोध के रूप में खड़े हैं।"

यह सम्पूर्ण बातचीत शब्दश: मैंने इसलिए यहां पर उद्धृत की है कि दलित, पीड़ित, शोषित बंधुओं की समस्याओं और उन पर हुए अन्याय-अत्याचारों के बारे में पूरी आत्मीयता से (उपकारकर्ता की दृष्टि से नहीं) विचार करते हुए उसका राष्ट्रीय हल कैसे निकाला जाए? यह सारा विचार करते हुए अन्त में डा॰ अम्बेडकर जी ने भिन्न-भिन्न प्रलोभनों को ठुकराकर यह दूरदर्शी कदम उठाया कि बौद्धमत भारतीय होने के कारण उसे अपनाने से अपने समाज की राष्ट्रीयता को आघात नहीं पहुंचेगा। इसी प्रकार की रचनात्मक भूमिका की आज आवश्यकता है।

समस्त संसार का यह अनुभव है कि "उच्च ध्येय" सामने होने पर छोटे-छोटे विभेद समाप्त हो जाते हैं। प्रेम के आधार पर ही पीड़ित बंधुओं की पीड़ा दूर की जा सकेगी। हमारा राष्ट्र सनातन है। प्रगति-अवनति, सुख-दुख के कई दौर हमने झेले हैं, फिर भी राष्ट्ररूप में हम विद्यमान हैं। संकटों से नष्ट होने के लिए इस राष्ट्र का निर्माण हुआ ही नहीं। यदि हम समझदारी से काम लें, व्यक्तिवाद एवं स्वार्थ पर अंकुश लगाएं, तो परम वैभव के सुदिन शीघ्र प्राप्त हो सकते हैं। अपने राष्ट्र में वह आंतरिक क्षमता है जो सभी कठिनाइयों एवं विघटनकारी शक्तियों पर विजय प्राप्त करके फिर से एकात्मता स्थापित कर सकती है।

विगत चालीस वर्षों से औद्योगिक अशांति के लिए श्रमिक वर्ग को सर्वथा दोषी मानना एक फैशन बन गया है। पर यह कभी नहीं माना गया कि निजी क्षेत्र के व्यवस्थापक और सार्वजनिक क्षेत्र के अफसर साधारणतः श्रमिकों के मनोविज्ञान को सही प्रकार से समझ नहीं पाते। राष्ट्रीय नीति, योजनाएं तथा श्रमिकों से सम्बन्धित उद्योग-नीति निर्धारण करते समय न तो उनके विचार जाने जाते हैं, न ही उनका विश्वास प्राप्त किया जाता है। फिर भी उनसे सरकार एवं व्यवस्थापकों के साथ निष्ठापूर्वक सहयोग करने की अपेक्षा सदैव की जाती है। विश्वास देने से विश्वास प्राप्त होता है, किन्तु श्रमिकों के प्रति सरकार द्वारा अविश्वास की भावना के कारण मेहनतकशों में स्वाभाविक आक्रोश पनपता गया। यह उचित नहीं कि अन्य लोग तो राष्ट्र के प्रति अपना दायित्व पूरा न करें और मात्र श्रमिकों को देश के लिए त्याग करने की सीख दें। आज का श्रमिक बड़ी सावधानी से यह जानना चाहता है कि उद्योगपति, सरकार एवं प्रबंधक उसके प्रति प्रामाणिक सद्भावना रखते हैं। और यदि उसे उसकी झलक मिले तो वह निश्चय ही राष्ट्रीय नेताओं तथा सरकार के आवाहन का योग्य उत्तर देगा।

श्रमिक यह भी जानना चाहेगा कि क्या नियोजक एवं उद्योगपति सभी श्रमिक कानूनों का कारगर रूप से पालन करेंगे? द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय समझौतों तथा बोर्ड के अनुबंधों को बिना विलम्ब या संशोधन के स्वीकार करेंगे? क्या अनैतिक एवं गैर कानूनी श्रम-सौदेबाजी को निरुत्साहित करेंगे? क्या स्वैच्छिक समझौते की भावना से प्रेरित उदार तथा सरल श्रम-नीति अपनाएंगे?

यह चिंता का विषय है कि बहुसंख्य कर्मचारियों एवं श्रमिकों में (जो संगठित नहीं हैं, या जो संगठित हैं उनमें भी) आज असुरक्षा की भावना व्याप्त है। देश के एक बहुत बड़े श्रमिक तबके को आज भी श्रमिक की परिभाषा में मान्यता प्राप्त नहीं है। औद्योगिक सुरक्षा बल, सेना और पुलिस विभाग, धार्मिक संस्थाओं, विदेश सेवा की संविदाजात सेवाओं और ठेकेदारों के कर्मचारियों की समस्याएं यथावत विद्यमान हैं। दैनिक मजदूरों का शोषण पूर्ववत जारी है। नियोजित एवं संगठित प्रयास के अभाव में ये सभी प्रश्न कठिन होते जा रहे हैं। यदि हम पूर्ण ईमानदारी से राष्ट्रीय निर्माण में भागीदार होना चाहते हैं, तो इन समस्याओं के निराकरण हेतु एक नई विचारधारा का निर्माण करना होगा और इस सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण अपनाना होगा।

हमारा मौलिक उद्देश्य समस्याओं को हल करना मात्र नहीं वरन् राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना है। आज के मजदूर क्षेत्र का अध्ययन करने पर दिखाई देगा कि सर्वसाधरण मजदूरों का कोई भी सर्वमान्य नेतृत्व या संगठन नहीं है। अलग-अलग टुकड़ों में बंटा हुआ नेतृत्व कमजोर होता जा रहा है और एक नई प्रवृत्ति उभर रही है जिससे प्रस्थापित श्रद्धाओं को धक्का पहुंच रहा है। पहले कहीं न कहीं कुछ श्रद्धा थी किन्तु अब सर्वसाधारण मनुष्य संदेहवादी बनता जा रहा है। हर एक व्यक्ति के बारे में, हर एक दल के विषय में, हर एक घटना के सम्बन्ध में अश्रद्धा एवं संदेह का भाव लोगों के मन में निर्माण हो रहा है। अश्रद्धा छूत की बीमारी के समान होती है। यदि पुरानी श्रद्धा टूट जाए, जिनके बारे में पहले श्रद्धा थी, वह वास्तव में श्रद्धा योग्य नहीं रह गया, यदि ऐसा लगने लगे तो केवल उस व्यक्ति या संस्था के बारे में ही मनुष्य की श्रद्धा समाप्त नहीं होती, बल्कि सबके बारे में भी अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। मैं समझता हूं देश के लिए यह सबसे बड़े खतरे की बात है।

इस तरह का संदेहवाद एवं अश्रद्धा का वायुमण्डल देश में ज्यादा देर तक रहा तो लोकतंत्र का टिकना कठिन हो जाएगा। एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जीवित रहने के लिए लोगों की आवश्यक हिम्मत भी टूट जाएगी। यह वातावरण केवल लोकतंत्र के लिए ही नहीं वरन् राष्ट्रीयता के सभी समर्थकों के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती है। कठिनाइयां अपने साथ काम करने का स्वर्ण अवसर भी लाती हैं। अतएव आज का अश्रद्धा एवं संदेह का वातावरण एक कठिनाई अवश्य है किन्तु यह राष्ट्रवादी विचारकों के लिए एक अवसर भी है। संदेह के कारण उत्पन्न श्रद्धा की रिक्तता की पूर्ति अपनी राष्ट्रभक्ति, अपनी ध्येयनिष्ठा, अपने चारित्र्य, अपनी निःस्वार्थ बुद्धि, मजदूरों और पिछड़े बंधुओं के बारे में अपनी आत्मीयता और अपने अथक परिश्रम के द्वारा राष्ट्र निर्माण के कार्य में लगे कार्यकर्ताओं को करना है। अश्रद्धा के इस वातावरण में हमें पुनः एक ऐसा दृश्य

निर्माण करना है जिससे लोगों को यह सत्य समझ में आ जाए कि राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं का एक समूह ऐसा है जो श्रद्धायोग्य है, मजदूरों का समर्थक और राष्ट्र का सेवक है।

इस दृष्टि से हम मजदूर संगठन को न राजनीतिक संगठन प्रणाली मानते हैं और न मात्र आर्थिक संगठन पद्धति। हम किसी भी राजनीतिक दल के अंग के रूप में काम नहीं करते, और न केवल रोटी की समस्या का समाधान करना हमारा एकमेव लक्ष्य है। हिन्दुस्थान के साठ प्रतिशत लोग जीवन-रेखा के नीचे हैं, उन्हें खाने को दो समय की रोटी नहीं मिलती, उन्हें राहत कैसे पहुंचायी जाए, श्रमिकों को न्यूनतम वेतन और आवश्यक सुविधाएं कैसे प्राप्त हों आदि प्रमुख प्रश्न हमारे सामने अवश्य हैं किन्तु मूल बात यह है कि यह हमारा राष्ट्र है। इसे हम समृद्ध, सम्पन्न और बलशाली बनाएंगे। हम प्रयास करेंगे कि दुनिया में हमारा राष्ट्र प्रथम स्थान पर पहुंचे। आज कोई रूस को, कोई अमरीका को क्रमांक एक का राष्ट्र मानता है और हमारे नेता उनके चक्कर काटते हैं। यह स्थिति बदलकर, दुनिया के किसी भी राष्ट्र को ऐसा कुछ भी करना हो कि जिसका असर जागतिक परिस्थिति पर हो सकता है तो उन्हें पहले इसकी चिंता करनी पड़े कि भारत का इस विषय पर क्या कहना है, इस प्रकार का संसार का नेतृत्व करने वाले भारतवर्ष का निर्माण करना है।

एक ओर राष्ट्र के पीड़ित और उपेक्षित समाज का उद्धार करना, उनकी भौतिक समृद्धि का निर्माण करना, शिक्षा की दृष्टि से उन्हें आगे बढ़ाने का काम करना है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर संसार का नेतृत्व करने की उनकी क्षमता भी बढ़ानी है। जिस शरीर का आधा हिस्सा पंगु हो, लूला हो, वह शरीर बलशाली कैसे बनेगा? जिस राष्ट्र का साठ प्रतिशत शरीर पीड़ित है, कंगाली की रेखा के नीचे है, वह राष्ट्र केवल दस प्रतिशत पूंजीपतियों और विद्वानों के सहारे संसार में अग्रणी नहीं हो सकता। अतएव शोषित, पीड़ित-पिछड़े बंधुओं के प्रति आत्मीयता एवं राष्ट्रीय आकांक्षा, दोनों हमारी मौलिक प्रेरणाएं हैं।

पीड़ित बंधुओं की समस्याओं एवं मजदूरों की स्थिति पर विचार करते समय हम उनकी मांगों के साथ-साथ उनके कर्तव्यों का भी विचार करते हैं। जब कभी भी समाज पर संकट आया है तो हमारे राष्ट्रवादी कार्यकर्ता अपना स्वार्थ भूलकर राष्ट्रकार्य के लिए अग्रसर होते रहे हैं। १९६२ के चीन के आक्रमण के समय, १९६५ के पाकिस्तान के संघर्ष के समय, १९७१ में बंगलादेश की लड़ाई के समय, १९७५-७६ में आन्तरिक आपात के समय हमारे कार्यकर्ता खतरा उठाते हुए भी साहस के साथ समयोचित कार्य करते रहे। कई लोग यह पूछते हैं कि जब आपकी राजनीतिक संगठन प्रणाली नहीं है तो आपने ये सारे काम क्यों किए? इसका उत्तर यह है कि यह ठीक है कि हम राजनीतिक नहीं हैं. किन्तु हम राष्ट्रनैतिक एवं लोकनैतिक हैं। राष्ट्रनीति हमारा स्वभाव है। राष्ट्र के पुनर्निर्माण का जो बृहत प्रयास चल रहा है, पीड़ित, पिछड़े किसान, मजदूर आदि के हित का कार्य करना इस प्रयास का एक अविभाज्य अंग है। यह मोर्चा संभालना हमारा कर्तव्य है।

अपने राष्ट्रीय समाज में वनवासी बंधुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। वनवासियों को शेष समाज

से पृथक करने के लिए अंग्रेजों ने तरह-तरह के प्रयास किए। "आदिवासी" शब्द भी उसी श्रृंखला की कड़ी है। परिणामस्वरूप, हम भी वनवासियों को अलग समझने लगे। उनके द्वारा विदेशी साम्राज्य सत्ताओं के खिलाफ किए गए विद्रोह को हमने अपने इतिहास ग्रंथों में समाविष्ट किया, किन्तु हम यह भूल गए कि देश में पाचस हजार दूरस्थ गांवों में फैले ४२७ वन्य जातियों में बंटे और १५० से अधिक बोलियां बोलने वाले हमारे (घुमन्तु जातियों साहित) पांच करोड़ वनवासी बंधु वास्तव में हमारे ही किसान मजदूर भाई हैं। वे हमसे अलग, पृथक इकाई के रूप में नहीं हैं। उनकी समस्या हमारी ही समस्या है। उनके प्रति हम उदासीन नहीं रह सकते। अफ्रीका के बाद भारत में ही वनवासियों की संख्या इतनी बड़ी है। ये गरीब हैं, निरक्षर हैं, अंधविश्वास तथा रूढ़ियों से ग्रस्त हैं। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग की रिपोर्ट के अनुसार उनके ऊपर अत्याचार बढ़ रहे हैं। उनकी खून-खराबी, उनकी झोपड़ियां जलाने, उनकी महिलाओं पर बलात्कार करने तथा उन्हें वेश्यावृति में ढकेलने की प्रवृत्ति का विस्तार हो रहा है। उनकी बीमारियों और उनके कर्जों की राशि में वृद्धि हो रही है, उनका शोषण भीषण मात्रा में बढ़ रहा है, उनके लिए न्यूनतम वेतन की व्यवस्था नहीं है। उनके लिए पेयजल की समस्या विकराल रूप धारण कर रही है और वनवासी बंधुआ मजदूरों की मुक्ति की घोषणा मात्र नाटक बनकर रह गई है। सन् १८९४ में भारत की जो सर्वप्रथम वननीति बनाई गई वह वनवासी विरोधी थी। सन् १९२७ का कानून उनके अधिकार छीनने वाला था। अंग्रेजों के जमाने में वनवासियों के परम्परागत अधिकारों पर सरकार द्वारा कुठाराघात किया गया। सन् १८०० में मालाबार के सागौन के वृक्षों को काटकर जहाज बनाए गए। तब से रेलवे स्लीपर बनाने के लिए, दोनों महायुद्धों में सामरिक उपयोग तथा कागज आदि के निर्माण के लिए वनों की लकड़ी अंधाधुंध काटी गई।

स्वतंत्रता के पश्चात् सन् १९५२ में बनाई गई राष्ट्रीय वननीति को क्रियान्वित नहीं किया गया। इस दृष्टि से आवश्यक संशोधन भारत वन अधिनियम में नहीं किए गए। जंगलों को विवेकशून्य ढंग से काटा गया। पहाड़ अपनी नींव छोड़ रहे हैं। प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। वनस्पति सृष्टि तथा प्राणी सृष्टि का विनाश हो रहा है, और सबसे बड़ी बात यह हो रही है कि वनवासियों का आश्रय स्थान भी कम होता जा रहा है। पंचवार्षिक योजनाओं के अन्तर्गत कानून तथा संविधान के द्वारा प्राप्त होने वाली सहूलियतें तथा लाभ असली गरीब वनवासियों तक नहीं पहुंचते। दलाल तथा थोड़े प्रगत वनवासी उसे बीच में ही हड़प लेते हैं। योजना आयोग द्वारा वनवासियों के लिए बनाई जाने वाली योजनाएं वनवासियों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा करके नहीं बनती। इस कारण वे अवास्तविक और परिणामशून्य रहती हैं। उनके कल्याण के लिए काम करने वाली स्वयंसेवी संस्थाएं भी बहुत कम हैं। सामान्य वनवासी की अवस्था चक्रव्यूह में फंसे हुए अभिमन्यु के समान है। इस चक्रव्यूह में उनको घेरने वाले तत्व हैं साहूकार, मध्यस्थ दलाल, व्यापारी, ठेकेदार, वनरक्षक, सरकारी अफसर, पुलिस तथा राजनीतिक नेता। नई सभ्यता के प्रभाव से वनवासियों की सामाजिक व्यवस्थाएं, जिनके कारण ग्रामीण तथा जातीय एकता कायम रहती थी, पुलिस या अदालत के पास जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी,

टूट रही है और उनके स्थान पर दूसरी किसी स्वस्थ व्यवस्था का उदय नहीं हो रहा है। उनकी समस्याओं का हल करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि वे भी किसान-मजदूर हैं, हमारे अंग हैं। आर्थिक क्षेत्र में हम इन सब बातों को भूल जाते हैं। किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम उनके कर्तृत्व को अवश्य स्वीकार करते हैं। रामायणकालीन केवट तथा शबरी, महाभारतकालीन एकलव्य, आधुनिक काल में राणा प्रताप को सहायता देने वाले भील, केरल पलशी राजा के सहायक कुरुचिअर, वन्य जाति के नेता चंदु तथा नीली, रोहतासगढ़ पर औरंगजेब की आक्रामक सेना को परास्त करने वाली उरांव वीरांगनाएं, मध्य प्रदेश में गोंड लोगों की रानी दुर्गावती, सन् १८५७ के पूर्व ही अंग्रेज साम्राज्य के खिलाफ हथियार उठाने वाले संथाल तथा उनके नेता बाबा तिलक मांझी, पोरस को अपना पूर्वज मानने वाले विद्रोही मुण्डा नेता वीरसा भगवान, सन् १९२९-२२ में असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत लगानबन्दी आन्दोलन करने वाले ताना भक्त आदि वीरों का स्मरण करते ही हमें सहर्ष गर्व का अनुभव होता है।

राष्ट्रीय मुख्यधारा से वनवासियों को पृथक करने की चेष्टा करने वाले फिजो, आयजक स्वं. खयलंग मईवाह, कहेडाय आदि नेताओं को "राष्ट्रविद्रोही" कहने में जहां हम सकुचाते नहीं वहां हम रानी गाइदिन्ल्यू, एन. सी. जेलियान, हिपसन राय आदि वनवासी नेताओं तथा "सेंग खासी" आदि वनवासी संस्थाओं की सराहना भी करते हैं। उनके प्रबल राष्ट्रीय भाव को देखते हुए सराहना करनी भी चाहिए। किसान मजदूर होने के कारण आर्थिक दृष्टि से वे हमसे अलग नहीं हैं, अर्थात हम एकात्म हैं। अन्य किसान संस्थाओं में यह भाव विद्यमान नहीं है, किन्तु भारतीय किसान संघ में यह भाव जाग्रत है। यद्यपि अभी उनकी दृष्टि से कुछ काम करने की हमारी क्षमता नहीं है किन्तु हमारा यह निश्चय है कि कुछ अधिक शक्ति प्राप्त होते ही हम अपने इन अभागे वनवासी किसान-मजदूरों की आर्थिक समस्याएं हाथ में लेंगे तथा रचनात्मक कार्य द्वारा वनवासियों का जीवन स्तर ऊंचा उठाने का प्रयास करने वाली "भारतीय वनवासी कल्याण आश्रम" जैसी संस्थाओं को यथाशक्ति सहयोग प्रदान करेंगे।

२०. विमुक्त जातियों की समस्या

नागपुर जिले के मकरधोकड़ा नामक ग्राम में मुझे निमंत्रित किया गया था। "भामटी" जाति की महिलाओं के लिए आयोजित सिलाई प्रशिक्षण वर्ग का उद्घाटन करना था। "भामटी" जाति की गिनती "भूतपूर्व अपराधी" जातियों में होती है। इन जातियों को अब शासन द्वारा "विमुक्त जातियां" संज्ञा दी गई है।

"विमुक्त जातियां" भारत की श्रमशक्ति में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकती हैं। वे बीजीभूत श्रमिक हैं किन्तु अपवादात्मक उदाहरण छोड़ दिए जाएं तो यह कहा जा सकता है कि आज देश "विमुक्त" जातियों की श्रम-शक्ति के लाभ से वंचित है।

इन जातियों का परम्परागत, आनुवंशिक उद्योग अपराध कर्म है। वैसे देखा जाए तो अपराध करने की प्रवृत्ति उतनी ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य समाज किन्तु पितृ परम्परागत, आनुवंशिक उद्योग के नाते अपराध करने वाली जातियां हमारे देश में ही पाई जाती हैं, अन्यत्र नहीं। अपराध के माध्यम से पैसा कमाना उन्हें अधिक सरल प्रतीत होता है। इन जातियों में पैदा होने वाले स्वाभाविक रूप से अपराध स्वीकार करते हैं। अपराध उनकी आनुवंशिक प्रकृति बन जाती है।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के नृविलान के अध्यापक डा॰ आर. एच. लोई ने अपनी पुस्तक "प्रिमिटिव सोसायटी" में बताया है कि सहवास अपराधी प्रवृत्ति का सर्वप्रथम तथा सर्वप्रमुख कारण है। मानसिक स्वस्थता तथा संतुलन का अभाव और मानसिक विकृतियां अपराधी जातियों की विशेषता है। समाज भी इनकी उपेक्षा करता है। वे अर्द्धनग्न तथा भूखे रहते हैं। वे समाज के अन्य वर्गों को प्राप्त होने वाली कई सुख-सुविधाओं तथा सहूलियतों से वंचित हैं। उनके जीवन तथा मनोविज्ञान के कई पहलुओं के विषय में समाज अब तक अनभिज्ञ है। विदर्भ की अपराधी जातियों के विषय में कुछ तथ्य इस प्रकार हैं :—

'विमुक्त जातियों' को यह सहज लगता है कि कुछ भी शारीरिक श्रम किए बिना अपराध करके तुरंत पैसा प्राप्त किया जा सकता है, और वैसा करना उचित भी है।

वे वेशांतर करके स्वयं को मारवाड़ी, बनिया, फकीर, साधु या ब्राह्मण बताते हैं।

इनकी कुछ जातियों में प्रसव के कुछ दिन पूर्व महिलाएं दुकानों में चोरियां करके स्वयं को दण्डित करवा लेती हैं ताकि जेल में उन्हें भोजन विश्राम प्राप्त हो तथा सरकारी खर्चे से प्रसव की व्यवस्था हो सके।

भिक्षु गृह, रेलवे स्टेशन, रिमाण्ड होम्स तथा पुलिस स्टेशन में ये लोग प्रमुख रूप से पाए जाते हैं।

इन जातियों में किसी भी युवक को तब तक विवाह योग्य नहीं माना जाता, जब तक वह चौर्य कर्म में अपनी कुशलता प्रस्थापित नहीं करता। मांगगारू जाति में प्रौढ़त्व तक इसीलिए अविवाहित रहना पड़ता है कि तब तक उसे कोई बड़ी चोरी करने में सफलता नहीं मिली होती।

कुछ विमुक्त जातियों में लड़कियां विवाह तब करती हैं जब उनके प्रेमी कम से कम चौदह बार जेल जा चुके हों। चौदह से कम बार जेल जाने वालों का विवाह होता ही नहीं।

कुछ विमुक्त जातियों में महिलाएं वेश्यावृत्ति अथवा अन्य अनैतिक अपराधों के द्वारा तथा पुरुष डकैती, चोरी, खूनखराबी आदि अपराधों के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं।

अपने एक गिरोह का संदेश दूसरे गिरोह को पहुंचाने के लिए तथा साधारण वेश में घूमने वाले पुलिस, सी. आई. डी. की खोज करने के लिए ये लोग कुत्तों का उपयोग करते हैं।

बिल्कुल बचपन से ही माता-पिता अपने लड़कों को परम्परा से प्राप्त अपराधी पेशे की शिक्षा-दीक्षा देते हैं।

कैकाडी जाति में अपने पुरुष के जेल जाने पर उतने समय तक उसकी पत्नी दूसरे की पत्नी बनकर रहती है और पति के वापस लौटने के बाद उसके पास फिर वापस आ जाती है। इस जाति में पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं ज्यादा अपराधी तथा खतरनाक होती हैं।

भामटा, ढग, बढक, बेरड, येरूकल, पैलमार, केम्पाड़ी, कारबूलन आदि जातियों के लोग पोस्ट आफिस, रेलवे स्टेशन, बैंक तथा सरकारी खजानों से चोरी करने में विशेषज्ञ हैं।

हर एक जाति का आनुवंशिक अपराधी पेशा अलग-अलग है और वे अपने ही पेशे के अपराध में विशेषज्ञता का प्रयत्न करते हैं।

यह कहना तो सरल है कि उनकी प्रवृत्तियां समाज विरोधी हैं और उनमें परिवर्तन लाना चाहिए, किन्तु यह बात उनसे घृणा या तुच्छता रखने से नहीं हो सकती। उनकी समस्याओं पर सहानुभूति तथा आत्मीयतापूर्वक विचार करना चाहिए।

विमुक्त जातियों के साथ सम्पन्न और सभ्य समाज द्वारा सम्पर्क प्रस्थापित करने की आवश्यकता है। परिस्थिति के दबाव के कारण भूतकाल में उन्होंने विवश होकर अपराधी पेशा स्वीकार किया होगा। आज परिस्थितियों में परिवर्तन आया है। आज उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा तथा प्रतिष्ठित पेशा प्रदान करने के लिए समाज तैयार है और तदनुकूल भारत की नियमित श्रमशक्ति का अंग बनकर रहने में उनका तथा देश का भी कल्याण है। ये सारी बातें पारस्परिक

प्रेम और सहवास के आधार पर उन्हें समझाई जा सकती हैं।

नवजाग्रत विमुक्त जातियों ने अपनी संस्था का निर्माण किया है। उनके विदर्भ फेडरेशन ने निम्नलिखित मांगें सरकार के सामने रखी हैं :—

(१) विमुक्त जातियों की स्वतंत्र, सर्वंकष सूची (तालिका) का निर्माण,

(२) उनके लिए स्वतंत्र आयोग की नियुक्ति,

(३) उनके हितों की रक्षा करने के लिए केन्द्रीय गृह मंत्रालय के अन्तर्गत एक स्वतंत्र अखिल भारतीय आयोग की नियुक्ति,

(४) उनके विषय तथा हित की दृष्टि से आवश्यक तथ्य तथा आंकड़े एकत्रित करने के लिए उन जातियों के ही कुछ व्यक्तियों की प्रदेशवार नियुक्ति,

(५) विभागीय स्तर पर उनके लड़कों के लिए छात्रावास का निर्माण तथा उन्हें शिक्षा प्रदान करने के हेतु उनकी विशेष बस्तियों का निर्माण।

(६) विधिन्न विधानसभाओं, विधान परिषदों, लोकसभा तथा राज्यसभा में उनके प्रतिनिधियों की नियुक्ति।

यद्यपि विदर्भ फेडरेशन के नेता वास्तव में राष्ट्रवादी हैं तो भी बाह्य राजनीतिक वायुमण्डल के प्रभाव में आकर उन्होंने जो उपर्युक्त मांगें सरकार के सामने रखी हैं उनके फलस्वरूप— उनकी इच्छा न रहते हुए भी— सामाजिक विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल सकता है। अतः केवल संवैधानिक साधनों का ही अवलम्बन न करते हुए सामाजिक एकात्मता की भावना के आधार पर भी 'विमुक्त जातियों' को सही मार्गदर्शन करना चाहिए। समाज का यह कर्तव्य है कि वह इस समस्या की वास्तविकता को स्वीकार करे तथा 'विमुक्त जातियों' को नियमित श्रमशक्ति में शामिल होने की दृष्टि से उन्हें सभी सहूलियतें प्रदान करे।

२१. व्याधि और उपचार

आज की व्याप्त व्याधि के कई कारण हैं। उनमें प्रथम और प्रबल कारण हमारा उस व्यवस्था का स्थापन है जिसको हमारे संविधान ने प्रतिष्ठित किया। महान विचारकों ने व्यवस्था स्थापन से पहले यह मत प्रगट किया था कि हमको उक्त आशय के लिए पाश्चिमात्य व्यवस्था का अंधानुकरण नहीं करना चाहिए।

हमारे संविधान निर्माता इस तथ्य को भूल गए कि विश्वविद्यालय की किसी भी परीक्षा में मेधावी विद्यार्थी के उत्तर की नकल करके अन्य विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं, क्योंकि सभी विद्यार्थियों के लिए प्रश्न-पत्र एक ही रहता है। किन्तु जैसा कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है, भगवान ने हर एक देश के लिए अलग-अलग प्रश्न-पत्र दिया है और इस कारण किसी एक देश की उत्तर पत्रिका की नकल करके कोई भी दूसरा देश भगवान की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता।

महात्मा गांधी ने १९०८ में ही "हिन्द स्वराज्य" के माध्यम से कह दिया था कि ग्रेट ब्रिटेन के जैसा पाश्चिमात्य लोकतंत्र का ढांचा भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं होगा। आचार्य विनोबा भावे और लोकनायक जयप्रकाश नारायणजी का मत था कि राजनीतिक दलों की व्यवस्था देश की परिस्थितियों में अनुपयुक्त है। श्रद्धेय श्री गुरुजी का विचार था कि केवल क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की व्यवस्था भारतीय जनता की आकांक्षाओं को पूर्ण करने में असमर्थ है। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली को जो कि भारतीय परम्परा से समरस है, क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व प्रणाली के समान महत्व मिलना चाहिए, और व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व प्रणाली का पूरक बनाना चाहिए। उन्होंने इस उद्देश्य से कई प्रस्ताव भी दिए थे। वह इस विचार के थे कि निचले स्तर पर चुनाव सर्वसम्मति से होना चाहिए, न कि अल्पमत-बहुमत के आधार पर, जिसको हाल में पश्चिम का अनुकरण करने के कारण आधार बनाया गया। श्री एम. एन. राय ने आजादी के पहले ही यह चेतावनी दी थी जनशिक्षा का प्रसार हुए बिना पाश्चिमात्य लोकतंत्र की पद्धति देश में सफल नहीं होगी, और इसीलिए यह चाहा था कि जनता की शिक्षा पर और अधिक बल दिया जाए। उनका कहना था कि यह प्रक्रिया प्रदीर्घ हो सकती है और लोगों का धैर्य भी टूट सकता है, किन्तु यदि केवल इसी प्रक्रिया की ही उपादेयता

है तो इसे सबसे कम समय लगने वाली प्रक्रिया मानी जानी चाहिए।

भारतीय संविधान के निर्माता डा॰ अम्बेडकर भी संविधान की व्यवस्थाओं से पूर्णतया सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा था कि संविधान निर्माण में विभिन्न विचारों एवं दृष्टिकोणों के समायोजन की मजबूरी होने के कारण वे उसे ऐसा रूप नहीं दे सके, जैसा वे चाहते थे। यदि केवल उन्हें ही अपनी इच्छा से संविधान के निर्माण का दायित्व दिया गया होता तो संविधान का वह स्वरूप न होता जो आज है। यह बात नहीं है कि यदि बाबासाहब अम्बेडकर को उनकी इच्छा के अनुसार संविधान बनाने का अवसर मिलता तो उनका संविधान हिन्दुत्वनिष्ठों की इच्छाओं के अनुकूल पूर्णरूपेण हो जाता किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनके संविधान का स्वरूप आज के संविधान से पर्याप्त मात्रा में भिन्न होता। उन्होंने आज के संविधान के सम्बन्ध में यहां तक कहा कि "यदि पाया गया कि यह संविधान अपेक्षा के अनुरूप खरा नहीं उतरता तो मुझे इसको जनता के सामने जलाकर राख करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होगी।"

इस विषय में श्री पी॰ कोटेश्वर राव के उद्‌गार महत्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं : "हमारा संविधान न तो गांधीवादी है और न ही भारतीय। यह जनता का भी संविधान नहीं है। यह असाधारण रूप से अनेक उलझनों से भरा है। इसके प्रावधानों में राष्ट्रीय विशिष्टताओं और हमारे पूर्वजों की प्रतिभा की झलक भी दिखाई नहीं देती। यह समय की गति से पिछड़ा हुआ है। इसका निर्माण करते समय अपनी भूमि से उपजी भावना का उपयोग नहीं किया गया। अपनी प्राचीन प्रतिभा से प्रेरणा नहीं ली गई। आम आदमी की आवश्यकताओं एवं भावनाओं को अलंकारिक और खोखली बातों से छिपाया गया। इस संविधान का निर्माण करने में आम आदमी सहभागी नहीं था। अपने देश की परिस्थितियों के साथ उनकी प्रासंगिकता का विचार किए बिना पश्चिम के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विचारों को आयात किया गया। इसमें समुचित प्राथामेकताओं की सोच का भी अभाव है। इसके अनेक भागों के पुनरीक्षण की आवश्यकता है तो कुछ भाग तो बिल्कुल निकाल देने योग्य हैं। अनेक भागों में नए उपबंध जोड़ने की भी आवश्यकता है। अतः अब वह महत्वपूर्ण समय आ गया है कि सभी बातों का वस्तुपरक लेखा-जोखा लिया जाए, साहसपूर्वक इस संविधान को रद्‌द कर दिया जाए और अपनी भूमि में से उपजे पूरी तरह से एक समाजवादी और एक लोकतांत्रिक संविधान का निर्माण किया जाए।"

हमारा संविधान भारत की भूमि की उपज नहीं है। इसी कारण वह हमारी भूतकालीन परम्पराओं, वर्तमान अपेक्षाओं और भविष्य की आकांक्षओं से असम्बद्ध है।

उदाहरणार्थ, संविधान के अनुसार हमारे लिए सरकार को चुनने की एक प्रणाली स्थापित की गई है। यह प्रणाली ब्रिटिश प्रणाली की नकल है। किन्तु यहां की और ब्रिटेन की परिस्थितियों में बहुत बड़ा अंतर है। यहां ४४ करोड़ लोग पूर्ण निरक्षर हैं, और १२ करोड़ लोग अर्द्ध-निरक्षर। जनसंख्या का ५० से ६० प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे है। उस देश में, जहां निरक्षरता और गरीबी का इतना ज्यादा प्रभुत्व हो, वहां वेस्टमिंस्टर (ब्रिटिश) ढंग का संविधान अधिक कारगर नहीं हो सकता।

इसी तरह हमने देशकाल की परिस्थिति का आकलन किए बिना अपने यहां पाश्चिमात्य संस्थाओं का संस्थापन किया है। जैसे राजनीतिक दल नामक संस्था (Institution of Political Party)। बहुत से लोग इस धारणा के हैं कि राजनीतिक दल नामक संस्था ही केवल सरकार को चुनने की व्यवस्था हो सकती है और वह पार्टी की व्यवस्था भी वैसी ही हो सकती है जैसी कि ब्रिटेन की व्यवस्था है।

ग्रेट ब्रिटेन में राजनीतिक पार्टियों की आधार-भूमि विचारधारा है। यदि गौर से देखा जाए तो वहां विचारधारा का अर्थ आर्थिक विचारधारा है और राजनीतिक पार्टियां आर्थिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। यही बात पश्चिमी यूरोप के देशों— जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि के लिए भी लागू होती है। इन देशों में समाज की संरचना विविधतापूर्ण और बहुआयामी नहीं है। विभिन्न दलों में मुख्य अंतर आर्थिक क्षेत्र में विद्यमान रहता है, और इसी कारण वहां दक्षिण, वाम और मध्यम (राइट, लेफ्ट और सेंटर) की शब्दावली का प्रचलन हुआ। राष्ट्रजीवन के अन्य क्षेत्रों में भी लोगों में मतभेद होते हैं, किन्तु वे न तो इतने तीव्र होते हैं, न इतने मौलिक। ये मतभेद ऐसे होते हैं जिनका निपटारा राजनीतिक दल एवं सत्ताधारी दल के हस्तक्षेप के बिना किया जा सकता है क्योंकि इन मतभेदों के निस्तारण के लिए वहां अलग व्यवस्था और संस्थाएं हैं।

किन्तु हमारा समाज बहुआयामी और विविधतापूर्ण समाज है। अमरीका का समाज भी ऐसा ही समाज है और हम पाते हैं कि अमरीका की प्रमुख राजनीतिक पार्टियां आर्थिक, विचार दृष्टि पर आधारित नहीं हैं। उनका वर्गीकरण दक्षिण, वाम और मध्यमार्गी पार्टी के रूप में नहीं किया जा सकता। वे केवल चुनाव यंत्र मात्र हैं। वे चुनाव का समय आने के पश्चात भावी कार्यक्रम की रूपरेखा जनता के सम्मुख प्रस्तुत करके वोट मांगती हैं।

अमरीका अपेक्षाकृत नया राष्ट्र है। इस कारण अमेरिका के पास हमारी तरह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा अन्तर्निहित एकता के सूत्र नहीं हैं। हमारे देश में सांस्कृतिक एकता की प्रबल धारा अनेकता को समायोजित करती है जबकि अमेरिका में अनेकता है, किन्तु वहां एकता की कोई धारा नहीं है। अनेकता के कारण जीवन के विभिन्न व्यवहारों में विभिन्न मतभेद वहां प्रस्फुटित होते हैं। किन्तु उसके निस्तारण के लिए अमरीकी नागरिक राजनीतिक पार्टियों से अपेक्षा नहीं करते कि वे उन्हें सुलझाएं, क्योंकि उसके लिए कई तरह की संस्थाओं (Institutional frame work) की व्यवस्था बनाई गई है।

पश्चिमी यूरोपीय देशों में जहां-जहां समाज विविधतापूर्ण नहीं है वहां राजनीतिक पार्टियों से उन समस्याओं के, जो आर्थिक क्षेत्र में नहीं आतीं, निस्तारण की अपेक्षा बहुत कम की जाती है। परिणामस्वरूप, वेस्टमिंस्टर ढांचे वाली राजनीतिक पार्टी उन देशों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है।

किन्तु अपने देश में विभिन्नताएं तीव्र एवं गहरी हैं। इसलिए यहां वेस्टमिंस्टर ढांचा प्रभावी रूप से कारगर नहीं हो सकता। यहां हम राजनीतिक पार्टियों से सब क्षेत्रों की समस्याओं के

निस्तारण की अपेक्षा रखते हैं।

ऐसी विविधतापूर्ण समाज-रचना के कारण उत्पन्न समस्याओं का विचार राजनीतिक दलों के नेता हमारे यहां आज नहीं कर रहे हैं। समय और परिस्थितियों का दबाव भविष्य में उन्हें इन मतभेदों की ओर ध्यान देने के लिए मजबूर करेगा।

उदाहरणार्थ, सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की सीमा क्या हो, यह बहस का मुद्दा हो सकता है। मानो, एक सौ लोग ऐसे हैं जो सोचते हैं कि सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। अब यह आवश्यक नहीं कि इस विषय में जो सौ व्यक्ति एक ग्रुप में हैं वे सब इस प्रश्न पर भी एक ही ग्रुप में रहेंगे कि बेलगांव महाराष्ट्र में रहे या कर्नाटक में। सार्वजनिक क्षेत्र के विषय में एकमत रखने वाले लोगों में से कुछ महाराष्ट्र के पक्ष में हो सकते हैं और कुछ कर्नाटक के। बेलगांव के महाराष्ट्र में रहने के सभी पक्षधर रामजन्मभूमि के प्रश्न पर एक ही ग्रुप में रहेंगे, यह भी अनिवार्य नहीं है। इस तरह अलग-अलग समस्याओं पर अलग-अलग समूह हो सकते हैं।

कुछ समय पूर्व ओमप्रकाश त्यागी ने धर्मान्तरण रोकने के लिए लोकसभा में एक विधेयक पेश किया था। उसके बिल्कुल विपरीत आशय का एक विधेयक राम जेठमलानी ने भारतीय जनता पार्टी के संस्थापन के पश्चात पेश किया। कुछ लोगों ने इनमें से एक विधेयक पसंद किया होगा, और कुछ लोगों ने दूसरा। यह भी निश्चित है कि यह मुद्दा भी उठा होगा कि विधेयक वापस लेना चाहिए या नहीं, अथवा श्री त्यागी या श्री जेठमलानी को अपना विधेयक वापस लेने के लिए कहा जाए, क्योंकि विधेयक पार्टी के सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है। इसमें संदेह नहीं है कि पार्टी का अनुशासन सर्वोपरि है और पार्टी की नीति का पालन होना ही चाहिए; किन्तु यदि श्री जेठमलानी की धर्मान्तरण पर अपनी कोई विचारधारा है तो क्या उनको उसको प्रस्तुत करने अथवा स्थापित करने से प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत रोकना उचित होगा? वे एक राजनीतिक पार्टी के सदस्य हैं। उनके लिए क्या दल के अलावा कोई ऐसा मंच हो सकता है जहां वे अपने विचारों का प्रस्तुतिकरण कर सकें? यदि उनका दल उनके विचार से सहमत न हो तो क्या उन्हें उस विषय पर सदा के लिए चुप रहना चाहिए, बावजूद इसके कि उनका विचार उनकी प्रबल भावनाओं के कारण हो?

इसी कारण कई तरह के मंचों की अलग-अलग विषयों के हेतु आवश्यकता है। चूंकि अपनी समाज संरचना विविधतापूर्ण है, इसलिए विविध संस्थागत ढांचे होने चाहिएं, जो कि जनता की अपेक्षाओं को पूरा करने तथा विविध विचारों को परिलक्षित करने का माध्यम बन सके। यह सब राजनीतिक दल के एक ही छत्र के द्वारा नहीं हो सकता। अतः अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में हमें संस्थानों का निर्माण करना होगा। यह विचारणीय है कि उनके नीति निर्धारक तत्व क्या हों?

मेरे विचार से पूजनीय श्री गुरुजी उक्त आवश्यकता की पूर्ति कर चुके हैं। अपने ठाणे के भाषणों में उन्होंने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा अन्य सामाजिक संरचना के

नीति निदेशक तत्व हिन्दुत्व-विचारधारा के आधार पर प्रतिपादित किए हैं। ठाणे में उनको सुनते समय मैं सचमुच कुछ भयभीत और अधीर हो गया था। मुझे उनके नेतृत्व में उनके निदेशन तथा उनकी विचारधारा की परिपक्वता में अदम्य आस्था है। फिर भी उनकी विचारधारा का हिन्दुत्व के आधार पर प्रतिपादित सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य संरचना के तत्वों का द्वितीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद के समय में प्रतिस्थापन हो सकेगा क्या? यह विचार मुझे व्यक्तिगत रूप से अधीर कर गया था।

मुझे यह बताते हुए हर्ष होता है कि उन भाषणों के पांच वर्ष के अन्तराल के पश्चात जब मैं यूगोस्लाविया गया तो मुझे एक सुखद आश्चर्य हुआ। अपने संविधान में उन्होंने जो व्यवस्था प्रस्फुटित की, वह श्रीगुरुजी के ठाणे में प्रकट किए गए विचारों के काफी समरूप थी। मैं यह नहीं कहता कि वह बिल्कुल वैसी ही थी।किन्तु काफी हद तक उससे मिलती थी। जब मैंने यूगोस्लाव पद्धति का अध्ययन किया तो मुझे विश्वास हुआ कि श्रीगुरुजी के द्वारा प्रगट किए गए विचार आज के आधुनिक समाज में व्यवहृत हो सकते हैं। अतएव अपने अतीत से नाता तोड़े बिना भी हम आधुनिक हो सकते हैं, वह भी बिना पाश्चिमात्य पद्धति का पालन किए।

यह नहीं कहा जा सकता कि यूगोस्लाव प्रयोग सफल होगा कि असफल। क्योंकि इस प्रकार के प्रयोगों में सफलता और असफलता कई कारणों पर अवलम्बित होती है। किन्तु यह प्रशंसनीय है कि उन्होंने यह प्रयोग करने का साहस किया। उनका प्रयोग श्रीगुरुजी की धारणाओं के इतना निकट है यह तथ्य अपने लोगों को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य और अन्वेषण करने का बल और साहस दे सकता है।

इस तथ्य के अलावा राष्ट्रीय पुनर्रचना के लिए यह भी यह आवश्यक है कि लोगों को समुचित संस्कारयुक्त किया जाए। वे हर गतिविधि उनकी प्रमुखता, संस्थागत ढांचों से अधिक होनी चाहिए जो लोगों को संस्कारित करने की प्रक्रिया में सहायक है। इस दृष्टि से हम भाग्यशाली हैं कि हमारे बीच परमपूज्यनीय डा॰ हेडगेवारजी सा एक महान व्यक्तित्व अवतरित हुआ। वे एक महान दूरद्रष्टा थे। डाक्टरजी ने भारतीय समाज की धड़कन को अनुभव किया तथा उसकी भविष्य की आवश्यकता की पूर्ति हेतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का संस्थापन किया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की मुख्य अवधारणा शाखा में है, क्योंकि वह लोगों को उस रूप में संस्कारित करती है जिसकी राष्ट्र को आवश्यकता है, अर्थात् ध्येयवादी व्यक्ति, सम्पूर्ण समर्पण, साध्य के हेतु संकल्प तथा राष्ट्रीय चरित्रमय व्यक्ति।

इन सारे तत्वों का ध्यान रखते हुए यदि हम अपने को पाश्चिमात्य चकाचौंध से मुक्त करके यथार्थ की धरती पर आ जाएं, अपनी शक्तियों का प्रयोग भारतीय समाज के लिए उचित संस्थागत ढांचे के प्रस्फुटन में लगाए तथा लोगों को उन संस्कारों से युक्त करें जो इस ढांचे को संभालने की क्षमता रखते हों तो हम समस्याओं का निराकरण कर सकेंगे।

२२. विकल्प

प्रत्येक चुनाव के बाद विद्यमान निर्वाचन पद्धति या राजनीतिक व्यवस्था के विषय में बहस प्रारम्भ हो जाती है। १९६७ की संविद सरकारों के अनुभवों के कारण यह चर्चा प्रारम्भ हुई कि वर्तमान पद्धति दोषपूर्ण तथा अक्षम है और देश के हित की दृष्टि से यहां अध्यक्षीय पद्धति होनी चाहिए। १९७५ के आपात में भी यह सुझाव सार्वजनिक चर्चा के लिए प्रस्तुत किया गया था। ब्रिटेन का अनुकरण करने वाली हमारी निर्वाचन पद्धति में सीटों और वोटों में कोई सुसंगत अनुपात नहीं रहता। ज्यादा मत प्राप्त करते हुए भी कम सीटों और कम मत प्राप्त करते हुए ज्यादा सीटों का ढर्रा बना हुआ है। इस पद्धति के शिकार अलग-अलग दल बनते रहते हैं और जो दल शिकार होता है वह तुरन्त आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सुझाव देता है। यह भी एक कर्मकाण्ड बन गया है। इस तरह के सुझाव मौलिक चिंतन के फलस्वरूप नहीं, स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में ही आते हैं। आज की पद्धति से अगले चुनाव में अपनी सीटें कम न हों, यह सोचकर आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सुझाव देने वाले दलों ने क्या कभी यह सोचा है कि भारत एक बहु-आयामी और विविधतापूर्ण समाज है, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के कारण विभाजनकारी तत्वों को बढ़ावा मिलेगा। विभिन्न संकीर्ण आधारों पर निर्मित छोटे दलों की संख्या में वृद्धि होगी, राष्ट्रीय एकात्मता में शिथिलता आएगी, केन्द्र तथा राज्यों में अस्थिरता बढ़ जाएगी, और इन सब बातों के फलस्वरूप कुछ समय पश्चात जनता अस्थिर लोकतांत्रिक सरकार की अपेक्षा स्थिर तानाशाही सरकार को पसंद करेगी। अनेक आस्थाओं वाले विविधतापूर्ण समाज में यह सब होना स्वाभाविक है।

लेकिन प्रश्न यह है कि राष्ट्रपति पद्धति का सुझाव देने वाले व्यक्तियों ने भी दूर की बात सोची है क्या? अनेक आवश्यकताओं के कारण निर्माण होने वाले अन्तर्विरोधों को सुलझाने की क्षमता संसद से असम्बद्ध किसी राष्ट्राध्यक्ष में हो सकती है क्या? मंत्रिमंडल और संसद के बीच उचित सम्बंध न रहा तो संसद के विभिन्न छोटे-छोटे गुट अपने संकीर्ण स्वार्थ की सिद्धि हेतु राष्ट्राध्यक्ष पर दबाव लाने के लिए हर प्रयास करेंगे और उनके आपसी संघर्ष और भी बढ़ेंगे। इतनी विशाल सभा जिसके हाथों में केन्द्रित की जा सके ऐसे सर्वमान्य व्यक्तित्व वाले प्रभावी प्रत्याशी भी राष्ट्राध्यक्ष के पद के चुनाव के समय इस विस्तृत देश में कितने उपलब्ध होंगे? जिनके

आकर्षक व्यक्तित्व की चर्चा होती है, उन पंडित नेहरू का भी आकर्षण उनके अन्तिम दिनों में कितना घट गया था, यह सभी को ज्ञात है।

इस व्यवस्था में उपयुक्त प्रत्याशी का मिलना कठिन तो होगा, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हमारे देश में यह पद्धति आई तो राष्ट्राध्यक्ष और संसद दोनों में बार-बार संघर्ष निर्माण होंगे। संघर्ष, नियम और सामंजस्य की अपवादजनक स्थिति होगी। मतलब यह कि गतिरोध की अव्यवस्था अधिक काल तक चलती रहेगी।

ये सारी बातें समझने में ज्यादा कठिनाई नहीं होनी चाहिए, तो भी राजनीतिक् महापुरुषों द्वारा उपर्युक्त सुझाव आते रहते हैं। इसका मतलब यह है कि दीर्घकालिक विचार की क्षमता रखते हुए भी ये महापुरुष दीर्घकालिक विचार नहीं करते। राष्ट्रनिर्माण का लम्बा विचार उनके सम्मुख नहीं है। उनके विचार केवल अगला चुनाव और सत्ता प्राप्ति तक ही सीमित हैं।

किन्तु इस तरह के सीमित, केवल चुनाव से जुड़े राजनीतिक चिंतन से देश का कारोबार अधिक दिनों तक ठीक ढंग से नहीं चल सकता। समस्या के मूल तक जाने की आवश्यकता है।

ब्रिटिश साम्राज्य के साथ दीर्घकालीन साहचर्य के कारण हमारे देश में यह भावना निर्माण हुई कि लोकतांत्रिक व्यवस्था का सबसे अच्छा नमूना ग्रेट ब्रिटेन का है। गांधी जी ने १९०८ में 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा था कि ब्रिटेन का माडल भारत के लिए अनुकूल नहीं रहेगा। १९१४ में श्री अरविन्द ने कहा था कि 'ब्रिटिश पद्धति की संसदीय प्रणाली हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं रहेगी। भारत जैसे विशाल देश में हित-सम्बन्धों की सरकार (Govt. of Interests) ही कार्यक्षम हो सकती है। पश्चिम में संसदीय लोकतंत्र की जो विभिन्न प्रणालियां प्रचलित हैं उनके दोषों का विवरण पश्चिम के कई विचारकों ने किया था। प्रातिनिधिक शासन-प्रणाली को प्रत्यक्ष लोकतंत्र में अधिकतम निकट लाने की आवश्यकता पश्चिम में प्रतीत होने लगी थी और इसके उपाय की दृष्टि से प्रतिनिधि वापस बुलाने का अधिकार जैसी कुछ योजनाएं प्रस्तुत की गईं। पश्चिम ने यह अनुभव भी किया था कि जनमत संग्रह इस खाई की पूर्ति करने में पर्याप्त मात्रा में सफल नहीं हो सकता। लोकतंत्र की यशस्विता का मूल जनशिक्षा है किन्तु उन्हें यह भी अनुभव आया कि शिक्षा की दिशा में राजनीतिक दल सक्रियता नहीं दिखाते। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के थोड़े दिन पूर्व रोब्सपियरे ने कहा था "लोक निर्वाचित प्रतिनिधि यदि चाहें तो जनता के विरोध में षड्यंत्र करते हुए लोकतंत्र को समाप्त कर सकते हैं। मतपेटी में से तानाशाह का उदय हो सकता है।" इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हिटलर के रूप में सबके सम्मुख था। शासक दल का बहुमत यदि स्पष्ट न रहा, थोड़े ही मतों के अंतर से यदि यह शासन में आया तो अपनी सत्ता कायम रखने के लिए उसे किस तरह छलकपट की राजनीति का आश्रय लेना पड़ता है, इसके उदाहरण ब्रिटेन के संसदीय इतिहास में उपलब्ध हो चुके थे। अफसर बनने के लिए तो कुछ न्यूनतम योग्यताओं की आवश्यकता होती है किन्तु मंत्री बनने के लिए तो कोई भी न्यूनतम योग्यता आवश्यक नहीं मानी जाती। इस अन्तर्विरोधपूर्ण दुष्परिणामकारी स्थिति की अनुभूति भी पश्चिम में होने लगी थी। यह बात केवल कम्युनिस्टों ने ही नहीं, बल्कि गैर-कम्युनिस्ट चिंतकों ने भी कही थी कि

चुनाव प्रणाली खर्चीली रही तो उसके फलस्वरूप राजनीतिक भ्रष्टाचार का निर्माण होता है और लोकतांत्रिक सरकार पर पूंजीपतियों का प्रभाव अपरिहार्य बन जाता है। यह बात भी लोगों के ख्याल में आने लगी थी कि निकट भूतकाल में निर्माण हुई "राजनीतिक दल-संस्था" सामान्य नागरिक और लोकतांत्रिक शासन के बीच एक बाधा के रूप में खड़ी हो जाती है, केवल क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व पर आधारित पद्धति समाज के विभिन्न हित-समूहों का सम्यक् तथा संतुलित विचार नहीं कर सकती, इस दृष्टि से व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को मान्यता दी जाए, इस विचार का भी प्रचार पश्चिम में प्रारम्भ हो गया था।

अपने देश में कुछ विचारकों ने भी भारतीय प्रकृति, प्रतिभा तथा परामर्श के आधार पर पाश्चिमात्य लोकतांत्रिक प्रणालियों का मूल्यांकन प्रारम्भ कर दिया था। ब्रिटिश प्रणाली में ही पलने के कारण लोकतांत्रिक निर्णय अर्थात् बहुमत-अल्पमत की पद्धति से किए गए निर्णय, की सार्वत्रिक धारणा अस्वीकार करते हुए सर्वसम्मति से हुआ निर्णय, अर्थात् लोकतांत्रिक निर्णय यह अभिनव प्रतीत होने वाला विचार कई चिंतकों ने प्रस्तुत किया था। लोकनायक जयप्रकाश, आचार्य विनोबा भावे, श्रीगुरुजी आदि इस चिंतनधारा के प्रवर्तक थे। श्रीगुरुजी का विचार था कि यद्यपि आज एकदम विभिन्न स्तरों पर इस सिद्धांत को लागू करने में व्यावहारिक कठिनाइयां आएंगी तो भी निचले स्तर पर इसको लागू किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप उस स्तर पर लोगों की मनोवैज्ञानिक स्थिति में उचित परिवर्तन आएगा। उपरिनिर्दिष्ट श्रेष्ठ चिंतकों के साथ ही श्री एम. एम. राय ने "राजनीतिक दल संस्था" में अविश्वास प्रकट किया था और भारतीय चिंतकों को अभिप्रेत दल "दल रहति लोकतंत्र" के विकास का प्रारंभ आज की दलीय लोकतांत्रिक अवस्था में करने के हेतु आज के ढांचे के अन्तर्गत निम्न स्तरों पर जनसमितियों का गठन करने का रचनात्मक सुझाव भी दिया था। (आगे चलकर निर्माण हुई मतदाता परिषदें तथा जनसमितियों की कल्पनाएं इस सुझाव से सादृश्य रखने वाली हैं) श्रीगुरुजी ने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की कल्पना पर बल दिया और बताया कि इसका क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के स्थान पर नहीं तो उसके लिए पूरक पद्धति के नाते सूत्रपात किया जाए।

किन्तु इस तरह की किसी भी मौलिक बात पर ध्यान देने की फुर्सत हमारी संविधान सभा को नहीं थी। इस संविधान सभा का चुनाव जनता में से १२ प्रतिशत लोगों ने किया था और उन्होंने संविधान के स्वरूप के विषय में कोई भी स्पष्ट आदेश निर्वाचितों को नहीं दिया था। समिति का वैचारिक नेतृत्व करने वाले ब्रिटिश परम्परा से प्रभावित थे। वे बहुत जल्दी में थे। अन्य लोगों की असहमति पर विचार करने के लिए समिति के पास समय नहीं था। इतना ही नहीं, संविधान सभा के नेताओं को कुछ समय के लिए सभा के प्रमुख सच्चिदानंद सिन्हा तथा सभा के अध्यक्ष डा॰ राजेन्द्र प्रसाद के भी असंतोष पर ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अंग्रेज सरकार ने अपनी साम्राज्यवादी सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट, १९३५ बनाया था। यह कानून 'बांटो और शासन करो' की नीति को आगे बढ़ाने की दृष्टि से विभाजनकारी तत्वों और प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाला था। उसके भी कुछ अंशों को जल्दबाजी में स्वीकार

करने में संविधान समिति को संकोच नहीं हुआ। यह अनुमान लगाने के लिए पर्याप्त आधार है कि भारत की प्रकृति, परम्परा और परिस्थितियों के अनुकूल यह संविधान बना है या नहीं, यह संदेह संविधान निर्माताओं के सुप्त मन में था। किन्तु उन्होंने यह बताकर अपनी अंतश्चेतना को सांत्वना दी कि यदि यह संविधान अयशस्वी होता है तो उसके लिए दोष की जिम्मेदारी जनता की होगी, संविधान और उसके निर्माताओं की नहीं।

एक बार संविधान स्वीकृत होने के पश्चात एक पवित्र आलेख के नाते उसके प्रति श्रद्धा रखना सभी नागरिकों का कर्तव्य था और सामान्य नागरिकों ने इस कर्तव्य का निर्वाह भी किया। किन्तु राजनीतिक नेताओं की वृत्ति विचित्र है। एक ओर वे इसके पावित्र्य को स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ अपने दलगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए इसमें बार-बार संशोधन करने में संकोच भी नहीं करते। ये संशोधन भी किसी दीर्घकालीन राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर नहीं किए जाते। तात्कालिक दलगत स्वार्थ ही संशोधनों की प्रेरणा होते हैं। समस्या के मूल में जाकर चिरस्थायी राष्ट्रहित के आधार पर व्यवस्था का विचार करने की इच्छा राजनीतिक नेताओं में दिखाई नहीं देती। उनका समय क्षितिज चुनाव से चुनाव तक ही रहता है। इस विषय पर मौलिक चिंतन करने वाले कुछ ही लोग थे। किन्तु वे सक्रिय राजनीति में नहीं थे और सक्रिय राजनीतिक नेताओं ने जो चिंतन किया वह मौलिक स्वरूप का नहीं था।

राजनीति में रहते हुए और एक अखिल भारतीय राजनीतिक दल का नेतृत्व करते हुए इस विषय पर मौलिक चिंतन करने वाले एक ही महापुरुष हमारे मनश्चक्षु के सम्मुख आते हैं, वे थे स्वर्गीय पं० दीनदयाल उपाध्याय। राजनीतिक नेता और राष्ट्रनिर्माता, दोनों भूमिकाओं का निर्वाह सफलतापूर्वक करना अति कठिन कार्य है। वह कठिन कार्य पंडित जी ने किया। वर्तमान ढांचे के अन्तर्गत एक राजनीतिक दल का दिन-प्रतिदिन मार्गदर्शन करना, स्वस्थ तथा समर्थ संगठन खड़ा करना, हर स्तर पर समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन करके राष्ट्रहित की चौखट के अन्तर्गत उनके समाधान के लिए आन्दोलन चलाना, निर्वाचनों के समय दल की व्यूह-रचना करना, व्यक्तिगत सम्पर्क तथा प्रशिक्षण वर्गों के माध्यम से आदर्शवादी कार्यकर्ताओं के समूह निर्माण करना, आज की व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रहित की दृष्टि से निकट भविष्य में क्या-क्या किया जा सकता है इसका व्यावहारिक आलेख देश के सामने रखना, केवल अपने अनुयायियों के ही नहीं, अपितु अन्य जनों के भी मन में श्रद्धा तथा विश्वास निर्माण हो सके, ऐसी स्वयं अपनी जीवन-रचना आदि सारी बातें उन्होंने यशस्वितापूर्वक कीं। इसी के साथ-साथ विद्यमान स्थिति से ऊपर उठकर देश के लिए लाभप्रद दीर्घकालीन रचना का भी विचार उन्होंने प्रारम्भ कर दिया था। द्विपक्षीय दृष्टि लेकर वे कार्यरत रहे। दुर्भाग्य से ये सारे कार्य पूर्ण करने के लिए उनको पर्याप्त समय नहीं मिला, तो भी अपनी अकाल मृत्यु से पूर्व वे विचारों की दिशा तथा प्रमुख सूत्र निश्चित करने में सफल रहे।

स्वर्गीय पंडित जी का यह स्पष्ट विचार था कि आज का संविधान भारत की प्रकृति तथा आवश्यकताओं की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसमें भारतीय समाज की विशेषताओं को आंखों से

ओझल किया गया है। यह विदेशों का अंधानुकरण है। इसके परिणामस्वरूप जितनी समस्याएं सुलझेंगी उससे अधिक समस्याएं निर्माण होने वाली हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व कांग्रेस ने कुछ प्रस्ताव पारित किए थे, कुछ वादे किए थे, जिनके कारण उसके लिए देश की शासन-प्रणाली परिसंघीय रखना अनिवार्य हो गया था। यह कहा नहीं जा सकता कि परिसंघीय शासन प्रणाली के फलस्वरूप होने वाली राष्ट्रीय हानि का विचार कांग्रेसी नेताओं ने ध्यान में रखा था या नहीं। यह भी निश्चित नहीं है कि स्वयं अपनी इच्छा से या पहले दिए हुए आश्वासनों के कारण उन्होंने परिसंघीय प्रणाली स्वीकार की। जब यह चर्चा चल रही थी उस समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्रीगुरुजी ने चेतावनी दी थी कि परिसंघीय प्रणाली भारत के लिए हर दृष्टि से अनुपयुक्त और प्रतिकूल है। किन्तु उस समय इस बात का मर्म समझने की मनःस्थिति में राजनीतिज्ञ नहीं थे। एक तो जैसे पहले कहा गया, वे बहुत जल्दी में थे, दूसरी बात यह है कि भारतीय विचारकों की भारतीय कल्पना का मूल्यांकन यूरोपीय मापदण्ड में करने की उनकी आदत थी। पश्चिमी देशों में परिसंघीय तथा संघीय शासन पद्धति का विचार उनके ऐतिहासिक विकास क्रम की विशेषताओं के कारण अलग ढंग से होता है; जो हमारे देश के लिए लागू नहीं हो सकता। पश्चिम के राष्ट्र नए होने के कारण उनकी समस्या तथा उसका समाधान तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सरल हुआ करता है या कम से कम उन्हें वैसा प्रतीत होता है कि जहां विभिन्न इकाइयां, जिनका पहले से स्वतंत्र अस्तित्व है, एकत्रित होकर एक राज्य बनाना चाहती हैं, वहां हर एक इकाई की स्वतंत्र अस्मिता कायम रखते हुए सबको एक सूत्र में लाने वाली शासन-प्रणाली परिसंघीय ही हो सकती है, जिसमें शासकीय सत्ता का अधिकतम विकेन्द्रीकरण नीचे की मूल इकाइयों के पास रहे और केन्द्र के पास पूर्व निश्चित अल्पमत अधिकार रहे। परिसंघीय प्रणाली के अन्तर्गत आने वाला राज्य ऐतिहासिक दृष्टि से एक इकाई के रूप में विद्यमान नहीं हुआ करता। जहां राज्य के अन्तर्गत आने वाला राज्य ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही इकाई रहा हो वहां परिसंघीय प्रणाली अप्रासंगिक होती है। इसका मतलब होता है जैविक इकाई के जबर्दस्ती टुकड़े करना। इसके लिए संघीय शासन प्रणाली ही उपयुक्त हो सकती है, जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण राज्य एक इकाई होने के कारण केन्द्र में सत्ता का अधिकतम केन्द्रीकरण स्वाभाविक रूप से हो जाता है। पश्चिमी देशों के विकास की आज जो अवस्था है उसको देखते हुए ये दो उदाहरण उनके लिए अब तक पर्याप्त प्रतीत होते हैं।

किन्तु भारत जैसे प्राचीन सनातन परिपक्व राष्ट्र की समस्या का समाधान इन दोनों विकल्पों से नहीं हो सकता। भारत हजारों साल से एक राष्ट्रीय इकाई है। इसमें राष्ट्रीय एकात्मता है। भारतीयों ने पाश्चिमात्य के समान यह नहीं माना कि एकरूपता ही एकता है। पश्चिम में एकरूपता को ही एकता का लक्षण मानते हैं। हमारे देश में एकरूपता को विभिन्न इकाइयों के स्वतंत्र प्रकृतिगत विकास में बाधक मानता गया। एकता के नाम पर एकमार्गीकरण का विचार भारत की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। बिल्कुल प्रारम्भिक काल में भी भारत में एकात्मता के साथ-साथ विपुल विविधता थी। इस दृष्टि से अथर्ववेद का यह श्लोक इस परिस्थिति पर प्रकाश डालता है।

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथोकसम्
सहस्रंधारा द्रविणस्य में दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरंती।। (अथर्व १२/ १/४५)

विविधता को विभेद के रूप में देखने की पाश्चिमात्य विचार पद्धति यहां नहीं थी। हमारे पूर्वजों को दृश्यमान विभेदों को विविधता के रूप में देखने का अभ्यास था। एक ही इकाई के विभिन्न अंग, विभिन्न सोच और प्रकृति के हो सकते हैं, उनका विकास उनकी रुचि के अनुकूल होना चाहिए। इस तरह की विकसित विविधता राष्ट्र की एकात्मता का सौंदर्य तथा समृद्धि बढ़ाती है। इसके कारण एकात्मता का सूत्र शिथिल नहीं होगा। उसका सौंदर्य तथा ऐश्वर्य बढ़ेगा, इस मनोधारणा से हमारे पूर्वजों ने ऐतिहासिक काल में राष्ट्रीय कार्य किया। संस्थाओं की रचना की। जीवन के सभी क्षेत्रों में ऐसी संस्थाएं निर्माण कीं, जिनके कारण विविधता तथा एकता का दर्शन हमें हो सकता है। परिसंघीय प्रणाली भारत की प्रकृति तथा इतिहास के अनुकूल नहीं है। पश्चिम से प्रभावित विचारकों को अपने अनुभव के आधार पर यह धारणा हुई है कि जो शासन प्रणाली परिसंघीय नहीं, वह एकतंत्री होगी। मानो चयन दो अवस्थाओं में ही हो सकता है— या तो सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण के साथ परिसंघीय प्रणाली रहे या सत्ता के अधिकतम केन्द्रीकरण के साथ एकतंत्रीय प्रणाली रहे। यह विचार हमारी आवश्यकताओं से मेल नहीं खाता, क्योंकि जैसे हम परिसंघीय प्रणाली को अनुकूल नहीं मानते, वैसे ही सत्ता का केन्द्रीकरण भी हमारी प्रकृति में कभी नहीं रहा। सत्ता का केन्द्रीकरण और भारतीय संस्कृति साथ-साथ नहीं चल सकतीं।

पाश्चिमात्य ढंग से विचार करने वाले लोगों के सामने उपरिनिर्दिष्ट दो ही विकल्प रहे हैं। किन्तु हमारी विशेषाओं का विचार दोनों पद्धतियों में नहीं हो सकता। स्वर्गीय पं॰ दीनदयाल जी की यह विशेषता रही है कि उन्होंने भारतीय प्रकृति, परम्परा और परिस्थिति के अनुकूल शासन प्रणाली का नया विचार सामने रखा कि वह शासन प्रणाली एकतंत्री नहीं, एकात्मक होनी चाहिए। सम्पूर्ण देश एक इकाई है, इस मान्यता के आधार पर सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ ऐसी एकात्मक शासन प्रणाली, जिसमें केन्द्र सरकार के अधिकारों का क्षेत्र सीमित रहे और जितना अधिक संभव हो सके उतने अधिक विषय उसके अधिकार क्षेत्र से निकालकर नीचे की इकाइयों के हाथ में सौंप दिए जाएं। नीचे की इकाइयां अधिकतम अधिकारयुक्त रहें किन्तु इस ढंग से नहीं कि राष्ट्रीय अस्मिता से कटकर उन्हें अपनी स्वतंत्र अस्मिता का अभिमान होने लगे। नीचे की इकाइयों के रूप में समान स्थानीय रूप-गुण रखने वाले क्षेत्रों को इकाई माना जाए। सुविधा के लिए पंडित जी ने इसके लिए "जनपद" संज्ञा का उपयोग किया। समान स्थानीय रूप-गुण के उदाहरण आज के लगभग हर-एक राज्य में पाए जाते हैं. उनकी कल्पना थी कि आज के मध्य भारत, महाकोशल, छत्तीसगढ़ या आंध्र में तेलंगाना और रायलसीमा, महाराष्ट्र में विदर्भ, मराठवाड़ा, कोंकण, बम्बई और शेष महारष्ट्र आदि इस तरह के लगभग पचास-पचपन जनपद स्वाभाविक रूप से बनेंगे। इन जनपदों का स्वयं शासन रहे। वित्तीय तथा शासकीय अधिकार

उनके अधिक रहें। सबसे छोटी इकाई अर्थात् ग्राम के साथ सीधा सम्बन्ध रखना जनपद शासन के लिए अधिक संभव होगा। सीधे और प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण आज की शासन पद्धति में दिखने वाली कई त्रुटियां समाप्त हो जाएंगी। केन्द्र के अधिकार क्षेत्र से कौन से विषय आसानी से हटाए जा सकते हैं, यह भी सोचने का एक विषय था। शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विषय किसके अधिकार में रहें, यह भी प्रश्न उनके मन में था। अर्थात् वे मूल कल्पना को व्यावहारिक विवरण के साथ धीरे-धीरे अन्तिम रूप दे रहे थे। यह सही है कि अपनी कल्पना की रूपरेखा विकसित करने के लिए जितना समय किसी भी विचारक के लिए आवश्यक होता है उतना समय नियति ने उन्हें नहीं दिया। किन्तु हमारे लिए यह भी सौभाग्य की बात है कि विचार का प्रमुख सूत्र तथा क्रियान्वयन की निश्चित दिशा अपने महानिर्वाण से पूर्व उन्होंने हमें प्रदान की। आखिर, किसी भी कल्पना की रूपरेखा पहले से तैयार हो भी नहीं सकती। क्रियान्वयन की अवस्था प्राप्त होने के पश्चात पूर्व निश्चित मार्गदर्शक सिद्धान्तों के आधार पर क्रियान्वयन करने वाले रूपरेखा उत्क्रान्त करते हैं।

क्रियान्वयन की प्रक्रिया में यही व्यावहारिक है तो भी इसके लिए मार्गदर्शक सिद्धान्तों का अस्तित्व अनिवार्य है। उसके अभाव में दिशा निश्चित नहीं हो सकती और फिर उसके अभाव में रूपरेखा किसकी विकसित करेंगे? जो मार्गदर्शक सिद्धान्त पण्डित जी ने हमें स्पष्ट रूप से दिए हैं। उनके प्रकाश में उस कल्पना को विकसित करना उनके उत्तराधिकारियों की जिम्मेदारी है। किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण के साथ एकात्मक शासन प्रणाली की अभिनव तथा पश्चिमी विचारकों को आश्चर्यजनक लगने वाली कल्पना पंडित जी देश के सम्मुख प्रस्तुत न करते तो भावी राष्ट्र निर्माताओं को हमारी दृष्टि में अनुपयुक्त तथा दोषपूर्ण प्रणालियों में से किसी एक को चुनना पड़ता। आज की दोषपूर्ण शासन प्रणाली का विकल्प एक स्वस्थ तथा देश की प्रकृति के अनुकूल शासन प्रणाली ही हो सकती है, यह स्वर्गीय पंडित जी की भावी राष्ट्र निर्माताओं के लिए एक महान देन है।

आज जब राजनीतिज्ञ अनायास इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि वर्तमान प्रणाली दोषपूर्ण है तो यह अच्छा होगा कि केवल तात्कालिक सुविधा-असुविधा का विचार न करते हुए समस्या की तह में जाकर उस पर आमूलाग्र विचार करके वैकल्पिक प्रणाली के विषय में गहराई से चिंतन करें। इस कार्य में स्वर्गीय पंडित जी के विचार महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं।

२३. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

पिछले कुछ समय से अपने देश के विचारशील बुद्धिजीवी यह अधिकाधिक अनुभव कर रहे हैं कि जिस प्रकार संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था भारत में आज चल रही है, वह नित्य नई युग-चुनौतियों का ठीक प्रकार से सामना करने के लिए पर्याप्त उपयुक्त नहीं हैं। हमारी आजकल की सरकारें केवल "प्रतिनिधि" हैं, सही अर्थों में प्रजातांत्रिक नहीं हैं। हमारे देश में सरकार और सम्पूर्ण समाज को समाकांक्षी या समान ध्येयोन्मुखी नहीं कहा जा सकता। राजनीतिक दलों वाली इस पाश्चात्य प्रणाली में चुने हुए प्रतिनिधि अपने वास्तविक "प्रभुओं" के प्रति बहुत ही कम उत्तरदायी होते हैं क्योंकि प्रायः देखने में आया है कि समाज का मत कई विभिन्न विधेयकों और प्रस्तावों के प्रति दल के नेताओं से सर्वथा भिन्न होता है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का कोई माध्यम नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि समाज का मत सदा वही हो जो दल के नेताओं का हो, परन्तु चुने हुए सदस्यों को अपने मतदाताओं अथवा उनके बहुमत की वास्तविक इच्छा का कोई विचार न करते हुए दल के निर्देश के अनुसार ही सदन में अपना मतदान करना पड़ता है। यही उनसे आशा भी की जाती है। हमारे संविधान में जनमत-संग्रह का कोई उपबंध नहीं है, और न जनता को किसी सदस्य को वापस बुलाने का अधिकार है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में अल्पसंख्यकों को अपने लिए न्याय प्राप्त करने में प्रायः असफलता मिलती है। इस कारण कई राजनीतिक विचारकों ने "आनुपातिक प्रतिनिधित्व" का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इन सब बातों का सामूहिक परिणाम आजकल गंभीरतापूर्वक चलने वाले "प्रतिनिधित्व" सम्बन्धी पुनर्चिंतन में देखा जा सकता है। अतः इस प्रसंग में इस विषय पर श्रद्धेय श्रीगुरुजी के कुछ विचारों को प्रस्तुत करना समुचित होगा।

यह सर्वविदित है, श्रीगुरुजी का चिंतन सदैव व्यापक, समग्र तथा युगानुकूल होता था। उसका मूल इस धरती की संस्कृति से अटूट जुड़ा रहता था। श्रीगुरुजी प्रकृति से लोकतंत्र में आस्था रखते थे। वे सुकरात, प्लेटो या मिक द्वारा प्रतिपादित बुद्धिमान लोगों के राज्य अथवा "ज्ञान की प्रभुसत्ता" के तर्कों की शक्ति भी समझते थे, परन्तु वे अनुभव करते थे कि उसके लाभों की अपेक्षा उसकी हानियां बहुत अधिक हैं क्योंकि इस व्यवस्था में राजनैतिक सत्ता को नैतिक सत्ता से

अलग नहीं रखा जा सकता और नैतिक सत्ता का सर्वोपरि प्रभुत्व नहीं रह सकता। एक यथार्थवादी होने के कारण उन्हें पता था कि कोई भी व्यवस्था सर्वांगपूर्ण नहीं हो सकती। युगद्रष्टा विचारक होने के कारण वे समझते थे कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्था ही उपयुक्त हो सकती है। परन्तु वे सामान्य परिस्थितियों में "लोकतंत्र" को सबसे कम दोषपूर्ण व्यवस्था स्वीकार करते थे, यद्यपि वे सदैव सचेत करते रहते थे कि लोकतंत्र को स्वेच्छाचारिता तथा भीड़-तंत्र के रूप में पतित नहीं होने देना चाहिए, और अनुशासन को सैनिकीकरण के रूप में विकृत नहीं करना चाहिए। उनका विश्वास था कि सामाजिक अनुशासन लोकतंत्र के रूप में तथा आत्मा, दोनों के लिए न केवल सहज है अपितु वह उनका सम्पूरक भी है। इस प्रकार वे लचीले लोकतंत्री अनुशासन के पक्षधर थे।

श्रीगुरुजी को पता था कि इस प्रक्रिया को आरम्भ करने में प्रारम्भिक कठिनाइयां आएंगी। देश की सारी जनसंख्या का, चुनाव के लिए व्यावसायिक आधार पर, वर्गीकरण करना इतना सरल नहीं है। उद्योगों के वर्गीकरण में, विशेषकर छोटे उद्योगों के प्रसंग में, विशेष कठिनाई आएगी। यदि व्यवसाय निश्चित भी हों, तो भी व्यक्ति विशेष का व्यवसाय-समूह निर्दिष्ट करना कठिन होगा। व्यक्तियों द्वारा एक व्यवसाय या उद्योग छोड़कर दूसरा ग्रहण करने के प्रसंग में समस्या और भी उलझ जाएगी।

कुछ विचारकों के अनुसार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की कल्पना राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त से विसंगत तथा राष्ट्रीय एकात्मता के उद्देश्य के विरुद्ध है। वे यह अनुभव करते हैं कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से नागरिक समग्र राष्ट्रीय हितों के स्थान पर अपने वर्ग-हित को अधिक महत्व देने को विवश हो जाएंगे। उन्हें भय है कि इस प्रक्रिया से "विभिन्न हितों तथा शक्तियों के बीच संघर्ष को बढ़ावा मिलेगा, उनके बीच पारस्परिक विरोध प्रबल होगा और इस उत्तम सिद्धान्त की जड़ खोखली हो जाएगी कि प्रत्येक व्यक्ति की अपने समूह, वर्ग या व्यवसाय की भलाई में प्रतिबद्धता को सम्पूर्ण समाज की भलाई के प्रति प्रतिबद्धता की अपेक्षा कम महत्व दिया जाना चाहिए।"

श्रीगुरुजी ने इस दृष्टिकोण के औचित्य को समझा था। वे यह भी पहले से ही जानते थे कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का विरोध अनौचित्य के आधार पर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ लॉस्की ने कहा था, "विधानसभा के लिए व्यवसाय, जैसे "चिकित्सा" का आधार किस प्रकार सुसंगत हो सकता है? विदेश नीति का कोई चिकित्सा-शास्त्रीय दृष्टिकोण नहीं होता। न खानों के राष्ट्रीयकरण पर होता है, और न स्वतंत्र व्यापार के सम्बन्ध में।"

श्रीगुरुजी को इस विषय के दूसरे पक्ष का भी ज्ञान था। परन्तु वे यह भी अनुभव करते थे कि बिना व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के लोकतांत्रिक वैधानिक प्रक्रिया में निर्णय-पद्धति एकपक्षीय हो जाएगी। इसलिए वे केवल एक इसी सिद्धान्त पर ही बल नहीं देते थे अपितु व्यावसायिक तथा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के सम्मिलित ताने-बाने के समर्थक थे।

क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के प्रति सामाजिक विचारकों का असंतोष कोई नई बात नहीं है। आरम्भ में ये विचारक सुधार के रूप में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था चाहते थे। परन्तु उन्हें शीघ्र ही अनुभव हुआ कि उससे तो अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व ही निश्चित होता है और वे तो पहले से ही राजनीतिक दलों के रूप में मान्यता प्राप्त हैं। आर्थिक, सामाजिक, व्यावसायिक तथा अन्यान्य विशेष वर्गों को कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता। ऐसे वर्गों के हितों को भी प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की जा रही थी।

मीराब्यू विधानसभा को समस्त समाज की आकांक्षाओं का दर्पण बनाने के पक्षधर थे।

साईयस विधायिका में बड़े प्रतिष्ठानों में विशेष प्रतिनिधित्व को आवश्यक समझते थे।

डिगी की दृष्टि में राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करने वाली समस्त शक्ति व्यापार उत्थान करने वाले व्यवसाय, विज्ञान तथा धर्म का प्रतिनिधित्व आवश्यक है।

ग्राहम वैलेस के विचार से निचले सदन का प्रतिनिधित्व क्षेत्रीय भौगोलिक आधार पर हो तथा दूसरे सदन में विभिन्न व्यावसायिक समूह तथा सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली धाराओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

वेब्स राजनीतिक सदन एवं सामाजिक सदन के पक्षधर हैं।

पिल्लोटायर ने अराजनीतिक तथा मूल रूप से आर्थिक विचारधारा को प्रस्तुत किया है। उनके विचार से क्रान्ति न केवल मानव को सत्ता से स्वतंत्र कराती है बल्कि उन सभी संस्थाओं को भी मुक्त कराती है जो उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से अनावश्यक हैं। वे राज्य-सत्ता-विहीन समाज चाहते हैं। वे उत्पादकों की ट्रेड यूनियन को ही एकमेव सत्ता देना चाहते हैं। यूनियनों के गठन में वे व्यवसायों का तथा क्षेत्रीय भौगोलिक प्रतिनिधित्व चाहते हैं।

लेवरग्रे उस सदन के पक्षधर हैं जिसका गठन निश्चित रूप से व्यवसायों के प्रतिनिधित्व के आधार पर हो। वे आज भी लोकसभा को दोषपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उसके सदस्य पहले तो समाज की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से अनभिज्ञ होते हैं और दूसरे सामाजिक संस्थाओं का राज्य के साथ पूर्ण रूप से एकात्म नहीं होता। वे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के हामी हैं। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से उनका अभिप्राय है :—

(१)व्यावसायिक हितों में व्यक्तिगत व्यवसाय अथवा प्रबन्धकर्ताओं के अन्तर्गत आने वाले व्यवसाय का, जो संस्थागत व्यवसाय हैं, प्रतिनिधित्व।

(२)तकनीकी क्षमता अथवा व्यावसायिक क्षमता का प्रतिनिधित्व।

(३)योग्यता का प्रतिनिधित्व, जैसे विज्ञान के उत्थान से सम्बन्धित संघ आदि। वे चाहते हैं कि दो सदन हों और उनका पुनर्गठन हो। एक चैम्बर कहलाए और दूसरा सिनेट। इन दोनों सदनों में व्यक्तिगत और संस्थागत हितों का आधा-आधा प्रतिनिधित्व हो।

उनका विचार है कि इस प्रकार (१) वैज्ञानिक हितों का संवर्धन करने वाले संघ, (२) आर्थिक हितों का संवर्धन करने वाले संघ, तथा (३) सामान्य हितों का संवर्धन करने वाले गुट बन जाएंगे,

पुनर्गठन से ये गुट क्षेत्रीय, भौगोलिक तथा व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व करेंगे।

मार्टिन राज्यों के सदन में व्यावसायिक हितों का प्रतिनिधित्व चाहते हैं। उनके विचार से हर क्षेत्र में एक व्यवसाय के सदस्यों की एक इकाई का संयोजन सामाजिक दायित्व के लिए हो और वे इकाइयां ही चुनावों तथा संवैधानिक ढांचे का आधार बनें।

लौताद और पौंडन्क्स भी व्यावसायिक हितों के प्रतिनिधित्व की वकालत करते हैं। उनके विचार से शुद्ध राजनीतिक संगठन आर्थिक समस्याओं के समाधान की क्षमता नहीं रखते। विभिन्न हितों का संवर्धन करने वाले गुटों को सम्मिलित करने के पीछे राज्य को एकात्म रखने की आवश्यकता है तथा व्यावसायिक प्रतिनिधित्व कार्यकुशलता, हितों और व्यवसायों का प्रतिनिधित्व है।

पाल बोनकौर आर्थिक हितों की संघीय व्यवस्था के पक्षधर हैं जिसके अन्तर्गत सामाजिक, क्षेत्रीय संस्थागत गुट स्वशासी होंगे। उनका मत है कि व्यवस्था से आर्थिक हितों का विकेन्द्रीकरण होगा क्योंकि आर्थिक हित अधिकतर व्यवसाय की विविधता के कारण विपरीत होते हैं।

वोगले व्यावसायिक हितों की परिषद चाहते हैं और उनकी यह भी आकांक्षा है कि यह परिषद संसद की सहायक हो, जिसमें क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व हो।

स्पैन "समुदाय राज्य" की कल्पना करते हैं जो उनके विचार से आर्थिक और प्रशासनिक कार्यकलाप की दृष्टि से समुदायों के प्रति इतना अधिक उत्तरदायी हो कि केन्द्र सरकार के पास मुख्यतया नीति-निर्धारण का दायित्व रहे। ये दायित्व शिक्षा (तकनीकी शिक्षा नहीं, क्योंकि यह विषय समुदाय राज्य के अन्तर्गत होगा) विधि (आर्थिक विधि को छोड़कर), सेना आदि हों। राजनीतिक पार्टियों का इस विचारधारा में कोई स्थान नहीं होगा। इस विचारधारा में राज्य में सदस्यों का नहीं, समदायों का स्थान है क्योंकि सदस्यों का अस्तित्व समुदायों में निहित है। ये सारे समुदाय बड़े समुदाय के अंग के रूप में काम करेंगे, जिनका अपना अलग-अलग प्रशासन होगा और वे समुदाय राज्य के चौखटे का काम करेंगे।

बिनोइस्ट का विचार है कि व्यावसायिक संघ ही चुनावों के निर्वाचन क्षेत्र में हों, किन्तु व्यवसायों की विविधता का प्रतिनिधित्व उनके सामाजिक कार्यकलाप तथा उनकी संख्या के आधार पर हो। वे व्यवसायों के आधार पर संयोजित आर्थिक संसद के पक्षधर रहे हैं।

जी॰ डी॰ एच॰ कोल गिल्ड समाजवाद के प्रमुख प्रवक्ता हैं। गिल्ड समाजवाद व्यावसायिक लोकतंत्री प्रणाली पर सर्वाधिक बल देता है। इस विचारधारा का बल दोनों सदनों में व्यावसायिक एवं भौगोलिक हितों का प्रतिनिधित्व है। दोनों सदनों में से एक राजनीतिक सदन और दूसरा आर्थिक सदन होगा। गिल्ड समाजवादियों का मत है कि आर्थिक प्रभुसत्ता का बंटवारा गिल्ड और राज्यों में होना चाहिए। गिल्ड समाजवादी विचारधारा लि राय ब्यूलीज, गिरके और दरखीम के विश्वास और मत पर आधारित है, जो यह प्रतिपादित करता है कि व्यावसायिक

ऐच्छिक संघों का व्यक्ति और राज्य के बीच प्रभावी योगदान है तथा स्वयंभू औद्योगिक सरकार की अवधारणा का प्रतिपादन करता है, जिसको ए॰ जे॰ पेंटी, एस॰ जी॰ हॉब्सन, ए॰ आर॰ आगेन और रसल ने प्रस्फुटिक और प्रतिपादित किया।

अतिशय वामवादी विचारधारा अराजकतावाद में राज्य रहित समाज की कल्पना है। पीटर क्रोपोटकिन अराजकतावाद के प्रथम वैज्ञानिक विश्लेषक हैं। अराजकतावाद के जन्मदाता पियरे जोसेफ हैं। इस विचार को प्रस्फुटित एवं विस्तार देने का काम काउंट मायकेल बकूनिन ने किया। इस विचारधारा के अनुसार समाज की संरचना, स्वयं नियोजित श्रमिक संगठनों, उपभोक्ता संगठनों, अन्य हितों के संगठनों के आपसी सहयोग और मदद से होनी चाहिए। यह संरचना एक वर्गरहित समाज के रूप को विस्तार देगी तथा स्वयं के कार्यकलाप से राज्य और सरकार को नियंत्रित करेगी।

भगिनी निवेदिता, जो क्रोपोटकिन की प्रशंसक होने के बावजूद स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थीं, इस निष्कर्ष पर पहुंचीं कि सहकारी संघ तथा स्वयं नियोजित संघ (जैसे श्रमिक संघ, दाम देने वालों के संघ, रेलवे कर्मचारियों के संघ आदि) का राज्य के अन्तर्गत प्रभावी स्थान होना चाहिए।

१९१९ में ल्योन्स में संयोजित फ्रांसीसी सिन्डीकेटों की कांग्रेस ने चाहा था कि जमीन, जल पर आवागमन के साधन, खदानें, पानी, बिजली, कर्ज देने वाली संस्थाएं, सूचीगत उत्पादनकर्ता और उपभोक्ता आदि संस्थाओं का राष्ट्रीकरण हो, या उनका प्राधिकरण बने।

कार्यशील प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त बिस्मार्क द्वारा स्थापित इम्पीरियल इकोनामिक काउंसिल में भी प्रतिपादित हुआ। वाइमार कांस्टीट्यूशन जर्मनी, १९१९, ने नेशनल इकोनामिक काउंसिल का आविर्भाव किया जिसमें श्रमिक, पूंजीपति और उपभोक्ता हितों का प्रतिनिधित्व था। यह काउंसिल कुछ विषयों के लिए इकोनामिक लेजिस्लेटिव काउंसिल थी, किन्तु अप्रभावी रही।

फासिस्ट पार्टी ने, जिसका प्रस्फुटन मुसोलिनी ने मारीनेट्टी, बियान्ची और रोका की राय से किया था, सरकारी कार्यक्रम में एक मुद्दा श्रमिकों के प्रतिनिधियों का कारखानों के यांत्रिक और संगठनात्मक प्रशासन और रेलवे के प्रशासन में भागीदारी का जोड़ा था किन्तु पार्टी ने इस मुद्दे का सत्ता में आने के बाद क्रियान्वयन नहीं किया। मुसोलिनी ने व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को स्थान तो दिया किन्तु उसका कोई विशेष महत्व उसकी सरकार के क्रियाकलाप में नहीं रहा।

क्षेत्रीय और भौगलिक प्रतिनिधित्व का स्थान रूस में कार्यशील व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ने ले लिया। वहां जिले के स्थान पर विशेष हित का प्रतिनिधित्व होता है किन्तु इस व्यवस्था का भी कोई विशेष महत्व नहीं है।

युगोस्लाविया की पद्धति में द्वि-गृही सदन का उपबंध है। भारतीय मजदूर संघ की श्रम नीति के अनुरूप ही वहां के एक सदन को काउंसिल ऑफ प्रोड्यूसर्स कहा जाता है। काउंसिल ऑफ

प्रोड्यूसर्स वहां के उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि चुनते हैं। कम्यून जिला तथा रिपब्लिक स्तर पर हैं। प्रोड्यूसर्स काउंसिल का चुनाव जिला एवं कम्यून स्तर पर श्रमिकों की काउंसिल और दूसरी स्वयंशासी उपभोक्ताओं की समितियां करती हैं। जिला स्तर की काउंसिल समितियां रिपब्लिक स्तर की काउंसिल का चुनाव करती हैं। प्रतिनिधियों के चुनाव हेतु उपभोक्ताओं का दो वर्गों में विभाजन होता है। एक वर्ग उद्योग, व्यापार और हस्तकला का, और दूसरा वर्ग कृषि का होता हैं। काउंसिल के स्थान हर स्तर पर राष्ट्रीय आय में योगदान के अनुपात में निश्चित होते हैं। यह आधार व्यक्ति की शक्ति का माप, उसके समुदाय में उसके राष्ट्रीय आय में योगदान के मापदंड के आधार पर बनाया गया है। दोनों ही सदनों के समान अधिकार होते हैं। जैसे सामाजिक योजनाएं, अन्य नियम तथा वे निर्णय जो समस्त राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं– किन्तु कुछ आर्थिक क्रियाकलापों से सम्बन्धित विषय, सरकारी एवं स्वायत्तशासी संस्थान काउंसिल ऑफ प्रोड्यूसर्स के नियंत्रण में आते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा हर स्तर पर जनता के सामाजिक एवं आर्थिक संस्थानों का संभावित स्तर तक विकेन्द्रीकरण एवं समीकरण होता है।

जहां तक भारत का प्रश्न है यह अभी अधर में ही है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का क्या स्वरूप हो और समाज के किन घटकों को इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रतिनिधित्व दिया जाए?

पूर्व काल में भारत में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का अर्थ चारों वर्णों का प्रतिनिधित्व था। किन्तु श्रीगुरुजी का मत था कि यह प्रतिनिधित्व आज की व्यवस्था में असंगत है। आज़ की परिस्थिति में शुद्ध अर्थों में न तो वर्ण हैं, न जाति। वर्ण व्यवस्था के शास्त्रगत आधार पर उनका कोई चिह्न शेष नहीं है। अपने को प्रगतिवादी मानने वाले लोग वर्णव्यवस्था का इसलिए विरोध करते हैं क्योंकि वे डाक्टर मीस के वर्णव्यवस्था सम्बन्धी विचारों से अनभिज्ञ हैं। डाक्टर मीस कहते हैं, "वर्णों को कभी थोपा नहीं जा सकता, क्योंकि वर्णव्यवस्था शाश्वत है। मानव को वर्ण के आधार पर विभाजित करना असंभव है। कोई भी प्रयत्न इस व्यवस्था को समाप्त नहीं कर सकता।" जिस तरह समाजवाद और कम्युनिज्म को स्थापित करना चाहा गया, यह व्यवस्था इसलिए उस तरह स्थापित नहीं की जा सकती कि वर्ण व्यवस्था के कट्टर विरोधी स्वयं किसी न किसी वर्ण के अंग हैं। किन्तु यह भी तथ्य है कि चातुर्वर्ण व्यवस्था के शास्त्रसम्मत नियामक हिन्दू संत, पारसी परसुस्त्री समाजवादी, प्लेटो, अरस्तु, प्रसिद्ध आइने अकबरी के रचयिता अबुल फजल या एडम मुल्लर, जर्मनी के पिछली शताब्दी के विचारक आज हमारे बीच में नहीं हैं और उक्त आधार पर प्रतिनिधित्व की कल्पना भी किसी के मन में नहीं उठ सकती।

जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में भी श्रीगुरुजी का इसी प्रकार का मत है। उत्पादन में नई तकनीक, संचार व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन और तीन हजार से अधिक व्यवसायों का लगभग विलोप होना अथवा मजदूरी की दृष्टि से महत्वहीन होना, नए प्रकार के व्यवसायों का आविर्भाव होना, जहां जाति व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के कारण बन गए वहां राजनीतिक कारणों ने इसको प्रबल समर्थन दिया। श्रीगुरुजी का मत बना कि नई व्यावसायिक कुशलता के रोजगारों का अबाध गति से विस्तार और नई तकनीक का अभ्युदय होने के कारण अन्तरव्यावसायिक

गतिशीलता का निर्माण होगा। उनका मत है कि इन परिस्थितियों में यह आवश्यक होगा कि रोजगार तथा श्रमिक संगठनों को संगठित किया जाए तथा श्रमिक संगठनों को चुनाव करने वाली समिति में प्रतिनिधित्व दिया जाए। इस दिशा में श्रम संगठनों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों, इंजीनियरिंग संस्थान, भारतीय चिकित्सा परिषद, टैक्नीशियनों के संगठन और उपभोक्ता संगठन आदि का प्रभावी योगदान हो सकता है। श्रीगुरुजी का विचार था कि अभी भारतीय जनता का एक बड़ा भाग, किसान तथा कारीगर, स्वरोजगारी कारीगर, वन और खेतिहर मजदूर आदि असंगठित हैं। शीघ्रता से इनका व्यावसायिक संगठन बनाकर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को सफल बनाया जा सकता है।

स्वयंशासी औद्योगिक घराने, गांव के स्तर से उच्च स्तर तक, क्षेत्रीय प्रशासन से ग्राम पंचायत तक, हिन्दू सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का ताना-बाना है। यदि समयानुसार सामाजिक एवं आर्थिक संस्थानों में आवश्यकतानुरूप परिवर्तन किया गया तो यही व्यवस्था भविष्य में भी भूतकाल की तरह उपयोगी होगी।

श्रीगुरुजी का विचार था कि समाज के घटकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व के मानदंड का निर्माण आपसी सहमति और राय से हो। एक बार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को सिद्धान्त रूप से मान लेने के पश्चात उसको अपनाने की कार्यविधि स्थापित करने में अधिक कठिनाई नहीं होगी। उन्होंने स्वयं इस विषय पर कोई योजना नहीं दी, क्योंकि उसके लिए उपयुक्त समय नहीं आया था। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अपनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हुई। एक व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत योजना विचार-विमर्श द्वारा प्रस्फुटित योजना की प्रक्रिया में बाधक होती है। इस संदर्भ में क्या यह आवश्यक होगा कि संख्या के आधार पर किसी व्यवसाय को प्रतिनिधित्व दिया जाए अथवा उसकी गुणात्मकता के आधार पर (उदाहरण के लिए युगोस्लाव पद्धति, जहां हर गुट को उसकी राष्ट्रीय आय में योगदान के अनुपात के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है) या फिर दूसरे भी गुणात्मक मानदंडों का संस्थापन हो सकता है। आवश्यकता इस बात की ओर ध्यान देने की है कि मानदंड का संस्थापन उसकी उपयुक्तता पर न होकर उसकी अधिक से अधिक ग्राह्यता पर हो।

यह उपयुक्त समय है कि हमारे नेतागण इन विचारों का आकलन करें और जो आवश्यक है उसे बिना देरी किए सम्पादित करें।

२४. भारत में क्रान्ति

राजनीतिक दृष्टि से विश्व की प्रथम क्रान्ति निस्पृह ऋषियों के नेतृत्व में भारत में वैदिक काल में हुई।

धर्मशास्त्र का इतिहास देखने से पता चलता है कि राज्य क्रान्ति की बात भारत में प्राचीन काल से चली आई है। शुक्रनीतिसार (१/७०) में आया है कि वह राजा जो प्रजा को कष्ट देता है या धर्म के नाश का कारण बनता है, अवश्य ही राक्षसों का अंश होता है। मनु ने (७/१११-११२) कहा है कि जो राजा प्रजा को पीड़ा देता है वह अपना जीवन, कुटुम्ब एवं राज्य खो देता है। प्रजा द्वारा राजा वेन की हत्या की बात शान्तिपर्व ५९-९३-९५ तथा भागवत पुराण ४/१४ में पाई जाती है। मनु (२/२७-२८) का कहना है कि यदि— व्यभिचारी, दुष्ट एवं अन्यायी राजा दण्ड धारण करे तो वह दण्ड उसी पर घूम जाता है और उसके सम्बन्धियों के साथ उसका भी नाश कर देता है। कामन्दक (२/३८) ने लिखा है कि मूर्खतापूर्वक दण्ड धारण करने से मुनि लोगों का भी नाश हो जाता है। शान्तिपर्व (९२/१९) में घोषित हुआ है कि झूठे एवं दुष्ट मंत्रियों वाले तथा अधार्मिक राजा को मार डालना चाहिए। तैत्तरीय संहिता (२३/३/१), शतपथ ब्राह्मण (१२/९/३/१ एवं ३) में भी ऐसा ही संकेत किया गया है और लिखा है कि दुष्ट राजा निकाल बाहर किए जाते रहे हैं। यथा दुष्टरीतु पौसाधन जिसके कुल का राज दस पीढ़ियों से चला आ रहा था, राज्य से निकाल दिया गया। शान्तिपर्व (१२/६/९), मनु (७/२७ तथा ३४), तथा याज्ञवल्क्य (१/३५६) में राजगद्दी छीन लेने की बात कही है। शुक्रनीतिसार (२/२७४-२७५) में भी दुष्ट राजाओं को गद्दी से उतार देने और गुणवान व्यक्ति के राज्याभिषेक की चर्चा की गई है। शुक्रनीतिसार (४/७/३३२/३३३) में कहा गया है कि अत्याचारी राजा को हटाकर मार डालने वाले को पाप नहीं लगता। यशस्तिलक (३पृ० ४३१) में प्रजा द्वारा मारे गए राजाओं के उदाहरण दिए गए हैं। राजनीति प्रकाश(पृ० ८३) में राजा के हटाये जाने पर राजकुमार के अभिषेक के समय कहा गया है कि "स्वयं प्रजा विष्णु है।"

रोमुलस द्वारा रमस या केन द्वारा एबल के मारे जाने के कई शताब्दी पूर्व की यह घटना है। भीष्म कहते हैं कि वामदेव द्वारा तानाशाही के विरुद्ध हिंसक क्रांति की प्रशस्ति की गई। श्री शुक्राचार्य

ने दुष्प्रवृत्त सरकार के विरुद्ध विद्रोह को आवश्यक कर्तव्य माना है जाफरे फेअर बर्न ने अपनी पुस्तक "रेवोल्यूशनरी गुरिल्ला वारफेयर" में कहा है कि "शायद दो हजार वर्ष पूर्व भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित धारणा—कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्— को अर्वाचीन युद्धशास्त्र में बिल्कुल भुला दिया गया है। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि प्रतिष्ठित क्रान्तिकारियों की प्रेरणा का स्रोत श्रीमद्भगवत् गीता ही रहा है। गीता को सच्चे क्रान्तिकारियों का प्रमाणिभूत "गैरिक ग्रंथ" कहना उचित होगा।"

हिंसा और युद्ध, क्रान्तियों का एक अपरिहार्य भाग रहा है। किन्तु इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन और इस शताब्दी के व्यक्तिवादी राजनीतिक आकांक्षा रखने वाले क्रान्तिकारियों की धारणा में कितना गुणात्मक अंतर है।

निकट भूत के शिवाजी महाराज जैसे क्रान्तिकारियों के कार्य और भाव घर-घर में परिचित हैं।

इन दिनों नक्सलवादी माओ के इस सिद्धान्त का प्रचार कर रहे हैं कि राजनीतिक शक्ति बंदूक की नली से निकलती और बढ़ती है। किन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि नक्सली आन्दोलन के प्रादुर्भाव के सत्तर साल पहले ही लोकमान्य तिलक ने कहा था कि "अंग्रेज कहते हैं कि भारत का ब्रिटिश साम्राज्य भगवान ने उन्हें पारितोषिक के रूप में उनकी बंदूक की नली में बैठकर दिया है। लोगों को यह बात ठीक से समझनी चाहिए।"

१८५७ से १९४७ के बीच के क्रान्तिकारियों के नाम सुविख्यात हैं। राजनीति प्रेरित हिंसा भारत के इतिहास में अनोखी नहीं तो यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि राजा वेन का उत्तराधिकारी भी कालांतर में स्वयं अत्याचारी बन गया था।

हमारे देश में लोग गलती से क्रांतियों को मार्क्सवाद के साथ जोड़ते हैं। इस बात को भुला दिया जाता है कि मार्क्सवाद के जन्म से पहले ही पश्चिम में, १६४९ में क्रॉमबेल द्वारा, १७७८ में अमेरिका में तथा १७८९ में फ्रांस में क्रांतियां हुई थीं। यह ठीक है कि मूल मार्क्सवाद हिंसा और केवल हिंसा ही सिखाता है, किन्तु एंजेल्स ने १८४७ में ही अपनी समीक्षा "प्रिंसिपल्स ऑफ कम्युनिज्म" में लिखा था कि "कम्युनिस्ट भलीभांति जानते हैं कि क्रांतियां केवल निरर्थक ही नहीं, हानिकारक भी होती हैं। वे जानते हैं कि क्रांतियां कभी किसी की इच्छा और निर्णय से नहीं होतीं, वे तो क्रांतिपूर्व की उन परिस्थितियों की अनिवार्य परिणति होती हैं जिन पर पार्टियों या वर्गों का कोई नियंत्रण या प्रभाव नहीं होता। यह भी देखा जाता है कि सर्वहारा के उत्थान को हिंसा द्वारा दबाकर कम्युनिज्म के विरोधी, सभी देशों में, स्वयं ही पूर्ण शक्ति लगाकर क्रान्ति की भूमिका तैयार कर रहे हैं।" मार्क्सवाद निःसंशय हिंसा से जुड़ा हुआ है। किन्तु अभी-अभी कुछ देशों की राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टियों ने यह अ-लेनिनी विचार रखा है कि बिना हिंसा के भी वे सत्ता पर काबिज हो सकते हैं। उनकी ईमानदारी में शंका की गुंजाइश होने के बावजूद , जैसा कि प्रो॰ सिडनी हुक ने कहा है, यह तो मानना ही पड़ेगा कि "कुछ देशों के कम्युनिस्टों को भी हिंसा का सिद्धान्त बाधास्वरूप ही लगता है।"

साम्राज्यांतर्गत देशों में मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों ने लोगों की देशभक्ति की भावना का आवाहन किया किन्तु साथ ही साथ सतर्क रहकर यह भी कहते रहे कि सही देशभक्ति अन्तर्राष्ट्रीयता का ही एक अंग होती है। उदाहरणस्वरूप, हो-चि-मिन्ह ने १९५१ में कहा था, "हमारे लोग प्रखर देशभक्त हैं। यह हमारी अमूल्य परम्परा रही है कि जब-जब हमारे पितृदेश पर आक्रमण हुआ, हमारी देशभक्ति के हिंसक उफान ने सभी संकटों और कठिनाइयों को बहा दिया देशद्रोहियों और आक्रामकों को रसातल में डुबो दिया है। यही अब भी होगा।" मार्क्सवाद को राष्ट्रीय संस्कृति और परम्परा के अनुकूल बनाने के लिए उसके "राष्ट्रीयकरण" की कम्युनिस्ट जगत की नई प्रवृत्ति पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। मार्क्सवाद का "चीनीकरण" करने की माओ की सुनियोजित कोशिशों से हम परिचित हैं। इस तरह का "राष्ट्रीकृत" मार्क्सवाद किताबी मार्क्सवाद से काफी अलग होता है, उसमें राष्ट्रवाद के भी अंश होते हैं।

समझना यह है कि "सांचे बंद " दृष्टि से देखने से वास्तविकता सामने नहीं आएगी।

हिंसा के कुछ प्रकारों की ओर ध्यान देना यहां आवश्यक नहीं है। जैसे, सरकार-समर्थित गुंडों के हिंसाचार के विरुद्ध जनता की तत्काल स्फूर्त अथवा आयोजित प्रतिक्रिया। क्योंकि सरकारी एजेंट तो एक प्रकार से सरकार का अंग ही हैं। दूसरा प्रकार ऐसी हिंसा का है जो सरकार द्वारा अपने ही खिलाफ "रिचस्टेग फायर" जैसी शैली में की हुई कार्यवाहियों की प्रतिक्रिया में जनता द्वारा स्फूर्त रूप से की गई हो। उदाहरणस्वरूप ६ मार्च, १९७१ को श्रीलंका सरकार ने सेना और पुलिस को सतर्क कर उनसे अमरीकी दूतावास पर पेट्रोल बम फिंकवाए, और इस कार्यवाही का आरोप उनके स्पष्ट इनकार के बावजूद, विरोधियों पर लगाया और जनसुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत अधिकारों का प्रयोग कर आपात घोषित किया, पूरे द्वीप में कर्फ्यू लगाया, कई लड़ाकू विरोधियों को बन्दी बनाया और कई विरोधी नेताओं को मार डाला।

सरकार द्वारा की गई इस भड़काने वाली कार्यवाही की प्रतिक्रिया में जनता द्वारा तत्काल की गई हिंसा इस प्रस्तुति के परिवेश के बाहर है।

ऐसी कार्रवाई अल्पसंख्यकों के विरुद्ध भी की जा सकती है, जैसे जर्मनी में हिटलर ने यहूदियों के खिलाफ की या पाकिस्तान में हिन्दुओं के खिलाफ की गई।

"कू-क्लक्स-क्लान" के समान "लिंचिंग" आदि अमानुष कार्रवाइयों की भी हिंसक प्रतिक्रिया हो सकती है।किन्तु उसे भी विचार के बाहर ही रखना होगा क्योंकि इसके द्वारा कहीं न तो सत्ता परिवर्तन हुआ है, न होता है।

"कू-दित्ता" (Coup d'Etat) में, एडवर्ड लूटवाक ने, कुर्जियो मालपाटे के "टेकनिक ऑफ दि कू-दित्ता" में सुधार करते हुए लिखा है कि "इस प्रकार के शासन परिवर्तन में शासन तंत्र के बहुत थोड़े किंतु महत्वपूर्ण लोगों का सहभाग होता है। ऐसे लोगों का उपयोग करके राज्यतंत्र को अधिकारहीन बना दिया जाता है।"

"सिविल वार" या "यादवी युद्ध" में सेना के विभिन्न दस्तों की आपसी लड़ाई द्वारा सत्ता

परिवर्तन होता है। प्रोनाउन्समेन्ट में कोई एक सेनाधिकारी सेना के सभी अफसरों के नाम पर घोषणा-पत्र जारी करके सत्ता हथिया लेता है। पुच (Putsch) में सेना का एक दस्ता विद्रोह करके अपने नियुक्त अफसर के नाम पर सत्ता हथियाता है। आजकल एक अन्य प्रकार है "मुक्ति" (लिबरेशन), जिसमें दूसरे देश की सेना अथवा राजनीतिज्ञों के हस्तक्षेप द्वारा समानांतर सत्तातंत्र स्थापित करने का उद्देश्य रखकर सत्ता परिवर्तन किया जाता है।

१९४५ से १९६७ के बीच में ३६ देशों के सत्तापरिवर्तन एवं विप्लव द्वारा सत्ता का परिवर्तन करने के प्रयत्नों के अनुभवों के आधार पर लुटवाक ने यश प्राप्ति के लिए कुछ आवश्यक पूर्वाधारों का निर्धारण किया है। जो तथ्य उन्होंने दिए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत जैसे विशाल और बहुकेन्द्रिक देश में विप्लव का तरीका यशस्वी नहीं हो सकता।

गृह-युद्ध, घोषणा-पत्र जारी करके, पुच या मुक्ति अभियान में आम जनता की भूमिका निष्क्रियता की ही रहती है। न तो जनता इनकी शुरुआत कर सकती है, और न इन पर कोई प्रभाव ही डाल सकती है। परिणामतः सत्तांतर के बाद नए तंत्र पर जनता का प्रभाव नहीं होता, उस पर सेना ही हावी होती है। इस स्थिति में यदि सैनिक नेता निरंकुश होना चाहें, जिसका सुअवसर उन्हें मिलता है, तो जनता की स्थिति कढ़ाई से निकलकर आग में गिरने जैसी दयनीय हो जाती है। अपनी इच्छा और निश्चय के आधार पर जनता जो कुछ कर सकती है वह है प्रतिरोध, विद्रोह और क्रान्ति। यह सही है कि इसके लिए भी सेना को या उसके एक हिस्से को प्रभावित करके अपने पक्ष में मिला लेना या कम से कम उसे निष्क्रिय करना आवश्यक होता है। किन्तु नेतृत्व जनता का ही रहता है, सेना की भूमिका सहायक या पूरक की रहती है।

चे-ग्वेबारा ने हिंसक क्रान्ति के प्रवर्तन के लिए निम्नलिखित न्यूनतम आवश्यकताएं प्रतिपादित की हैं :—

"यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना विद्रोह का न तो प्राथमिक केन्द्र ही स्थापित किया जा सकता है, और न ही उसे मजबूत बनाया जा सकता है। सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रचलित तंत्र के अन्तर्गत बहसबाजी द्वारा संघर्ष करते रहने की निरर्थकता का जनता को अनुभव होना चाहिए। शांति तो प्रस्थापित कानून के विरुद्ध दमनकारी शक्तियों द्वारा सत्ता पर कब्जा करने के साथ ही भंग हो जाती है। ऐसी स्थिति में जनअसंतोष अधिकाधिक सक्रिय रूपों में प्रकट होता है। मूलतः अधिकारियों की उत्तेजक कार्यवाहियों के कारण उत्पन्न संघर्ष से प्रतिरोध की भावना ठोस होती रहती है।

जहां सरकार किसी प्रकार चुनाव के द्वारा सत्ता में आती है और संवैधानिकता और वैधता का दिखावा बनाए रखती है, वहां छापामार संघर्ष खड़ा नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहां शांतिपूर्ण संघर्ष की संभावनाएं बनी रहती हैं।"

यह ध्यान में रखने योग्य है कि स्काटलैंड और वेल्स का औद्योगिक पिछड़ापन तथा उनके विरुद्ध पक्षपात, कनाडा या बेल्जियम के क्षेत्रीय या भाषामूलक आपसी कलह अथवा आयातित

विदेशी मजदूरों के आधार पर ब्रिटेन, फ्रांस, स्विट्जरलैंड या जर्मनी में कोई क्रान्ति की आवाज नहीं उठी। अमरीका में नीग्रो, रेड इण्डियन, मेक्सिकन या पोर्टोरिकन लोग भी पूरी समाज व्यवस्था को बदल डालने के निश्चय और नारे के बावजूद किसी ऐसी क्रान्ति के प्रयास में शामिल नहीं हुए हैं। एन० ए० ए० सी० पी० (The National Association for the Advancement of Coloured People) अर्थात् अमेरिका के अश्वेत लोगों के उत्थान के लिए बनी यह संस्था अभी भी वैधानिक दबाव लाने में ही विश्वास करती हैं। मार्टिन लूथर किंग के अनुयायी तो अभी आशान्वित हैं कि अहिंसक जनप्रतिरोध और ईसाई धार्मिक आह्वान द्वारा लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। अमरीका के जवानों और काले लोगों की क्रान्ति क्षमता, पश्चिमी जर्मनी के १९६७ के विद्यार्थियों के उग्र प्रदर्शन, फ्रांस की मई-जून, १९६८ की कोलाहलपूर्ण घटनाएं, उत्तरी आयरलैंड में कैथोलिक लोगों का विद्रोह आदि के बावजूद यह स्पष्ट दिखता है कि हिंसक आन्दोलन की कल्पना पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों में अभी कोई मजबूत आधार नहीं पा सकी है। इस कल्पना का प्रभाव अभी परिधि पर ही है। इटली और फ्रांस जैसे कुछ देशों की राष्ट्रीय कम्युस्टि पार्टियों की नई प्रवृत्तियों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। अप्रजातांत्रिक देशों में स्थिति भिन्न है।

कार्लोस मारिथेला द्वारा गुरिल्ला योद्धा के लिए निर्धारित किए गए व्यक्तिगत अन्तर्निहित गुणों और अहिंसक क्रांति के भूमिगत कार्यकर्ता के आवश्यक गुणों में कोई विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता। यदि कुछ है तो इतना ही है कि गुरिल्ला योद्धा के लिए आवश्यक साधन अहिंसक भूमिगत कार्यकर्ता के लिए अनावश्यक हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ, मारिथेला ने कहा है कि गुरिल्ला योद्धा को साहसी पहल करने वाला, कल्पनाशील और निर्माणक्षम होना चाहिए। उसे अच्छा रणनीतिज्ञ तथा अच्छा निशानेबाज होना चाहिए। उसमें इतनी चतुराई होनी चाहिए कि शस्त्रास्त्र और अन्य उपकरणों की कमी को परिलक्षित न होने दे। उसे चपल, परिस्थितिजन्य व्यवहार चतुर तथा शांत चित्त होना चाहिए। उसे भूख, गर्मी, बरसात सहने वाला तथा अधिक चलने में थकावट न महसूस करने वाला होना चाहिए। उसमें छिपने, जागरूक रहने, छद्म वेश धारण करने, संकट से आहत न होने, रात और दिन समान रूप से काम करने, घबराकर कोई काम न करने, किसी भी संकट में धैर्य से निर्णय करने, अपने पीछे कोई सुराग न छोड़ने और किसी भी स्थिति में धैर्य न खोने के गुण होने चाहिएं। उसे सामान्य जनों से अलग नहीं दिखाई देना चाहिए। उसे अपनी गतिविधियों की जानकारी किसी को नहीं देनी चाहिए। उसमें व्यक्ति और परिस्थिति को परखने का गुण बहुत प्रचुर मात्रा में होना चाहिए। उसे शत्रुपक्ष की गतिविधियों की पूरी जानकारी रखनी चाहिए। उसे एक निपुण प्रश्नकर्ता और कार्यक्षेत्र की भू-रचना से पूर्णतया अवगत होना चाहिए। नाम, पते, दूरभाष नम्बर, पहुंच के रास्तों की जानकारी उसे लिखकर नहीं रखनी चाहिए। योजनाएं गुप्त तो रहनी चाहिएं, किन्तु हर एक सौंपे गए काम की उसे पूरी जानकारी होनी चाहिए और अखबारों के रिक्त स्थानों पर लिखी टिप्पणियां, इधर-उधर बिखरे कागज, टिकट, पत्र, भेंट-पत्र आदि नष्ट कर देने

चाहिएं। मिलन स्थलों को स्मृतिबद्ध रखना चाहिए। पकड़े जाने पर छापामार सैनिक को संगठन के लिए हानिकारक या अन्य सहयोगियों को पकड़ने में सहायक या शस्त्रास्त्रों के संग्रह के स्थानों का पता लगाने में सहायक कोई सूचना शत्रुपक्ष को नहीं देनी चाहिए।

क्रान्तिकारी नेताओं के लिए शारीरिक सुदृढ़ता से अधिक मानसिक सुदृढ़ता और धैर्य, दृढ़ संकल्प और इच्छा-शक्ति आवश्यक है। चे-ग्वेवरा और चारू मजूमदार जैसे क्रान्तिकारी नेता गंभीर रोगग्रस्त रहे, फिर भी उनकी इच्छा-शक्ति में कोई कमी नहीं आई।

हिंसाचारी क्रान्तिकारी की तरह अहिंसक क्रान्तिकारी को भी निम्न सात दोषों से प्रयासपूर्वक बचना चाहिए। अनुभवहीनता, शक्ति को कम या अधिक आंकना, आत्म-प्रशंसा, अपनी भूमिका को अधिक महत्व देना, सामग्री, और सूचना प्राप्ति के विषय में उपलब्ध व्यवस्था को देखते समय बहुत भारी या बहुत हल्की कार्रवाई, घबराहट में अधैर्य से कुछ कर बैठना, दुःसाहस और पूर्ण विचार के बिना निर्णय लेना।

१९५० में हो-चि-मिन्ह ने अपने अनुयायियों को हिदायतें दी थीं कि वे—

(१) अनुशासन का स्तर ऊंचा करें,

(२) निदेशों का कड़ाई से पालन करें,

(३) जवानों से प्रेम करें,

(४) जनता का आदर करें,

(५) लड़ाई की लूट से सरकारी और सामाजिक सम्पत्ति की रक्षा करें,

(६) ईमानदारी से आलोचना और आत्मनिरीक्षण करें।

उन्होंने अपने साथियों को प्रचार करने, शत्रुबल का अवमूल्यन, तैयारी के समय उसे प्राप्त सूचना की कड़ी गुप्तता रखने और कोरी सिद्धान्तवादिता से दूर रहे की सावधानी बरतने की ओर भी आकर्षित किया।

ऐसी हिदायतें न्यूनाधिक अन्तर से हिंसक क्रान्तियों की तरह अहिंसक क्रान्तियों के लिए भी उपयुक्त हैं।

गुरिल्ला युद्ध की सफलता के लिए भू-संरचना का बड़ा महत्व है। रॉबर्ट टेबर ने कास्ट्रो के क्यूबाई अनुयायियों की आधार-भूमि के विषय में लिखा है : "सारा क्षेत्र पूर्व-पश्चिम सौ मील लम्बा और पन्द्रह से बीस मील चौड़ा है। साधारण गणित से ही यह समझा जा सकता है कि घने जंगल और पहाड़ों से घिरे रास्ता-विहीन ऐसे क्षेत्र में क्रान्तिकारियों को दबाना सेना के लिए कितना असंभव कार्य था।" इस प्रकार के क्षेत्र में वायु सेना या तोपखाना क्रान्तिकारियों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं कर सकते।

बरेली और लखनऊ हाथ से जाने के बाद जब तात्या टोपे ने गुरिल्ला रणनीति अपनायी थी तो गंगा के विस्तृत मैदानों ने उनको निराश किया था। मध्य भारत की पहाड़ियों में ही तात्या

चलती-फिरती लड़ाई का करिश्मा दिखा सके। तात्या को निराश करने वाले गंगा के मैदानों में शिवाजी की गुरिल्ला रणनीति यशस्वी हो सकती थी क्या? तात्या की निम्नांकित आम हिदायतों का पालन क्या उत्तर के मैदानों में हो सकता था?

"शत्रु सेना तुमसे अनुशासन-व्यवस्था में अच्छी है। उनके पास बड़ी-बड़ी तोपें हैं। उससे सीधे मत भिड़ो, उनकी हलचल पर, नदियों के घाटों पर निगाह रखो, उन तक रसद पहुंचने मत दो, उनके आसपास मंडराते रहो और उनकी नींद हराम कर दो।"

ऐसा क्षेत्र जो मैदानी से अधिक उबड़-खाबड़ या पहाड़ी हो, रेल-सड़कों के बजाय घने जंगलों का हो, और जिसकी अर्थव्यवस्था उद्योगों के बजाय कृषि पर आधारित हो, गुरिल्ला युद्ध के लिए सुयोग्य होता है।

सीनेटर जार्ज मेक गव्हर्न ने भी असम भू-रचना में सैनिक शक्ति की सीमाओं का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि "एशिया के जंगलों में उनकी आणविक शस्त्रास्त्र सामग्री, पचास अरब का सैनिक बजट, बहुखर्चीले विशेष सैनिक बल आदि घरों में बने शस्त्रों से लड़ने वाले कठोर छापामारों के सामने निष्प्रभ हो गए।" जहां तक भारत का प्रश्न है यह तो विशेषज्ञ ही इसकी भौगोलिक परिस्थिति और जनसंख्या आदि का विश्लेषण करके बता पाएंगे कि यहां छापामार गतिविधियां संभव हैं कि नहीं, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि हमारे बड़े-बड़े समतल मैदान इस प्रकार की गतिविधियों के लिए उपयुक्त नहीं हैं। छापामार युद्ध के लिए उपयुक्त विभिन्न क्षेत्र एक-दूसरे से सटे हुए नहीं हैं और देश का राजनीतिक-प्रशासनिक केन्द्र मैदानों के मध्य में है। भू-संरचना का युद्धों की तरह क्रान्तियों में भी महत्व होता है। यदि दिल्ली के आसपास का क्षेत्र पहाड़ी होता तो १७६१ का हमलावर पानीपत पहंचने के पहले ही परास्त हो जाता।

कार्लोस मेरिथेला ने निःसंशय नागरी छापामार युद्धनीति कला को परिपूर्णता तक पहुंचाया है। विदेशी अधिकारियों की हत्या, अपहरण, दूरदर्शन और आकाशवाणी केन्द्र जलाना, अखबारों के दफ्तरों पर बमबारी, सैनिक एवं सरकारी प्रतिष्ठानों पर बमबारी, रेलगाड़ियां और बैंक लूटना, अन्य लोगों को बंधक बनाकर कैदियों को मुक्त कराना, सरकार, पूंजीपति और जमींदारों के शस्त्र-सम्पत्ति हथियाना, शहरी व्यक्तियों को लड़ाई में भाग लेने के लिए प्रेरित करने के लिए सड़कों पर लड़ाई, जेलों के अंदर विद्रोह और बाहर से हमले, औद्योगिक हड़तालें, आदि सभी का गुरिल्ला युद्धनीति में अपना महत्व है, किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में ही इनका प्रभाव होता है। लैटिन अमरीका के करीब-करीब सभी देशों में पचास प्रतिशत से अधिक लोग, तीन-चार बड़े नगरों में ही रहते हैं। उरुग्वे और चिली में ते एक तिहाई जनसंख्या एक ही नगर में रहती है। नागरी आतंकवाद कई तरह से विभिन्न क्षेत्र में बंटी हुई जनसंख्या में फलदायी नहीं हो सकता।

अहिंसक क्रान्तिवादी किसी बाहरी शक्ति से सामग्री और धन की सहायता लेना नैतिक नहीं मानते, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार को महत्व देते हैं। जब कि दूसरे महायुद्ध के बाद के करीब-करीब

सभी क्रान्तियुद्ध किसी न किसी विदेशी शक्ति की सहायता से ही लड़े गए। अरजीरियाई क्रान्तिकारियों को मिश्र से पर्याप्त सहायता मिली तथा ट्यूनीशिया उनका आश्रय स्थान बना। १९४९ में लाल चीन द्वारा वीएतनाम की सीमा से लगे प्रदेश पर कब्जा किए जाने के कारण परिस्थितियों में हुए लाभकारी अंतर को जनरल जियाप ने स्वीकार किया है। १९५० के अन्त तक चीन-विएतनाम सीमा के सभी किलों और ठिकानों से फ्रांसीसियों को भगा दिया गया और सीमावर्ती क्षेत्र विएतनामी सेना के प्रशिक्षण, गुरिल्लाओं की सामरिक सम्पूर्ति और आश्रय का स्थान बन गया।

सोवियत-चीन सीमा के एक क्षेत्र को चीन की सैनिक गतिविधियों का आधारभूत केन्द्र बनाने की माओ की सुनियोजित चाल सर्वविदित है। यूनानी क्रान्तिकारी सेना अपनी रसद यूगोस्लाविया और अल्बानिया से प्राप्त करती थी। उत्तर स्याम की मिओ जनजातियों का प्रशिक्षण उत्तरी विएतनाम में होता था। अफ्रीकी और लैटिन अमरीकी देशों की क्रांतियों में क्यूबा की भूमिका तथा भारत के नागा, बर्मा के शान्स और काचिन, लाओस, मलेशिया और कम्पूचिया के क्रान्तिकारियों, फिलिस्तीनी लिब्रेशन फोर्स, अरब खाड़ी और अफ्रीका के क्रान्तिकारियों को दी गई चीनी मदद के बारे में कौन नहीं जानता?

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "निकट भूत की किसी भी क्रान्ति को भारी विदेशी आर्थिक सहायता और शस्त्रास्त्र पूर्ति के बिना सफलता नहीं मिली। वैसे ही यह भी तथ्य है कि जिनके छापामार आन्दोलनों की सफलता से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कोई अन्तर आने की संभावना नहीं हो सकती थी, ऐसे छापामारों की गतिविधियों की मदद के लिए कोई आगे नहीं आया। फ्रांसीसी प्रभुत्व के विरुद्ध लड़ने वाले छोटे से चाड के क्रान्तिकारी इसी वर्ग में आते हैं।

१९० लाख हेक्टर से कम के क्षेत्रफल और तीस लाख जनसंख्या वाले देश उरूग्वे को उपरोक्त तथ्य के विपरीत क्रान्ति के अभियान में अनुपाततोड़ सहायता मिली, क्योंकि यह देश महाद्वीप के दो महादेशों ब्राजील और अर्जेंटीना के बीच स्थित है और क्यूबा के कैस्ट्रो और चिली के एलेन्दे उरूग्वे को दक्षिण अमरीका में क्रान्ति विद्रोह को बढ़ावा देने के लिए केन्द्र मानते थे।

पांच हजार वाले रोडेशियाई छापामारों ने मोजाम्बिक को केन्द्र बनाया और जाम्बिया से या उसके माध्यम से रसद प्राप्त की।

अंगोला के राष्ट्राध्यक्ष अगास्तेनो नेरी ने तो नौ साम्यवादी और पांच असाम्यवादी देशों को कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद भी दिए हैं।

आर्म-चेयर कान्तिकारी समझते हैं कि हिंसक क्रान्ति की प्रथम आवश्यकता आधुनिक अस्त्रों की होती है। ए॰ पी॰ की यह रिपोर्ट पढ़कर उन्हें आश्चर्य होगा कि "विएतकांग गुरिल्ला दस्ता शस्त्रहीन स्थिति में ही गठित किया जाता है। नेता अपने अनुयायी स्त्री-पुरुषों से स्पष्ट कह देता है कि प्रारम्भ में उन्हें हाथों से बनाए गए खंजर, भाले, तलवारों एवं घटिया बन्दूकों से ही लड़ना होगा। अच्छे हथियार तो उन्हें शत्रु से छीनने होंगे।"

हथियारों का महत्व तो है, किन्तु क्रान्ति का निर्णायक फल शस्त्रास्त्र नहीं, जनता देती है।

चे-ग्वेबरा कहते हैं "गुरिल्ला योद्धा को स्थानीय जनता का पूरा समर्थन आवश्यक है। यह एक अनिवार्य शर्त है। किसी क्षेत्र में कार्यरत लुटेरों के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है। छापमार सेना के सारे चारित्रिक गुण, जैसे आपसी ऐक्य, नेता के लिए श्रद्धा, शौर्य, क्षेत्र की अच्छी जानकारी और विभिन्न चालों की समझदारी उन्हें भी होती है। केवल जनसमर्थन न होने के कारण अन्ततोगत्वा उन्हें राज्यशक्ति समाप्त कर देती है।" जनसमर्थन के बिना संगठन, जासूसी, सूचना संकलन, प्रचार, अन्तर्धात बीमारी का इलाज या छिपे रहना आदि कुछ भी संभव नहीं होता।

क्रान्तिकारियों की लुटेरों से अलग पहचान उनके ध्येयवाद के कारण है। लक्ष्य में उनकी दृढ़ निष्ठा, नैतिकता, सरकारी लोगों से अधिक ध्येयवादिता उन्हें जनता का अधिक विश्वासपात्र बनाती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में गुरिल्लाओं को पहचान पाना उन्हें जनसमर्थन होने के कारण असम्भव हो जाता है। वे इसी समर्थन के आधार पर जासूसी कर पाते हैं।

छापामार का प्रथम लक्ष्य जनता के मन में सरकार से संघर्ष करने की इच्छाशक्ति जगाना होना चाहिए, क्योंकि जनता की सहमति के बिना कोई सरकार एक दिन भी नहीं चल सकती। उसे प्रयत्नपूर्वक जनता और प्रशासन के बीच का सम्पर्क छिन्न-भिन्न करके उनमें मानसिक दूरी निर्माण करनी चाहिए।

गुरिल्ला एक लड़ाकू नागरिक तो है, किन्तु उसका प्रमुख हथियार बन्दूक या षड्यंत्र नहीं, जनता से सम्बन्ध है।

छापामार गतिविधियां सैनिकों से अधिक राजनीतिक होती हैं। क्रान्तिकारी की नैतिक श्रेष्ठता, ध्येयनिष्ठा, त्याग, सरकारी दमन के खिलाफ उग्र कार्रवाइयां, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार, प्रशासन और यातायात की सुसूत्रता को तोड़ना, हर जगह, हर समय सरकारी सैनिक पहरेदारी को अक्षम और अप्रभावी बना देना, सरकारी कोष और परिणामतः करदाता पर असहनीय बोझ आदि के एकीकृत प्रभाव से ही जनता स्थापित शासन की विरोधी बनती है और उसी की अन्तिम परिणति समाज द्वारा क्रान्ति को पूर्ण समर्थन देने में होती है। उसका यह समर्थन निर्णायक होता है। इसी के कारण आयरलैंड, क्यूबा, ज़ंजीबार, साइप्रस, इजराइल (ब्रिटिश विरोधी) के क्रान्तिकारी अपेक्षया, अपनी बहुत कम मानवीय हानि के आधार पर सफल हो सके।

क्रान्ति के विषय में जानकार माने गए व्यक्तियों के इन कथनों से बहुत कुछ समझा जा सकता है : "१९४६-४९ की त्रिवर्षीय यूनानी क्रान्ति की असफलता का प्रमुख कारण छापामारों का जनता से अलग-थलग रहना और उनका नागरिकों पर अत्याचार था। क्रान्ति की असफलता के अन्य कारण थे, ग्रीक छापामारों की विदेशी आधार और आपूर्ति पर निर्भरता तथा उनका १९४८ का यह अपरिपक्व फैसला कि वे अपने से हर प्रकार समृद्ध सरकारी सेना से संघर्ष करेंगे।

फिलिपाइन्स में हुक क्रान्तिकारियों को मेगसासे इस कारण विफफल कर सके कि वे

क्रान्तिकारी, विद्यार्थी, औद्योगिक मजदूर और निम्न-मध्य वर्ग का कोई जनमोर्चा नितान्त आवश्यकता के बावजूद खड़ा नहीं कर सके। वे क्रान्तिकारी जन-आकांक्षाओं को समझ नहीं सके और व्यापक असंतोष, जिसकी सरकार पलटने के लिए आवश्यकता होती है, पैदा नहीं कर सके। फलतः सरकारी सेना को परास्त करने में सूक्षम जनसेना तैयार नहीं हो पाई।

मलाया की मलायन रेसेज़ लिबरेशन आर्मी में करीब-करीब सभी लोग ऐसे चीनी थे जो थोड़े दिन पहले ही वहां आकर बसे थे। देश में उनकी जड़ें गहरी नहीं थीं। इस कारण पुनर्वास कार्यक्रम के लागू होने पर, जिसका लाभ पांच लाख चीनियों को मिला, उन्हें जनतंत्र से अलग-थलग किया जा सका। जनता से कट जाने के कारण अन्ततोगत्वा उन्हें या तो शरणागत होना पड़ा या गुप्त कार्रवाइयों में पड़कर मारे या पकड़े गए।

१९७१ का लंकाई विद्रोह विफल हुआ। रोहन विजेवीरा ने लिखा है कि "परिस्थिति राज्य सत्ता को सशस्त्र विद्रोह द्वारा पलटने के लिए परिपक्व नहीं थी। आम जनता में यह भावना दृढ़ नहीं हुई थी कि सशस्त्र क्रान्ति के बिना अब कोई चारा ही नहीं है।"

१४ अप्रैल, १९७२ को उरूग्वे में राउल सैन्डी इसलिए असफल नहीं हुए कि उन्होंने २८ नवम्बर, १९७१ के राष्ट्रपति के चुनाव द्वारा प्रकट हुए जनता के इस संदेश को नजर अंदाज कर दिया कि वह क्रान्ति नहीं चाहती।

१९४८ में सोवियत कम्युनिष्ट पार्टी ने जेडनोव की प्रेरणा से अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति में आनन-फानन बदल कर दिया। फलतः भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने घोषित किया कि भारत में क्रांति द्वारा सत्ता हथियाने के लिए परिपक्व स्थिति है, किन्तु तेलंगाना में सीमित सफलता केबावजूद जनसमर्थन के अभाव में यह चाल बुरी तरह विफल हुई।

नक्सली आन्दोलन पर इकानामिक एण्ड पोलिटिकल वीकली के संवाददाता की २२ जुलाई, १९७२ की टिप्पणी विस्तृत रूप से उद्धृत करने योग्य है। उसने टिप्पणी की थी कि "लिन पिआओ की विचारधारा के बहुत अधिक प्रभाव में बहकर नक्सलपंथियों ने भ्रमित होकर सोचा कि चूंकि शहर गांवों से घिरे हुए हैं, प्रचंड खाद्य संकट के कारण अतीव असंतोष व्याप्त है, अतएव क्रान्ति लाई जा सकती है और उसके पूर्व जनसंगठन की कोई आवश्यकता नहीं। चिनगारी फूटते ही जनता क्रान्ति में आ जुटेगी, नए लोगों के राजनीतिक प्रशिक्षण पर जोर देने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। समाज विरोधी तत्वों और चोर-खूनी सभी को विद्रोही हिंसा शुरू होने पर काम में लगाया जा सकेगा। आग से सबकुछ शुद्ध हो जाता है। एक बार क्रान्ति के पैर जम जाने पर कोई नहीं देखेगा कि वर्ग शत्रु का गला काटने वाला कोई आदर्शवादी था या बाजार का गुंडा। चारू मजूमदार लघुतम मार्ग से क्रान्ति के पीछे पड़े हुए थे। उनकेसहयोगी ढीठ गुंडे उन्हें छोड़कर चले गए। जल्दी ही उन गुंडों की समझ में आ गया कि पुलिस से उन्हें अधिक लाभ हो सकता है। कलकत्ता की सड़कों और गलियों में देखा जा सकता है कि जो लोग पहले चारू मजूमदार के उपदेशों के कायल थे और माओ की उक्तियों को यत्र-तत्र दिखाते फिरते थे, वे ही अब स्थापित

सत्ता के नेतृत्व को देवत्व प्रदान करने में लगे हैं। इससे परम्परागत वामपंथी आन्दोलन की बहुत बड़ी हानि हुई। कौन जानता है इसने कौन सी ऐतिहासिक प्रक्रिया को आगे बढ़ाया है।"

इन सभी उदाहरणों से यह प्रस्थापित होता है कि जनसमर्थन और सहभाग के बिना क्रान्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत, आयरलैंड के ईस्टर विद्रोह के क्रान्तिकारी, जो १९१६ में अलोकप्रिय थे, ब्रिटेन द्वारा १५ क्रान्तिकारियों को गोली से मार दिए जाने और आयरिश युवकों की अनिवार्य सेना में भर्ती का दमनकारी कानून बनाए जाने का बाद लोकप्रिय हो गए। टेरेन्स मैक्स्विनी के ७४ दिन के अनशन और ब्रिटिश जेल में हुतात्मा बनने के बाद तो सारी जनता विदेशी राज्यकर्ताओं के विरुद्ध एक हो गई। डी वेलेरा के तूफानी अमरीकी प्रवास ने आयरिश लोगों के उद्देश्य के पक्ष में विश्व जनमत तैयार किया। सरकारी प्रतिहिंसा का प्रभाव सरकार के ही विरुद्ध हुआ। पूरी जनता के विरोध के कारण ब्रिटिश लोग समझ गए कि आयरलैंड में जमे रहना बहुत महंगा और अलाभकर होगा।

साइप्रस के छापामारों की सफलता के कारणों पर प्रकाश डालते हुए गैर-कम्युनिस्ट देशभक्त छापामारों के नेता जनरल ग्रीवास लिखते हैं कि: "यह पढ़कर कि जनरल 'क' या 'ख' साइप्रस में उसी कार्यशैली का, जिनसे उन्हें अन्य जगहों पर सफलता मिली, प्रयोग करने के लिए आ रहे हैं, मुझे बड़ी हंसी आई। उनकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि साइप्रस का संघर्ष, लक्ष्य, मनोवैज्ञानिक और वैचारिक दृष्टि से अनोखा था, उससे मुट्ठी भर घुसपैठिए नहीं, पूरी जनता जुड़ी हुई थी।"

माओ का आठ हजार मील का "लांगमार्च" जो साल भर में पूर्ण हुआ, जनता की क्रान्तिकारियों के साथ सहयोग भावना के बिना पूरा नहीं हो सकता था।

यूरोप में नाजी सेनाओं के साथ सहयोग करने वाले लोगों के विरुद्ध चलने वाले सभी आन्दोलनों को हर देश में जनता का पूरा समर्थन था।

शस्त्रास्त्र और मानवी शक्ति की कमी के कारण गोरिल्ला युद्ध न छेड़ पाने पर फिलिस्तीनियों और मोरक्को के क्रान्तिकारियों ने क्रमशः ब्रिटिश और फ्रांसीसी राज्यकर्ताओं के खिलाफ व्यक्तिगत आतंकवाद का सहारा लिया। ऐसा करने में उनका उद्देश्य विदेशी शासकों को यह आभास कराना था कि जनप्रतिरोध के बावजूद शासन में बने रहना जन-धन के भारी व्यय के आधार पर ही हो सकता है, और जनता को तब तक जागरूक रखना जरूरी है जब तक विदेशी शासन के खिलाफ वह पूरी तरह एकजुट न हो जाए।

अपने जीवट और जनसमर्थन के कारण ही दुर्गम औरास के क्षेत्र का उपयोग कर अल्जीरियाई छापामार फ्रेंच सेना को ललकार कर फ्रांसीसी सेना और खजाने पर भारी बोझ बन गए थे। यह गुरिल्ला युद्ध उन्होंने पूरी शक्ति से सैनिक वर्चस्व से ज्यादा मनोवैज्ञानिक प्रभाव के लिए ही छेड़ा था।

इन सभी संघर्षों में ऐसी स्थिति पैदा हुई कि जिसमें शासकों के लिए पूरी जनता के विरुद्ध

युद्ध लड़ने के अलावा कोई चारा न रहा। ऐसी स्थिति में कोई विदेशी सत्ता अधिक दिन टिक नहीं सकती, देशी तानाशाही के लिए तो और भी असाध्य हो जाता है।

रोडेशिया के इआन स्मिथ और दक्षिण अफ्रीका के जॉन वोरस्टर की समझ में भी यह गलती आ जाएगी।

करीब पचास देशों में नागरी या ग्रामीण, अस्सी से अधिक हिंसक आन्दोलनों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसे आन्दोलनों के लिए यद्यपि शस्त्रास्त्र और जनसमर्थन दोनों आवश्यक होते हैं, किन्तु जनसमर्थन ही अधिक निर्णायक होता है।

यह ठीक है कि स्वदेशी शासकों की तुलना में विदेशी शासकों के विरुद्ध जनसमर्थन प्राप्त करना सरल होता है लेकिन यदि यह सर्वज्ञात हो जाए कि स्वदेशी सरकार किसी विदेशी सरकार की कठपुतली है तो यह कठिनाई कम हो जाती है।

आन्तरिक प्रचार से जनसमर्थन जुटाया जा सकता है, किन्तु केवल प्रचार के आधार पर समर्पित कार्यकर्ता तैयार नहीं किए जा सकते। इसके लिए क्रान्तिकारी जनशिक्षण की जरूरत होती है। हर-एक आन्दोलन के दो उद्देश्य होते हैं : स्थापित शासन व्यवस्था को नष्ट करना और नई व्यवस्था बनाना। इसमें पहला तो जनशिक्षण के बिना भी कहीं-कहीं संभव हो सकता है, किन्तु जनशिक्षण के बिना नई व्यवस्था गठित करने में, पुरानी स्थापित व्यवस्था नष्ट करने की पहली उपलब्धि का लाभ नहीं उठाया जा सकता।

जनशिक्षण प्रचार से अलग है। प्रचार का उद्देश्य अलग-अलग स्तर पर जनता की सहानुभूति प्राप्त करना तथा कम से कम जनता को उदारतावादी और तटस्थ बना देना होता है। जनशिक्षण लोगों को क्रान्ति की गतिविधि में बराबर का भागीदार बना सकता है जबकि प्रचार ऊपर से नीचे तक सभी को एक दिशा में ही बढ़ाता है। जनशिक्षण सतत वार्तालाप की प्रक्रिया है। नेता निरन्तर लोगों से सीधे मिलते रहते हैं, उनकी संस्याएं समझते हैं, उनको सहयोगी मानकर विचार-विनिमय और लोगों द्वारा भ्रांति में कही अस्पष्ट बातों को उन्हें स्पष्ट रूप में समझते हैं। आन्दोलनात्मक क्रान्तिकारी प्रशिक्षण जनता की सचेत एवं अचेत आवश्यकताओं से प्रारम्भ होता है जनता की आन्तरिक इच्छाओं के प्रति उसे सचेत करना एक बड़ा धैर्य का प्रदीर्घ कार्य है, किन्तु इसका कोई विकल्प नहीं है। यह भी आवश्यक है कि साझे परीक्षण के विषय ऐसे होने चाहिएं जिन्हें लोग नितान्त आवश्यक समझते हों। लोगों को उनकी ही बात ठीक तरह से समझने में मदद करनी पड़ती है। यह तभी संभव हो पाता है जब नेता उनकी बात ठीक तरह से समझ पाएं, अपनी बात उन्हें स्पष्ट रूप से समझा पाएं और साझे रूप में परिस्थिति की वास्तविकता को समझें। इस घोर सुदीर्घ प्रक्रिया के पश्चात लोगों का अपने में और नेताओं में विश्वास दृढ़ होता है। जब वे नेताओं का समर्पण और उनकी स्पष्ट दृष्टि देखते हैं तो अनजाने ही उनके ध्येयवाद को अपना लेते हैं।

यह एक बहुत धीमी और धैर्य की प्रक्रिया है। संसदीय प्रजातांत्रिक पद्धति में ढालना नितान्त कठिन प्रतीत होगा। इस संदर्भ में जनसंख्या का परिमाण साक्षरता तथा राजनीतिक चेतना का स्तर भी विचारणीय होगा।

क्रान्तिकारी नेता जनता को केवल प्रयोज्य सामग्री नहीं मानते वे जनता से प्रेम करते हैं और उनके लिए सर्वस्व त्याग करने के लिए सिद्ध रहते हैं। चे-ग्वेबरा कहते हैं कि "भले ही यह हास्यास्पद लगे, फिर भी मैं कहता हूं कि प्रेम ही सच्चे क्रान्तिकारी की प्रेरणा होता है। इस गुण के बिना सच्चे क्रान्तिकारी की कल्पना नहीं की जा सकती।"

इस अन्तःप्रेरणा के कारण क्रान्तिकारी नेता लोगों को केवल उपयोग नहीं करते, अपितु उन्हें प्रशिक्षण द्वारा जाग्रत करके संगठित भी करते हैं।

फ्रायर कहते हैं : "जो नेता लोगों से वार्तालाप नहीं करते, अपने निर्णय उन पर थोपते हैं, वे उनका संगठन नहीं, केवल उनका प्रयोग करते हैं। न वे स्वयं मुक्त होते हैं न लोग, वे तो लोगों को दबाते हैं।"

ऐसे नेताओं का लोगों में विश्वास नहीं होता। वे लोगों को स्वभावतः ही निर्बुद्धि और वार्तालाप के लिए अयोग्य समझते हैं और अत्याचारियों की ही सारी प्रक्रियाएं अपनाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि क्रान्ति न तो नेता जनता के लिए करते हैं और न जनता नेताओं के लिए। वह तो दोनों की अभेद्य एकजुटता से काम करने के कारण होती है। यह एकजुटता जनता के साथ नेताओं के नम्र, प्रेमपूर्ण और धैर्यपूर्ण, व्यवहार से ही उत्पन्न होती है।

फ्रायर आगे कहते हैं : "क्रान्ति की प्रक्रिया में मेल-मिलाप से विमुख रहना, और संगठन करने या शक्ति संचय के बहाने लोगों से बात न करने का मतलब है स्वतंत्रता से ही डरना। यह डर लोगों में विश्वास न होने के कारण होता है। यदि लोगों में विश्वास ही न हो तो उनकी मुक्ति का क्या औचित्य। ऐसी स्थिति में क्रान्ति जनता के लिए नहीं, जनता द्वारा नेताओं के लिए हुआ करती है। यह तो सम्पूर्ण आत्मनिषेध है। जनता से संवाद सच्ची क्रान्ति की मौलिक आवश्यकता है। इसी के कारण वह सैनिक सत्तापलट से सर्वथा भिन्न क्रान्ति कहलाती है। क्रान्ति के जो नेता जनता से संवाद नहीं करते, उनमें शासक भाव बना रहता है। वे इसी अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं होते। अपनी भूमिका के बारे में उनकी धारणा गलत होती है। विशिष्टता और भिन्नता की भावना से ग्रस्त ऐसे लोग क्रान्तिकारी नहीं होते हैं। वे भले ही सत्ता में आ जाएं, किन्तु ऐसी संवादहीन प्रक्रिया से आई क्रान्ति की गुणवत्ता सदैव संदिग्ध रहती है।"

दुर्भाग्य से सभी हिंसक क्रान्तियों के नेताओं की निरपवाद रूप से ऐसी ही प्रवृत्ति रही है। इसी कारण हर सफल क्रान्ति के बाद, उसके नेताओं का तानाशाही शासन आया, क्योंकि वे नेता बाद में क्रान्तिकारी नहीं रहे थे। अहिंसक क्रान्ति के नेताओं को संवाद की इस प्रक्रिया पर अधिक जोर देना चाहिए, यही उनकी शक्ति का सबसे बड़ा आधार है। संवाद ही उनके विभिन्न कार्यक्रमों का उद्देश्य होता है। गांधीजी का नमक सत्याग्रह के समय का दांडी मार्च इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। निरन्तर व्यक्तिगत निकटता के कारण क्रान्तिकारी को लोगों और उनकी समस्याओं की प्रत्यक्ष जानकारी होती है और यथासमय वह जनता से एकरूप हो जाता है।

दोनों प्रकार की क्रान्तियों की सफलता के लिए अन्तिम अवश्यंभावी विजय में दृढ़ विश्वास आवश्यक है। चे-ग्वेबरा कहते हैं : "जिसे यह असंदिग्ध अनुभूति नहीं होती कि जनता के विरुद्ध

शत्रु की विजय असंभव है, वह छापामार योद्धा नहीं हो सकता।" ऐसी अनुभूति के बिना कोई अहिंसक क्रान्तिकारी भी नहीं बन सकता।

सभी क्रान्तिकारी संघर्षों में एक महत्वपूर्ण तत्व है— समय। अन्ततोगत्वा किसी शासन का पतन उसके अन्तर्निहित विरोधों के परिपक्व होने पर ही होता है। सत्याग्रह या छापामार लड़ाई उसके परिपक्व होने की गति बढ़ाते हैं, किन्तु प्रक्रिया पूर्ण होने में लम्बा समय लगता है।

पक्षान्तर्गत स्पर्धा, मतभेद, करदाताओं और राजकोष पर बढ़ता बोझ, कीमतों का बढ़ना, उत्पादन वृद्धि की गति का गिरना, बेरोजगारी मे भयावह वृद्धि, भुगतान संतुलन की विनाशकारी स्थिति, कानून और व्यवस्था प्रवर्तक लोगों में असंतोष, प्रशासकीय रुकावटें, घोर उपेक्षा, जनता में अशान्ति और विरोध, सेना की तटस्थता और अन्तर्विरोध, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में शासन की प्रतिष्ठा और साख का पतन आदि बातें अपने समय से ही परिपक्व होती हैं।

राजनीतिक और आर्थिक अन्तर्विरोधों को, ऐसी सरकार तो प्रदीर्घ काल तक संभाल सकती है जिसके पास समर्पित ध्येयनिष्ठ अनुयायी हों, किन्तु जिसके पास ऐसे अनुयायी न हों, ऐसी सरकार इन अन्तर्विरोधों को नौकरशाही के सहारे अधिक समय तक नहीं संभाल सकती। हर स्थिति में समय-तत्व अनिवार्य है। यशस्वी क्रान्ति के एक नेता ने कहा है : "समय तो लगता ही है। केवल राजनीतिक गतिविधियों के लिए ही नहीं, किन्तु संघर्ष के बीच से शत्रु की अन्तर्निहित कमियों को बढ़ने देने के लिए भी।" एक अन्य क्रान्तिकारी के बारे में कहा गया है: "उनका धैर्य असीम था। वे दूसरों के धैर्य खोकर निष्क्रिय होने और असफल हो जाने तक प्रतीक्षा कर सकते थे।"

अहिंसक और हिंसक दोनों प्रकार की क्रान्तियों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क एवं प्रचार प्रमुख तत्व होते हैं, किन्तु अहिंसक क्रान्ति में यह केवल प्रचार तक ही सीमित रहता है।

भारत की आजादी की लड़ाई में कांग्रेस इस दिशा में निरन्तर प्रयासरत रही। इस काम के लिए एक विशेष उपसमिति गठित की गई थी। दूसरी आजादी की लड़ाई, अर्थात् श्रीमती इंदिरा गांधी के आपात के विरुद्ध इसका पर्याप्त ध्यान रखा गया था।

१८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध के विख्यात नानासाहब पेशवा भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का महत्व मानते थे। फ्रांस के नेपोलियन तृतीय को नाना साहब के द्वारा लिखे पत्र और ब्रिटेन और अन्य देशों को अजीमुल्ला खान को अपने दूत के रूप में भेजने की उनकी योजना से स्पष्ट हो जाता है कि यह पहलू भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था।

अन्य देशों के दूतावासों और पत्रकारों से क्रान्तिकारियों के सम्बन्धों के कारण स्थापित शासन सामान्यतः घबराता है। क्रान्तिकारी गतिविधियों के आन्तरिक एवं विदेशों में प्रचार से सरकार हमेशा डरती है।

प्रत्येक सरकार अपने समर्थकों को यह विश्वास दिलाने के लिए कि समझौतों का पालन किया जाएगा, संधियां मान्य होंगी, कर्ज ब्याज सहित वापस किए जाएंगे, और नियोजित पूंजी

पर लाभ मिलता रहेगा, स्थायित्व का मुखौटा पहने रहना पड़ता है। दोनों — हिंसक तथा अहिंसक— संघर्षों में एक चाल यह भी रहती है कि सरकार की स्थायित्व की प्रतिष्ठा को भग्न किया जाए ताकि उसे विदेशी कर्ज न मिल सके, आय के स्रोत सूख जाएं, भयभीत धनी लोगों तथा नौकरशाही में अन्तर्विरोध पैदा हो।

साम्राज्यवादी देश का संविधान यदि प्रजातांत्रिक है तो साम्राज्यवादी देश की जनता के एक बड़े वर्ग को अपनी ओर आकर्षित करके उसका दबाव साम्राज्यवादी सरकार पर डाल पाना क्रान्तिकारियों के लिए सम्भव हो जाता है।

विदेशों में प्रचार के लिए दोनों प्रकार के हिंसक तथा अहिंसक कार्यकर्ता जनसूचना की विभिन्न सेवाओं को प्रभावित करके उनका उपयोग करते हैं। कई बार उनकी चेष्टाएं अन्य प्रकार की होती है। पदच्युत राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक की एन. आई. एफ. द्वारा प्राग के कम्बोडियन दूतावास पर कब्जा, सितम्बर, १९७० में हेग के इंडोनेशियाई दूतावास पर अम्बोनीस शरणार्थियों द्वारा कब्जा, वाशिंगटन में पुर्तगाली दूतावास के तथा रोडेशियाई सूचना कार्यालयों के बाहर बम विस्फोट, फिलिस्तीनियों द्वारा म्यूनिख ओलम्पिक में इजराइली खिलाड़ियों पर छापामार हमला करके १७ व्यक्तियों को मार डालना, १९७० के राष्ट्रीय दिन पर सिंगापुर में बम विस्फोट, कुछ दिनों पूर्व के कई हवाई अपहरण तथा वैसी ही कई अन्य चेष्टाओं का उद्देश्य सम्बन्धित समस्याओं पर दुनिया का ध्यान आकर्षित करना ही था।

सफल अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार का सजग उदाहरण नामीबिया के "स्वापो"— साउथ वेस्ट अफ्रीकन पीपुल्स आर्गनाइज़ेशन, ने प्रस्तुत किया है। उन्हें अब राष्ट्रमण्डल और विश्व न्यायालय का नैतिक समर्थन मिल रहा है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में बौद्धों का आत्मदाह स्पष्टतः अधिक प्रभावी रहा है। लुमुम्बा, केनेडी या मार्टिन लूथर किंग जैसी कोई शहादत निश्चित ही अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति अर्जित करती है, क्योंकि करुणा की भावना का प्रभाव आतंक से अधिक सशक्त और गहरा होता है। अलेंदे के अन्तर्राष्ट्रीय निन्दकों को भी उसके हत्यारों से कोई सहानुभूति नहीं थी।

हर हिंसक क्रान्ति के पूर्व की घोषणाएं और क्रान्ति के बाद के उनके क्रियान्वयन में हमेशा गहरी खाई रही है। उदाहरणस्वरूप क्या किसी क्रान्ति ने आज तक किसानों को दिए गए आश्वासन पूरे किए? किस क्रान्ति ने मजदूरों को उनके कारखाने का मालिक बनाया?

वर्गनिअंद ने कहा है कि, "क्रान्ति अपने ही बच्चों को खा जाती है" तीन सोवियत विद्वानों, शिक्षाविद् आन्द्रे सखारोव, इतिहासकार मेडवडेव, डाक्टर वेलेन्टिन तोरचिने द्वारा सोवियत नौकरशाही के नेताओं को लिखे गए पत्र में लगाए गए आरोप क्रान्ति के बाद आई तानाशाही के चरित्र को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं।

रोनाल्ड सैगल लिखते हैं : "सोवियत शासन के साम्राज्यवादी चारित्रिक पहलू के अलावा भी साम्यवादियों का अपना देश घोषित किए गए इस देश में ऐसा बहुत कुछ है जो क्रान्तिकारी

निष्ठाओं को उघाड़ सकता है। १९१७ की क्रान्ति के अभ्युदय के इतने अन्तराल के बाद भी समाजवाद के मूल आधार स्वातंत्र्य, समता और बंधुभाव साम्यवादी देश में ही उपहास और अवहेलना के विषय बन गए हैं। इन आधारों को सबल करने के प्रयासों को राज्य विरोधी करार देकर दण्डित किया गया। आर्थिक विषमता तो सभी और स्पष्ट दिखाई पड़ती है।"

"दि न्यू क्लास" अर्थात् "नया वर्ग" साम्यवादी क्रान्तियों के परिणामों का विशद वर्णन करती है।" न्यू क्लास की प्रस्तुति में लेखक जिलास कहते हैं : "साम्यवादी क्रान्ति के बाद समाज में भी वे समस्त भेद और अन्तर्विरोध मौजूद हैं जो अन्य समाजों में होते हैं। साम्यवादी समाज केवल समता और बंधुभाव के संवर्धन में ही असफल नहीं हुआ है, पार्टी की साम्यवादी नौकरशाही के कारण समाज में सुविधाभोगी लोगों की एक परत् निर्माण होती है जिसे मार्क्स दर्शन के अनुसार ही मैं "न्यू क्लास" — नया-वर्ग कहता हूं।

अपनी किताब "इम्परफेक्ट सोसायटी" (अपूर्ण समाज) में जिलास आगे कहते हैं : "साम्यवाद के जिस लोकप्रिय आन्दोलन ने एक समय वैज्ञानिकता के नाम पर दुनिया के मेहनतकश और दलित लोगों को पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य उतारने की प्रेरणा दी और उस अनादि चिरंतन स्वप्न को धरती पर उतारने के लिए लाखों लोगों ने अपनी जान की बाजी लगाई और लगा रहे हैं, वह राजनीतिक नौकरशाही में परिणत हो गया है। साम्यवादी राज्य ही आपस में प्रभाव, प्रतिष्ठा, आमदनी के स्रोत, बाजार आदि अर्थात् उन्हीं सब बातों के लिए लड़ रहे हैं जिनके लिए राजनेता और सरकारें हमेशा लड़ती रही हैं और लड़ती रहेंगी। उनकी अपनी धारणाओं और सामाजिक परिस्थितियों के कारण कम्युनिस्ट पहले विरोधियों से सत्ता हथियाने के लिए और फिर आपसी छीना-झपटी के लिए बाध्य हुए। इतिहास के सभी क्रान्तिकारी आन्दोलनों का यही हश्र हुआ है।"

असाम्यवादी क्रान्तियों से बनी तानाशाहियों का अनुभव भी बहुत भिन्न नहीं है। "लम्बे छुरों की रात" जिसके दौरान कप्तान रोथम और उसके सहकारी अधिकारियों का उनके साथियों द्वारा ही क्रूरता से सफाया किया गया, कोई विशिष्ट जर्मन घटना नहीं थी। वह घटना सत्ताधारी पक्ष के अन्तर के भी सभी विरोधी स्वरों को शांत कर देने के लिए दृढ़ संकल्प तानाशाही शासनों की प्रवृत्ति की परिचायक थी। पार्टी के बाहर के विरोधियों का सफाया कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। साइबेरिया के हड़तालियों, हंगेरी, पूर्वी जर्मन और चेकोस्लोवाकिया के लोगों का दमन करने वाले रूसी सैनिक भी उतने ही क्रान्तिकारी थे जितने स्पेनी छापामारों के विरुद्ध खड़े नेपोलियन के सैनिक या स्वदेश में विरोधियों का और विदेशों में स्वातंत्र्यवादियों का सफाया करने वाले नाजी सैनिक।

१४ जुलाई, १७८९ को पहली बार लिंआकोर ने आधुनिक अर्थ में क्रान्ति (रेवोल्यूशन) शब्द का प्रयोग किया था। तब से आज तक हर हिंसक क्रान्ति की यही अनिवार्य परिणति रही है। ऐसी बात नहीं कि इसका कारण क्रान्तिकारी नेताओं की सनक, चंचलता या वैचारिक अशुद्धता हो, यह तो हिंसक क्रान्तियों की कार्यपद्धति का एक अंगभूत घटक है।

हन्नाह आरेन्ट "ऑन रेवोल्यूशन" में कहता है : " क्रान्ति की महत्वपूर्ण घटना का नई व्यवस्था की स्थापना से सम्बन्ध है। क्रान्ति की प्रेरणा में दो तत्व होते हैं। हमें लगता है, जो समन्वयहीन ही नहीं, बल्कि परस्पर विरोधी भी होते हैं। नया राजनीतिक ढांचा और नए प्रशासन की रूपरेखा बनाने का गहरा सम्बन्ध जहां नए ढांचे की मजबूती और स्थायित्व से होता है, वहीं उस काम में लगे लोग भी कुछ नया करने की मानवीय आनन्दानुभूति और नए सृजन के उत्साह से अभिभूत होते हैं। ये दो तत्व— स्थायित्व की चिन्ता और नया करने का उत्साह— राजनीतिक विचारों और शब्दावली में एक-दूसरे के विरोधी। एक माना जाता है पुराणपंथी यथास्थितिवाद, और दूसरा प्रगतिवाद, जिस पर प्रगतिवादी अपना एकाधिकार मानते हैं। इसी विरोध को हानिकर लक्षण माना जाना चाहिए।"

"क्रान्ति के पश्चात की विचारधारा क्रान्ति के भाव को भूल जाती है, वह क्रान्ति की संकल्पना की अवधारणा नहीं कर सकती, इसका कारण यह है कि क्रान्ति मूलतः स्थायी संस्था का सृजन नहीं करती।"

"यदि परिणति भयाक्रांतता में नहीं हुई हो तो क्रान्ति प्रजातंत्र की स्थापना की घोषणा के साथ ही समाप्त हो जाती है... किन्तु इस प्रजातंत्र में उन मूल्यों को कोई स्थान नहीं होगा, जिनके आधार पर वह क्रान्ति रची गई... यदि नई व्यवस्था की स्थापना क्रान्ति का उद्देश्य और पूर्णता हो तो समझना चाहिए कि क्रान्ति की प्रेरणा बाद में कुछ नया प्रारम्भ करने की ही नहीं, अपितु नई स्थायी परम्पराएं, संस्थाएं स्थापन करके उत्तरोत्तर नई ऊंचाइयों पर पहुंचाना है। क्रान्ति की उपलब्धियों को सर्वाधिक हानिकर उनकी आधारभूत भावनाएं ही हो सकती हैं। स्वतंत्रता का सबसे ऊंचा अर्थ है कर्मस्वातंत्र्य। क्या क्रान्त्युत्तर निर्माण के लिए इस कर्मस्वातंत्र्य की बलि चढ़ानी पड़ेगी?"

कंडोरसेट ने कहा है "क्रान्तिकारी उन्हीं क्रान्तियों को कहना चाहिए जिनका उद्देश्य स्वतंत्रता हो," जहां हिंसा द्वारा भी सम्पूर्णतया अलग चरित्र की सरकार बनाकर नई शुरुआत की गई हो, नई राजनीतिक धारणाएं स्थापित हुई हों, जिनका उद्देश्य दमन से मुक्ति और स्वतंत्रता हो, वही क्रान्ति कहला सकती है। इन कसौटियों को देखने पर लगता है कि अभी तक हुई हिंसक क्रान्तियां पूर्ण रूप से "क्रान्तिकारी" नहीं थीं।

अहिंसावादी क्रान्तिकारियों की कार्य पद्धति पूर्णतया भिन्न होती है। उनका प्रमुख शस्त्र आतंक नहीं, आत्मबल होता है। उनकी निष्ठा शुचिता में होती है। वे इस बात को नहीं मानते कि यदि ध्येय अच्छा हो तो कोई भी साधन अपनाया जा सकता है। अपनी अन्तिम अनिवार्य विजय का उन्हें दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि उनकी धारणा में सत्य की (ईश्वर की) विजय होती ही है। वे मानते हैं कि जो पराजित होना अस्वीकार कर देते हैं वे कभी पराजित नहीं हो सकते। सत्य के संघर्ष में कोई असफलता नहीं होती, आंशिक असफलताएं हो सकती हैं। उनका दृढ़ विश्वास होता है कि किसी व्यक्ति पर उसकी स्वैच्छिक सहमति के बिना लम्बे समय तक शासन नहीं किया जा सकता। वे व्यक्ति का हिंसा द्वारा उसका शारीरिक विनाश नहीं, प्रायश्चित द्वारा शनैः शनैः शुद्धिकरण चाहते हैं। अहिंसक क्रान्ति के पूर्व अनिवार्यतः क्रान्तिकारी जनजागरण

होता है, जिसे श्री अरविन्द "पैसिव रेसिस्टेंस" (सहन प्रतिरोध) कहते हैं। लोकमान्य तिलक की चतुःसूत्री और महात्मा गांधी के सत्याग्रह, आदि में संघर्ष के साथ जनजागरण भी अभिप्रेत था। उनका आधार था जनसंघर्ष के द्वारा जनजागरण और जनजागरण के द्वारा जनसंघर्ष।

इस पृष्ठभूमि के कारण हर गतिविधि, चाहे छोटी हो या बड़ी, अहिंसक कार्यकर्ताओं की अहेतुक चेष्टाएं भी महत्वपूर्ण बन जाती हैं। प्रतिनिधि मण्डल द्वारा साक्षात्कार, बिल्ले लगाना, प्रतिरोधी प्रस्ताव, आवेदन, हड़तालें, पोस्टर लगाना, साहित्य और पत्रकों का वितरण, शहीदों की अंत्यक्रियाओं पर बड़ी संख्या में लोगों को एकत्र करना, हुतात्माओं के बलिदानों की वर्षगांठ मनाना, प्रदर्शन, अधिकारियों के अत्याचारों का प्रचार, जनशिक्षा के लिए बैठकें, सरकारी समारोहों और विधानसभाओं का बहिष्कार, आम हड़ताल, बन्द, आमरण अनशन, सत्याग्रह, कर न देने के आन्दोलन, सम्पूर्ण असहयोग, नागरिक अवज्ञा, जनता की सरकार बनाना, स्थानिक या कुछ वर्गों के लोगों की समस्याओं के लिए शांतिपूर्ण आन्दोलन.आदि बातें जितना संघर्ष का भाग है उतना ही क्रान्ति के लिए जनशिक्षा का भी।

थोरो ने अपनी किताब "सिविल डिसोबेडिएंस" (नागरिक अवज्ञा) में इसका विशद विवेचन किया है। क्यों उन्होंने गुलामी के विरुद्ध संघर्ष में सरकार को कर देने के बजाय जेल जाना पसंद किया, तब उन्हें कल्पना भी नहीं थी कि प्रह्लाद के इस देश का राजनीतिक परिदृश्य उनके तत्वज्ञान से इतना प्रभावित होगा। क्या यह केवल संयोग है कि व्यक्तिगत प्रतिरोध का उनका सिद्धान्त इस सुदूर देश में जन-आन्दोलन के तंत्र के रूप में विकसित हुआ नहीं? हमारी आध्यात्मिक परम्परा इस विचार और कृति के अनुकूल थी। इसी कारण श्री अरविन्द ने कहा है कि "अन्यायी और दमनकारी कानून की अवज्ञा केवल उचित ही नहीं, विशिष्ट परिस्थितियों में कर्तव्य रूप होती है।

लोकमान्य तिलक ने कहा था कि वे देश को दण्ड संहिता से बाहर ले जाना चाहते हैं। गांधी जी ने सत्याग्रह तंत्र का प्रारम्भ करके उसे पूर्ण विकसित किया, जो एक दुर्बल का निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं, तो एक सशक्त की अहिंसक अवज्ञा थी। १५ सितम्बर , १९७८ का इलस्ट्रेटेड वीकली के छपे लेख में आचार्य कृपालानी ने विस्तार से स्पष्ट किया कि प्रह्लाद, मीराबाई, सुकरात, ईसा मसीह, समाज सुधारकों, वैज्ञानिकों और अन्यों ने कैसे सत्याग्रह तंत्र का प्रयोग किया और कैसे उस तंत्र का परिवार, ग्राम, प्रांत, राज्य में प्रयोग किया जा सकता है, और क्यों उसे समाज विरोधी नहीं समझा जाना चाहिए।

राज्य और कानूनों की समाज के लिए आवश्यकता और उपयुक्तता को स्वीकार करते हुए भी वह (सत्याग्रह) व्यक्ति को मानव के नाते स्वतंत्रता के उपभोग की छूट देता है। बेड़ियों में जकड़ा सत्याग्रही भी स्वतंत्र मनुष्य है। अपनी आत्मा को वह अपनी कह सकता है। वह विरोधियों से भयाक्रांत नहीं होता। शत्रु तो उसका कोई होता ही नहीं। वह विरोधियों से नहीं, विरोधी उससे भयभीत रहते हैं। वह तो अकेला ही खड़ा रह सकता है, किन्तु हिंसक प्रतिरोधी को अपना सहकारी या अनुयायी जुटाना पड़ता है।

गांधी जी के सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए भी स्वतंत्र रूप से श्री जिलास इस निष्कर्ष पर पहुंचे : "समसामयिक अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रोक्त आधार पर गठित षड्यंत्रकारी सेना के जैसे अनुशासित तत्वज्ञान के आधार पर गठित संगठनों की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। गृहयुद्ध की तो कदापि आवश्यकता नहीं है। संघर्ष के अन्य उपाय प्रदर्शन, हड़तालें, विरोधी मोर्चे, विरोधी प्रस्ताव आदि का अवलम्ब करना चाहिए, विशेषतः साहसी आलोचना और नैतिक दृढ़ता अधिक महत्वपूर्ण है। पूरे इतिहास से यही सिद्ध होता है।"

हिंसा द्वारा शासन के हर एक नेता और दलाल को गोलियों से उड़ाना तो संभव है, किन्तु हिंसा द्वारा ऐसा शासन स्थापित करना संभव नहीं, जिसे सभी लोग अपना सकें। सशस्त्र क्रान्ति के बाद जनता शासन की मालिक नहीं हो सकती। यदि क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया में उनका प्रभुत्व नहीं रहा हो, और यह भी कि यदि उनकी मानसिक तैयारी केवल तोड़-फोड़ करने की हो तो वे पुनर्रचना के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते। अहिंसक क्रान्ति की कार्यपद्धति ऐसी है कि वह जनता को क्रान्ति के दोनों प्रकारों के कार्यों के लिए प्रशिक्षित करती है। आत्मशक्ति का विकास, क्रान्ति में सहभाग और विभिन्न स्थितियों में नेतृत्व के लिए भी वह लोगों को तैयार करती है। वही जनता की, जनता के लिए, और जनता के द्वारा अर्थात् वास्तविक क्रान्ति होती है। ऐसी क्रान्तियों के नेताओं के लिए संगठन का मतलब होता है उनका अपनी जनता के साथ संगठन। वहां प्रक्रिया संवाद की होती है, सम्प्रेषण की नहीं। वे लोगों के मालिक नेता नहीं, लोगों के साथ क्रान्ति के कर्ता होते हैं। फलतः अन्तिम विजय केवल नेताओं की नहीं, नेता और जनता दोनों की, या नेताओं सहित जनता की होती है।

यह रास्ता लम्बा लगता है और है भी। किन्तु श्री मानवेन्द्र नाथ राय ने जनशिक्षा और जागरण के बारे में कहा है कि "रास्ता भले ही लम्बा हो, लेकिन यदि वही एक मात्र रास्ता है, तो वही सबसे छोटा है।"

अभिप्राय रेखा

प्रकाशक महोदय का जब यह आदेश हुआ कि मैं इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखूं तो उस समय मेरे मन में स्वाभाविक रूप से जो भावना निर्माण हुई उसे प्रगट करना ही समीचीन होगा।

प्रस्तावना लिखने के संदर्भ में मुझे एक प्रथितयश लेखक और विस्कान्सिन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री ब्रूस वेस्टले का एक अभिप्राय स्मरण में आ रहा है। श्री वेस्टले लिखते हैं : " The writer does not exist whose work cannot be improved by the constructive vigilance of an editor" अर्थात् ऐसा कोई लेखक नहीं है जिसकी कृति को सम्पादक की रचनात्मक सावधानी द्वारा उत्कृष्ट नहीं बनाया जा सकता।"

अभिप्राय का अर्थ स्वतः स्पष्ट है।

इत्यलम्

द.बा. ठेंगड़ी